ज्ञानयोग

स्वामी विवेकानन्द

(द्वितीय संस्करण)

श्रीरामकृष्ण आश्रम,
नागपुर, मध्यप्रदेश

[मूल्य तीन ।

अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण आश्रम,
धन्तोली, नागपुर-१, म. प्र.

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प ४१ वाँ

मुद्रक—
श्री.

वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक का यह द्वितीय संस्करण है। स्वामी विवेकानन्द द्वारा वेदान्त पर दिए गए भाषणों का संग्रह "ज्ञानयोग" है। इन व्याख्यानों में स्वामीजी ने वेदान्त के गूढ़ तत्त्वों की ऐसे सरल, स्पष्ट और सुन्दर रूप से विवेचना की है कि आजकल के शिक्षित जनसमुदाय को ये खूब जँच जाते हैं। उन्होंने यह दर्शाया है कि वैयक्तिक तथा सामुदायिक जीवन-गठन में वेदान्त किस प्रकार सहायक होता है। मनुष्य के विचारों का उच्चतम स्तर वेदान्त है और इसी की ओर संसार की समस्त विचार-धाराएँ शनैः-शनैः प्रवाहित हो रही हैं। अन्त में वे सब वेदान्त में ही लीन होंगी। स्वामीजी ने यह भी दर्शाया है कि मनुष्य के दैवी स्वरूप पर वेदान्त कितना जोर देता है और किस प्रकार इसी में समस्त विश्व की आशा, कल्याण एवं शान्ति निहित है। हमें पूर्ण विश्वास है कि वेदान्त तथा भारतीय संस्कृति के प्रेमियों को इस पुस्तक से विशेष लाभ होगा।

इस पुस्तक के अधिकांश भाग का अनुवाद बनारस के श्री ब्रह्मेन्द्र शर्मा, एम. ए., शास्त्री, ने किया है और कुछ अंश का श्री अमल सरकार, एम. ए., कोविद, कलकत्ता ने। इन दोनों मित्रों की इस सहायता के लिए हम उनके बड़े कृतज्ञ हैं।

प्रकाशक

अनुक्रमणिका

संन्यासी का गीत

(१)

छेड़ो संन्यासी, छेड़ो, छेड़ो वह तान मनोहर,
गाओ वह गान, जगा जो अत्युच्च हिमाद्रि-शिखर पर —
गम्भीर अरण्य जहाँ हैं, पार्वत्य प्रदेश जहाँ हैं,
भव-शाप-ताप ज्वालामय करते न प्रवेश जहाँ हैं—
जो संगीत-ध्वनि-लहरी अतिशय प्रशान्त लहराती
जो भेद जगत् कोलाहल नभ-अवनी में छा जाती,
धन-लोभ, यशोलिप्सा या दुर्दान्त काम की माया
सब विधि असमर्थ हुई है छूने में जिसकी छाया,
सत्-चित्-आनन्द-त्रिवेणी करती है जिसको पावन,
उसमें करके अवगाहन होते कृतकृत्य सुधीजन—
छेड़ो, छेड़ो, हाँ छेड़ो वह गान दिव्य लोकोत्तर,
गाओ, गाओ संन्यासी, गाओ वह गायन सुन्दर—

ॐ तत् सत् ॐ

(२)

तोड़ो जंजीरें जिनसे जकड़े हैं पैर तुम्हारे—
सोने की है तो क्या बन्धन में तुमको हारे ?
अनुराग-घृणा-आकर्षण, उत्तम या अधम विवेचन,
सब द्वन्द्व भाव को त्यागो, हैं त्याज्य उभय आलम्बन।
आदर दुलार पाए या कोड़ों की मारें खाए,
वह सदा गुलाम रहेगा, [illegible] का निश्चय जानो,
आनन्द जिसे कहते हैं — वह [illegible] नहीं है [illegible],
स्वाधीन [illegible] जीवन का — [illegible]।

त्यागो संन्यासी, त्यागो तुम द्वन्द्व भाव को सत्वर,
तोड़ो शृंखल को तोड़ो, गाओ यह गान निरन्तर—
ॐ तत् सत् ॐ

(३)

घन अन्धकार हट जाए, मिट जाए घोर महातम,
जो मृगमरीचिका जैसा करता रहता बुद्धि-भ्रम;
मोहक भ्रामक आकर्षण अपनी है चमक दिखाता,
तम से घनतर तम में वह जीवात्मा को ले जाता।
जीवन की यह मृग-तृष्णा बढ़ती अनवरत निरन्तर,
मेटो तुम इसे सदा को पीयूष ज्ञान का पीकर।
यह तम अपनी डोरी में जीवात्मा-पशु को कसकर
खींचा करता बलपूर्वक दो जन्म-मरण-छोरों पर।
जिसने अपने को जीता, उसने जय पाई सब पर—
यह सत्य जान फन्दे में पड़ना मत बुद्धि गवाँकर।
बोलो संन्यासी, बोलो है वीर्यवान बलशाली,
सानन्द गीत यह गाओ, छेड़ो यह तान निराली—
ॐ तत् सत् ॐ

(४)

"अपने-अपने कर्मों का फल भोग जगत् में निश्चित"
कहते हैं सब, "कारण पर है सभी कार्य अवलम्बित;
फल अशुभ अशुभ कर्मों के, शुभ कर्मों के हैं शुभ फल,
किसकी सामर्थ्य बदल दे, यह नियम अटल औ' अविचल ?

'तत् त्वमसि'—वही तो तुम हो, समझो हे संन्यासीवर,
उच्चस्वर से यह गाओ, यह तान अलापो सुन्दर—
ॐ तत् सत् ॐ

(७)

हे बन्धु, मुक्ति पाने को तुम फिरते कहाँ भटकते ?
इस जग या लोकान्तर में तुम मुक्ति नहीं पा सकते;
अन्वेषण व्यर्थ तुम्हारा शास्त्रों, मन्दिर मन्दर में;
जो तुमको खींचा करती वह रज्जु तुम्हारे कर में।
दुख शोक त्याग दो सारा, तुम वीतशोक बस हो लो,
वह रज्जु हाथ से छोड़ो, बोलो संन्यासी, बोलो—
ॐ तत् सत् ॐ

(८)

दो अभय-दान सबको तुम—'हों सभी शान्तिमय सुखमय,
है प्राणिमात्र को मुझसे कुछ भी न कहीं कोई भय,
पृथ्वी पाताल गगन में मैं ही आत्मा चिर-संस्थित,
आशा भय स्वर्ग नरक को मैंने तज दिया अशंकित।'
काटो काटो काटो तुम इस विधि माया के बन्धन,
निःशंक प्राणपण से तुम गाओ, गाओ यह गायन,—
ॐ तत् सत् ॐ

(९)

चिन्ता मत करो तनिक भी नश्वर शरीर की गति पर,
यह देह रहे या जाए, छोड़ो तुम इसे नियति पर;
प्रारब्ध शेष है इसका, तब आना है सो आए;
. . . कर्म फिर इसको अब चाहे जहाँ बहाए;

कोई आदर से इसको मालाएँ पहनाएगा,
कोई निज घृणा जताकर पैरों से ठुकराएगा;
तुम चित्त-शान्ति मत तजना, आनन्द-निरत नित रहना;
यश यहाँ, यहाँ अपयश है—इस धारा में मत बहना।
जब निन्दक और प्रशंसक, जब निन्दित और प्रशंसित,
एकात्म एक ही है सब, तब कौन प्रशंसित निन्दित?
यह ऐक्य-ज्ञान हृदयंगम करके हे संन्यासीवर,
निर्भय आनन्दित उर से गाओ यह गान मनोहर—

ॐ तत् सत् ॐ

(१०)

करते निवास जिस उर में मद काम लोभ औ' मत्सर,
उसमें न कभी हो सकता आलोकित सत्य-प्रभाकर;
भार्यत्व कामिनी में जो देखा करता कामुक बन,
वह पूर्ण नहीं हो सकता, उसका न छूटता बन्धन;
लोलुपता है जिस नर की स्वल्पातिस्वल्प भी धन में,
वह मुक्त नहीं हो सकता, रहता अपार बन्धन में;
जंजीर क्रोध की जिसको रखती है सदा जकड़कर,
वह पार नहीं कर सकता दुस्तर माया का सागर।
इन सभी वासनाओं का अतएव त्याग तुम कर दो,
सानन्द वायुमण्डल को बस एक गूँज से भर दो—

ॐ तत् सत् ॐ

(११)

सुख हेतु न गेह बनाओ, किस घर में अमा सकोगे?
तुम हो महान्, फिर कैसे पिंजड़े के विहग बनोगे?

आकाश अनन्त चँदोवा, नग्ना धरती तृण-शोभित,
रहने के लिए तुम्हारे यह विश्वगेह है निर्मित;
जैसा भोजन मिल जाए, सन्तोष उसी पर करना;
सुस्वादु स्वाद-विरहित में कुछ भी मत भेद समझना;
शुद्धात्मरूप का जिसमें सद् ज्ञानालोक चमकता,
कुछ खाद्य पेय क्या उसको अपवित्र कहीं कर सकता ?
उन्मुक्त स्वतंत्र प्रवाहित तुम नदी तुल्य बन जाओ,
छेड़ो यह तान अनूठी, सानन्द गीत यह गाओ—

ॐ तत् सत् ॐ

(१२)

ज्ञानी विरले, अज्ञानी कर घृणा हँसेंगे तुम पर;
हे हे महान्, तुम उनको मत लखना आँख उठाकर।
स्वाधीन मुक्त तुम, जाओ, पर्यटन करो पृथ्वी पर,
अज्ञान-गर्त-पतितों का उद्धार करो तुम सत्वर;
माया-आवरण-तिमिर में जो पड़े वेदना सहते,
तुम उन्हें उबारो जाकर, जो मोह-नदी में बहते।
विचरो जन-हित-साधन को स्वच्छन्द मुक्त तुम अविजित
दुख की पीड़ा से निर्भय, सुख-अन्वेषण से विरहित;
सुख दुख के द्वन्द्व-स्थल के तुम परे महात्मन्, जाओ;
गाओ गाओ संन्यासी, उच्चस्वर से तुम गाओ—

ॐ तत् सत् ॐ

(१३)

इस विधि से छीज दिनोंदिन, है कर्म स्वीय बल खोता;
बन्धन छुटता आत्मा का, फिर उसका जन्म न होता;

फिर कहाँ रह गया—मैं तू, मेरा तेरा, नर ईश्वर ?
मैं हूँ सबमें, मुझमें सब आनन्द परम लोकोत्तर।
आनन्द परम वह हो तुम, आनन्द सहित अब गाओ,
हे बन्धुवर्य संन्यासी, यह तान पुनीत उठाओ—

ॐ तत् सत् ॐ

ज्ञानयोग

माया

(लन्दन में दिया हुआ भाषण)

माया शब्द प्रायः आप सभी ने सुना होगा । इसका व्य-
हार साधारणतः कल्पना, कुहक अथवा इसी प्रकार के अर्थ
किया जाता है, किन्तु यह इसका वास्तविक अर्थ नहीं है
मायावाद उन स्तम्भों में से एक है, जिन पर वेदान्त की स्थाप-
हुई है, अतः उसका ठीक-ठीक अर्थ समझ लेना आवश्यक है
में आप लोगों से तनिक धैर्यपूर्वक सुनने की प्रार्थना करता हू
क्योंकि मुझे भय है कि कहीं आप माया के सिद्धान्त को गलत
न समझ बैठें ।

वैदिक साहित्य में 'माया' शब्द का प्रयोग कुहक के अर्थ
में ही देखा जाता है । यही माया शब्द का सबसे प्राचीन अर्थ
है । किन्तु उस समय असल मायावाद-तत्त्व का उदय नहीं
हुआ था । हम वेद में इस प्रकार के वाक्य पाते हैं—"इन्द्रो
मायाभिः पुरुरूप ईयते", अर्थात् इन्द्र ने माया द्वारा नाना रूप
धारण किए । यहाँ पर 'माया' शब्द इन्द्रजाल अथवा उसी प्रकार
के अर्थ में व्यवहृत हुआ है । वेद के अनेक स्थलों में माया शब्द
इसी अर्थ में व्यवहृत देखा जाता है । इसके बाद कुछ समय तक
माया शब्द का व्यवहार एकदम लुप्त हो गया । किन्तु इसी
बीच उस शब्द द्वारा प्रतिपादित जो अर्थ या भाव था, वह
क्रमशः परिपुष्ट हो रहा था । बाद में हम देखते हैं कि एक प्रश्न
उठाया गया है, "हम जगत् के इस रहस्य को क्यों नहीं जान
पाते ?" और उसका जो उत्तर दिया गया है, वह बड़ा ही
भावपूर्ण है :—"हम सब थोथी बकवास करते हैं, इन्द्रिय-सुख

से ही सन्तुष्ट हैं और वासनाओं के पीछे दौड़ते रहते हैं, इसलिए इस सत्य को हमने मानो कुहरे से ढक रखा है"—"नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति!"* यहाँ पर माया शब्द का व्यवहार बिलकुल नहीं हुआ है, पर उससे यही भाव प्रकट होता है कि हमारी अज्ञता का जो कारण निर्धारित हुआ है, वह इस सत्य और हमारे बीच कुहरे के समान वर्तमान है। इसके बहुत समय बाद, अपेक्षाकृत आधुनिक उपनिषदों में, माया शब्द पुनः दीख पड़ता है। पर इस बीच उसका रूप काफी बदल चुका है; उसके साथ कई नए अर्थ संयोजित हो गए हैं; नाना प्रकार के मतवादों का प्रचार हुआ है, उनकी पुनरुक्ति हुई है, और अन्त में माया विषयक धारणा ने एक स्थिर रूप प्राप्त कर लिया है। हम श्वेताश्वतर उपनिषद् में पढ़ते हैं—"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्"—माया को ही प्रकृति समझो और मायी को महेश्वर जानो। भगवान शंकराचार्य से पहले के दार्शनिक पण्डितों ने इस माया शब्द का विभिन्न अर्थों में व्यवहार किया है। मालूम होता है, बौद्धों ने भी माया शब्द या मायावाद को थोड़ा रंजित किया है। किन्तु बौद्धों के हाथों यह बहुत-कुछ विज्ञानवाद (Idealism)† में परिणत हो गया था, और माया शब्द साधारणतः इसी अर्थ में आज व्यवहृत हो रहा है। हिन्दू लोग जब कहते हैं कि "संसार मायामय है", तो साधारण मनुष्य के मन में यही भाव

---

* ऋग्वेद—दशम मण्डल, ८२ सूक्त, सप्तम ऋक्।

† हमारी इन्द्रियों से ग्राह्य सारा जगत् हमारे मन की ही विभिन्न अनुभूति मात्र है, उसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, इस मत को विज्ञानवाद या Idealism कहते हैं।

उदय होता है कि "संसार एक कल्पना मात्र है"। बौद्ध दार्शनिकों की इस प्रकार की व्याख्या का कुछ आधार है; क्योंकि एक श्रेणी के दार्शनिकगण बाह्य जगत् के अस्तित्व में बिलकुल विश्वास नहीं करते थे। किन्तु वेदान्त में वर्णित माया का जो अन्तिम निश्चित स्वरूप है, वह न तो विज्ञानवाद है, न वास्तववाद (Realism) † और न किसी प्रकार का मतवाद ही। वह तो बस घटनाओं का सहज वर्णन मात्र है—हम क्या हैं और अपने चारों ओर हम क्या देखते हैं। मैं आपसे पहले ही कह चुका हूँ कि जिन पुरुषों के अन्तःकरण से वेद निकले, उनकी चिन्तनशक्ति मूल तत्त्व के अनुसरण तथा आविष्कार में ही लगी हुई थी। इन सब तत्त्वों का सविस्तार अनुशीलन करने के लिए मानो उन्हें समय ही नहीं मिला और इसलिए वे रुके भी नहीं। वे तो वस्तु के अन्तरतम प्रदेश में पहुँचने के लिए ही व्यग्र थे। इस जगत् के अतीत की कोई चीज मानो उन्हें खींच रही थी, वे मानो और अधिक ठहर नहीं सक रहे थे। उपनिषदों में यत्र-तत्र हम यह पाते हैं कि आज जिन्हें हम आधुनिक विज्ञान कहते हैं, उन विषयों के विस्तार बहुधा बड़े भ्रमात्मक हैं, पर तो भी साथ ही हम यह भी देखते हैं कि उनके मूल तत्त्व बिलकुल सही हैं—उनके मूल तत्त्वों के साथ विज्ञान के मूल तत्त्वों का कोई भेद नहीं। उदाहरणार्थ, आधुनिक विज्ञान का ईथर (Ether) अर्थात् आकाश विषयक नवीन तत्त्व उपनिषदों में वर्णित है। यह आकाशतत्त्व आधुनिक वैज्ञानिकों के ईथर की अपेक्षा अधिक परिपुष्ट रूप से विद्यमान है। किन्तु वह बस

---

† जगत् हमारे मन की अनुभूति मात्र नहीं है, वरन् उसकी वास्तविक सत्ता है, इस मत को वास्तववाद या Realism कहते हैं।

ुत गन्ध तक ही सीमित रहा। ये लोग इस आकाशतत्त्व के
ार्य की व्याख्या करते समय कई भूलें कर बैठे। यह सर्वव्यापी
ीवनीशक्ति-तत्त्व, जिसकी कि जगत् की सारी जीवनी-शक्ति
अभिव्यक्ति मात्र है, वेदों में— प्राण नाम से कहा जाता है।
ंहिता के एक बड़े अंश में समस्त जीवनी-शक्ति के विकास
ान की प्रशंसा की गई है। शायद आप लोगों में से कुछ को
ह जानकर आनन्द हो कि इस पृथ्वी पर जीवों की उत्पत्ति
ं सम्बन्ध में कुछ आधुनिक यूरोपीय वैज्ञानिकों के जो सिद्धान्त
, बहुत-कुछ वैसे ही सिद्धान्त वैदिक दर्शन में भी पाए जाते
। आप सभी निश्चय ही जानते हैं कि जीव अन्य कहीं से संक्रा-
ंत होकर पृथ्वी पर आता है, इस प्रकार का एक मत प्रचलित
। किन्हीं-किन्हीं वैदिक दार्शनिकों का यह स्थिर मत है कि
व इसी प्रकार चन्द्रलोक से पृथ्वी पर आता है।

मूल तत्त्व के सम्बन्ध में हम देखते हैं कि उन्होंने व्यापक
त्त्वों की व्याख्या करने में अतिशय साहस और आश्चर्यजनक
र्भीकता का परिचय दिया है। इस विश्व-रहस्य के मर्म को
ढ़ निकालने में उन्हें बाह्य जगत् से यथासम्भव उत्तर मिला।
र, इस प्रकार उन्होंने जितने मूल तत्त्वों का आविष्कार किया
, उनसे जब जगत् के रहस्य की ठीक मीमांसा न हो सकी,
, आधुनिक विज्ञान के विस्तारपूर्ण कार्य भी उसकी मीमांसा
कोई अधिक सहायक न हो सकेंगे, यह कहने की आवश्यकता
। जब प्राचीन काल में आकाशतत्त्व विश्व-रहस्य का भेद
लने में समर्थ नहीं हुआ, तब उसका सविस्तार अनुशीलन भी
सत्य की ओर कोई अधिक अग्रसर नहीं करा सकता। यदि
सर्वव्यापी प्राणतत्त्व विश्व-रहस्य का भेद खोलने में असमर्थ

रहा हो, तो उसका विस्तृत अनुशीलन निरर्थक है; क्योंकि वह विश्वतत्त्व के सम्बन्ध में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि तत्त्वानुशीलन में हिन्दू दार्शनिक आधुनिक विद्वानों की भाँति ही, एवं कभी-कभी उनसे भी अधिक, साहसी थे। उन्होंने इस प्रकार के अनेक व्यापक और साधारण नियमों का आविष्कार किया है, जो आज भी बिलकुल नवीन हैं, और उनके ग्रन्थों मे इस प्रकार के अनेक सिद्धान्त विद्यमान हैं, जिन्हें वर्तमान विज्ञान अभी तक सिद्धान्त के रूप में भी प्राप्त नही कर सका। उदाहरणार्थ, वे केवल आकाशतत्त्व पर पहुँचकर ही नहीं रुक गए, वरन् वे और भी आगे बढ़ गए और समष्टि-मन की भी गणना एक सूक्ष्मतर आकाश के रूप में की। फिर उसके भी ऊपर उन्होंने और भी अधिक सूक्ष्म आकाश की प्राप्ति की। पर उससे कुछ भी मीमांसा नहीं हुई, उससे समस्या का समाधान नही हुआ। बाह्य जगत् के बारे में कितना भी ज्ञान क्यों न हो जाय, पर उससे रहस्य का भेद नहीं खुल सकता। किन्तु वैज्ञानिक कहता है, "अरे, हमने अभी ही तो कुछ जानना शुरू किया है। जरा कुछ हजार वर्ष ठहरो, देखोगे, हमें समाधान मिल जायगा।" किन्तु वेदान्तवादी ने तो निःसन्दिग्ध रूप से मन की ससीमता को प्रमाणित कर दिया है, अतएव वह उत्तर देता है, "नही, सीमा से बाहर जाने की हमारी शक्ति नहीं। हम देश, काल और निमित्त की चहार-दीवारी के बाहर नहीं जा सकते।" जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति अपनी सत्ता को नही लाँघ सकता, उसी प्रकार देश और काल के नियम ने जो सीमा खड़ी कर दी है, उसको अतिक्रमण करने की क्षमता किसी में नहीं। देश-काल-निमित्त सम्बन्धी

रहस्य को खोलने का प्रयत्न ही व्यर्थ है, क्योंकि इसकी चेष्टा करते ही इन तीनों की सत्ता स्वीकार करनी होगी। तब भला यह किस प्रकार सम्भव है? और ऐसा होने पर फिर जगत् के अस्तित्ववाद का क्या रूप रहेगा? "इस जगत् का अस्तित्व नहीं है", "जगत् मिथ्या है"—इसका अर्थ क्या है? इसका यही अर्थ है कि उसका निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है। मेरे, तुम्हारे और अन्य सबके मन के सम्बन्ध में इसका केवल सापेक्ष अस्तित्व है। हम पाँच इन्द्रियों द्वारा जगत् को जिस रूप में प्रत्यक्ष करते हैं, यदि हमारे एक इन्द्रिय और होती, तो हम इसमें और भी कुछ नवीन प्रत्यक्ष करते तथा अधिक इन्द्रियसम्पन्न होने पर हम इसे और भी विभिन्न रूपों में देख पाते। अतएव इसकी सत्ता नहीं है—वह अपरिवर्तनीय, अचल, अनन्त सत्ता इसकी नहीं है। पर इसको अस्तित्वशून्य भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह तो वर्तमान है और इसके साथ मिलकर ही हमें कार्य करना होगा। यह सत् और असत् का मिश्रण है।

सूक्ष्म तत्त्वों से लेकर जीवन के साधारण दैनिक स्थूल कार्यों तक पर्यालोचना करने पर हम देखते हैं कि हमारा सम्पूर्ण जीवन ही सत् और असत् इन दो विरुद्ध भावों का सम्मिश्रण है। ज्ञान के क्षेत्र में भी यह विरुद्ध भाव दिखाई पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य यदि जानना चाहे, तो समस्त ज्ञान प्राप्त कर ले सकता है; पर दो-चार पग चलने के बाद ही उसे एक ऐसा अभेद्य व्यवधान देखने में आता है, जिसको लाँघना उसके वश के बाहर हो जाता है। उसके सभी कार्य एक वृत्ताकार परिधि के अन्दर घूमते रहते हैं, और वह इस परिधि को कभी लाँघ नहीं सकता। उसके अन्तरतम एवं प्रियतम रहस्य

उसे मीमांसा के लिए दिन-रात उत्तेजित करते रहते हैं, उसका आह्वान करते रहते हैं, पर उनका उत्तर देने में वह असमर्थ है, क्योंकि वह अपनी बुद्धि की सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकता। फिर भी वासनाएँ उसके अन्तर में प्रबल वेग से मचलती रहती हैं। और इस उत्तेजना का दमन ही एकमात्र मंगलकर पथ है, यह भी हम अच्छी तरह जानते हैं। हमारे हृदय का प्रत्येक स्पन्दन प्रत्येक नि.श्वास के साथ हमें स्वार्थपर होने का आदेश देता है। पर दूसरी ओर, एक अमानुषी शक्ति कहती है कि एकमात्र नि स्वार्थता ही मंगल का साधन है। जन्म से ही प्रत्येक बालक आशावादी (optimist) होता है; वह केवल सुनहले स्वप्न देखता है। यौवन में वह और भी अधिक आशावादी हो जाता है। मृत्यु, पराजय अथवा अपमान नाम की भी कोई चीज है, यह बात किसी युवक की समझ में आना कठिन है। फिर बुढ़ापा आता है; जीवन एक ध्वंसावशेष मात्र रह जाता है, सुनहले स्वप्न हवा में उड़ जाते हैं और मनुष्य निराशावादी हो जाता है। प्रकृति के थपेड़े खाकर हम बस इसी प्रकार दिशाहीन व्यक्ति की भाँति एक छोर से दूसरे छोर तक दौड़ते रहते हैं। इस सम्बन्ध में मुझे ललितविस्तर में लिखे हुए बुद्ध-चरित का एक प्रसिद्ध गीत याद आता है। वर्णन इस प्रकार है कि बुद्धदेव ने मनुष्यों के परित्राता के रूप में जन्म ग्रहण किया, किन्तु जब राजप्रासाद की विलासिता में वे अपने को भूल गए, तब उनको जगाने के लिए देवकन्याओं ने एक गीत गाया, जिसका मर्मार्थ इस प्रकार है—"हम एक प्रवाह में बहते चले जा रहे हैं, हम अविरत रूप से परिवर्तित हो रहे हैं—कहीं निवृत्ति नहीं है, कहीं विराम नहीं है।" इसी प्रकार

हमारा जीवन भी विराम नहीं जानता — अविरत चलता ही रहता है। तब फिर उपाय क्या है? जिसके पास खाने-पीने की प्रचुर सामग्री है, वह तो आशावादी हो जाता है, कहता है, "भय उत्पन्न करनेवाली दुःख की बातें मत कहो, संसार के दुःख-कष्ट की बातें मत सुनाओ।" उसके पास जाकर यदि कहो — "सभी मंगल है", तो वह कहेगा, "सचमुच, मैं मजे में हूँ; यह देखो, कितनी सुन्दर अट्टालिका में मैं वास करता हूँ। मुझे भूख या शीत का कोई भय नहीं। अतएव मेरे सम्मुख ऐसे भयावह चित्र मत लाओ।" पर दूसरी ओर कितने ही लोग ऐसे हैं, जो शीत और अनाहार से मर रहे हैं। उनके पास जाकर यदि कहो कि 'सभी मंगल है', तो वे तुम्हारी बात सुनने के नहीं। वे सारा जीवन दुःख-कष्ट से पिसते आ रहे हैं, उनके लिए सुख, सौन्दर्य और मंगल कहाँ? वे तो कहेंगे, "नहीं, मैं यह सब विश्वास नहीं करता। जीवन में केवल रोना है — केवल दुःख है।" बस हम इसी प्रकार आशावाद से निराशावाद की ओर चले जाते हैं। इसके बाद मृत्युरूपी भयावह व्यापार आता है — सारा संसार मृत्यु के मुख में चला जा रहा है; सभी मरते जा रहे हैं। हमारी उन्नति, हमारे व्यर्थ के आडम्बरपूर्ण कार्यकलाप, समाज-संस्कार, विलासिता, ऐश्वर्य, ज्ञान — इन सबकी मृत्यु ही एकमात्र गति है। इससे अधिक निश्चित बात और कुछ नहीं। नगर-पर-नगर बनते हैं और नष्ट हो जाते हैं। साम्राज्य-पर-साम्राज्य उठते हैं और पतन के गर्त में समा जाते हैं, ग्रह आदि चूर-चूर होकर विभिन्न ग्रहों की वायु के झोंकों से इधर-उधर बिखरे जा रहे हैं। इसी प्रकार अनादि काल से चलता आ रहा है। इस सबका आखिर लक्ष्य क्या है? मृत्यु। मृत्यु ही सबका

लक्ष्य है। वह जीवन का लक्ष्य है, सौन्दर्य का लक्ष्य है, ऐश्व
का लक्ष्य है, शक्ति का लक्ष्य है, और तो और, धर्म का भं
लक्ष्य है। साधु और पापी दोनों मरते हैं, राजा और भिक्षुक
दोनों मरते हैं—सभी मृत्यु को प्राप्त होते हैं। फिर भी
जीवन के प्रति यह विषम ममता विद्यमान है। हम क्यों इस
जीवन से ममता करते हैं? क्यों हम इसका परित्याग नहीं कर
पाते? यह हम नही जानते। यही माया है।

माता बड़े यत्न से सन्तान का लालन-पालन करती है। उसका सारा मन-प्राण, सारा जीवन मानो उसी बच्चे में रखा रहता है। बालक बड़ा हुआ, युवावस्था को प्राप्त हुआ और शायद दुश्चरित्र एवं पशुवत् होकर प्रतिदिन अपनी माता को मारने-पीटने लगा, किन्तु माता फिर भी पुत्र पर मुग्ध है। जब उसकी विचारशक्ति जागृत होती है, तब वह उसे अपने स्नेह के आवरण में ढक लेती है। किन्तु वह नहीं जानती कि यह स्नेह नहीं है; एक अज्ञात शक्ति ने उसके स्नायुओं पर अधिकार कर रखा है। वह इसे दूर नहीं कर सकती। वह कितनी ही चेष्टा क्यों न करे, इस बन्धन को तोड़ नहीं सकती। यही माया है।

हम सभी कल्पित सुवर्ण लोम * की खोज में दौड़ते रहते

* सुवर्ण लोम (Golden Fleece):— ग्रीक पौराणिक साहित्य की कथा है कि ग्रीस के अन्तर्गत सेसाली देश में राजवंश के आथामास की पत्नी नेफेल के गर्भ से फिक्सस नामक पुत्र और हेल नाम की कन्या नें जन्म लिया। कुछ दिन के बाद नेफेल की मृत्यु होने पर आथामास ने कैडमस की कन्या ईनो के साथ विवाह कर लिया। ईनो का नेफेल की सन्तानों के प्रति विद्वेष रहने के कारण, उसने नाना उपायों से अपने पति

है। सभी सोचते हैं कि यह हमें ही मिलेगा; किन्तु उनमें से कितने मनुष्य इस संसार में जीवित हैं ? प्रत्येक विचारशील व्यक्ति देखता है कि इस सुवर्ण लोम को प्राप्त करने की उसकी दो करोड़ में एक से अधिक सम्भावना नहीं है, तथापि प्रत्येक मनुष्य उसके लिए कठोर प्रयत्न करता है। बस यही माया है।

इस संसार में मृत्यु रात-दिन गर्व से मस्तक ऊँचा किए घूम रही है; पर हम सोचते हैं कि हम सदा जीवित रहेंगे। किसी समय राजा युधिष्ठिर से यह प्रश्न पूछा गया, "इस पृथ्वी पर सबसे आश्चर्य की बात क्या है ?" राजा ने उत्तर दिया, "हमारे चारों ओर प्रतिदिन लोग मर रहे हैं, फिर भी जो जीवित हैं, वे समझते हैं कि वे कभी मरेंगे ही नहीं।" बस यही माया है।

को देवताओं के लिए फ्रिक्सस की बलि दे देने के लिए राजी कर लिया। किन्तु बलिदान के पूर्व ही फ्रिक्सस की स्वर्गीया माता की आत्मा फ्रिक्सस के सम्मुख आविर्भूत हुई और एक सुवर्ण लोमयुक्त मेढ़े को उसके निकट लाकर भाई-बहिन को उस पर चढ़कर समुद्र-पार भाग जाने का आदेश देने लगी। मार्ग में उसकी बहिन हेल गिरकर डूब गई—फ्रिक्सस ने कालासमुद्र की पूर्व दिशा में कलचिस नामक स्थान में उतरकर वहाँ के उस देवता को उस मेढ़े की बलि चढ़ा दी और उसकी खाल को मार्स (जंगल) देवता के कुंज में टाँग दिया। एक दैत्य उसकी रखवाली के लिए नियुक्त हुआ। कुछ दिन बाद इस सुवर्ण लोम की खाल को लाने के लिए ...थामास का भतीजा जैसन अपने प्रतिद्वन्द्वी पेलियस द्वारा नियुक्त किया ... और वह आर्गो नामक एक बड़े जहाज में अनेक प्रसिद्ध वीर पुरुषों ...त बैठकर नाना प्रकार के बाधा-विघ्नों को पार करता हुआ उक्त ...र्ण लोम को लाने में सफल हुआ। ग्रीक पुराणों में यह कथा ... Expedition नाम से विख्यात है।

हमारी बुद्धि में, हमारे ज्ञान में, यही क्यों, हमारे जीवन की प्रत्येक घटना में ये विषम विरुद्ध भाव दिखाई पड़ते हैं। सुख दुःख का पीछा करता है और दुःख सुख का। एक सुधारक उठता है और किसी राष्ट्र के दोषों को दूर करना चाहता है। पर इसके पहले कि वे दोष दूर हों, हजार नए दोष दूसरे स्थान में उत्पन्न हो जाते हैं। यह बस एक ढहते हुए पुराने मकान के समान है। तुम उस मकान के एक भाग की मरम्मत करते हो, तो उसका कोई दूसरा भाग ढह जाता है। भारत में हमारे समाज-सुधारक जीवन भर जबरन् वैधव्य-धारण रूपी दोष के विरुद्ध आवाज उठाते हैं और उसे दूर करने का प्रयत्न करते हैं। तो पश्चिमी देशों में विवाह न होना ही सबसे बड़ा दोष है। एक ओर अविवाहिताओं का कष्ट दूर करने में सहायता करनी होगी, तो दूसरी ओर विधवाओं के आँसू पोंछने का प्रयत्न करना होगा। यह तो बस पुरानी वात की बीमारी के समान है—उसे सिर से भगाओ, तो कमर में आ जाती है; कमर से भगाओ, तो पैर में उतर जाती है। सुधार करनेवाले उठते हैं और शिक्षा देते हैं कि विद्या, धन, संस्कृति कुछ इने-गिने के हाथों ही नही रहनी चाहिए; और वे इन बातों में सर्वसाधारण की पहुँच कर देने का भरसक प्रयत्न करते हैं। हो सकता है, इससे कुछ लोग अधिक सुखी हो जायँ, पर जैसे-जैसे ज्ञानानुशीलन बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे शारीरिक सुख भी कम होने लगता है। सुख का ज्ञान अपने साथ ही दुःख का ज्ञान भी लाता है। तब हम फिर किस मार्ग का अवलम्बन करे? हम लोग जो कुछ थोड़ासा सुख भोगते हैं, दूसरे स्थान में उससे उतने ही परिमाण में दुःख भी उत्पन्न होता है। बस यही नियम है—सब वस्तुओं पर यही

नियम लागू होता है। जो युवक हैं, जिनका खून अभी गरम है, वे इस बात को शायद स्पष्ट रूप से समझ न पाएँ, पर जिन्होंने धूप में बाल पकाए हैं, अपने जीवन में आँधी और तूफान के दिन देखे हैं, वे इसे सहज ही समझ लेंगे। बस यही माया है। दिन-रात ये बातें घट रही हैं, पर इनकी ठीक प्रकार से मीमांसा करना असम्भव है। ऐसा भला क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर पाना सम्भव नहीं, क्योंकि प्रश्न ही तर्कसंगत नहीं है। जो बात घट रही है, उसमें न 'कैसे' है, न 'क्यों', हम बस इतना ही जानते हैं कि वह घट रही है और हमारा उसमें कोई हाथ नहीं। यहाँ तक कि उसकी धारणा करना—अपने मन में उसका ठीक-ठीक चित्र खींचना भी हमारी शक्ति के बाहर है। तब हम भला उसे कैसे सुलझाएँ?

अतएव, इस संसार की गति के वर्णन का नाम ही माया है। साधारणतया लोग यह बात सुनकर भयभीत हो जाते हैं। हमें साहसी होना पड़ेगा। घटनाओं पर परदा डालना रोग का प्रतिकार नहीं है। कुत्तों से पीछा किए जाने पर जिस प्रकार खरगोश अपने मुँह को टाँगों में छिपाकर अपने को सुरक्षित समझ बैठता है, उसी प्रकार हम लोग भी आशावादी अथवा निराशावादी होकर ठीक उस खरगोश के समान कार्य करते हैं। पर यह कोई उपाय नहीं है।

दूसरी ओर, सांसारिक जीवन की प्रचुरता, सुख और स्वच्छन्दता भोगनेवाले इस मायावाद के सम्बन्ध में बड़ी आपत्तियाँ ... । इस देश (इंगलैंड) में निराशावादी होना बहुत कठिन ... मुझसे कहते हैं—संसार का कार्य कितने सुन्दर रूप से ... है, संसार कितना उन्नतिशील है! किन्तु उनका अपना

जीवन ही उनका संसार है। एक पुराना प्रश्न उठता है—ईसाई धर्म ही एकमात्र धर्म है। क्यों? इसलिए कि ईसाई धर्म को माननेवाले सभी राष्ट्र समृद्धिशाली हैं। पर इस प्रकार की युक्ति से तो यह सिद्धान्त स्वयं ही भ्रामक सिद्ध हो जाता है, क्योंकि अन्य राष्ट्रों का दुर्भाग्य ही तो ईसाई धर्मावलम्बी राष्ट्रों की समृद्धि का कारण है, और एक का सौभाग्य बिना दूसरों का खून चूसे नहीं बनता। यदि सारी पृथ्वी ही ईसाई धर्म को मानने लग जाय, तब तो भक्ष्यस्वरूप कोई अ-ईसाई राष्ट्र न रहने के कारण ईसाई राष्ट्र स्वयं दरिद्र हो जायगा। अतः यह युक्ति अपना ही खण्डन कर लेती है। पशु उद्भिज पर रहते हैं, मनुष्य पशुओं पर, और सबसे खराब बात तो यह है कि मनुष्य एक दूसरे पर रहता है—बलवान दुर्बल पर। बस ऐसा ही सर्वत्र हो रहा है। यही माया है। इस रहस्य की आप क्या मीमांसा करते हैं? हम प्रतिदिन नई-नई युक्तियाँ सुनते हैं। कोई-कोई कहते हैं कि अन्त में सबका कल्याण होगा। इस प्रकार की सम्भावना है तो अत्यन्त सन्देहास्पद, फिर भी मान लीजिए कि हमने यह बात स्वीकार कर ली। तो अब प्रश्न यह है कि इस पैशाचिक उपाय से मंगल क्यों हो? पैशाचिक रीति को छोड़कर क्या मंगल द्वारा मंगल नहीं हो सकता? वर्तमान मनुष्यों के वंशज सुखी होंगे; पर उससे मेरा क्या हुआ, मेरा जो इस समय इस भीषण दुःख-कष्ट से पाला पड़ रहा है? यही माया है। इसकी मीमांसा नहीं है। फिर, हम बहुधा सुनते हैं कि दोषों का क्रमशः धीरे-धीरे दूर होता जाना क्रमविकासवाद (Darwin's Evolution) की एक विशेषता है, और संसार से दोष के इस प्रकार क्रमशः दूर हो जाने पर अन्त में केवल मंगल-ही-मंगल

रह जायगा। यह बात सुनने में तो बड़ी अच्छी लगती है। इस संसार में जिनके पास किसी बात का अभाव नहीं, जिन्हें रोज एड़ी-चोटी का पसीना एक करना नहीं पड़ता, जिन्हें क्रमविकास की चक्की में पिसना नहीं पड़ता, उन लोगों के दम्भ को इस प्रकार के सिद्धान्त बढ़ा सकते हैं, और उनके लिए ये सिद्धान्त सचमुच अत्यन्त हितकर और शान्तिप्रद हैं। साधारण जनसमूह दुःख-कष्ट भोगे—उससे उनका क्या ? वे सब मर भी जायें—उसके लिए वे क्यों छटपट करें ? ठीक है, पर यह युक्ति आदि से अन्त तक भ्रमपूर्ण है। पहले तो, इन लोगों ने बिना किसी प्रमाण के ही यह धारणा कर ली है कि संसार में अभिव्यक्त मंगल और अमंगल दोनों बिलकुल सत्य हैं। और दूसरे, इससे भी अधिक दोषयुक्त धारणा तो यह है कि मंगल का परिमाण क्रमशः बढ़ता जा रहा है और अमंगल क्रमशः घटता जा रहा है। अतएव एक समय ऐसा आयगा, जब अमंगल का अंश क्रमविकास द्वारा इस प्रकार घटते-घटते अन्त में बिलकुल शून्य हो जायगा और केवल मंगल ही बच रहेगा। ऐसा कहना है तो बड़ा सरल, पर क्या यह प्रमाणित किया जा सकता है कि अमंगल परिमाण में घटता जा रहा है ? क्या अमंगल की भी क्रमशः वृद्धि नहीं हो रही है ? उदाहरणार्थ, एक जंगली मनुष्य को ले लीजिए। वह मन का संस्कार करना नहीं जानता, एक अक्षर तक नहीं पढ़ सकता, लिखना किसे कहते हैं, उसने कभी सुना तक नहीं। यदि उसे कोई गहरी चोट लग जाय, तो वह शीघ्र चंगा हो उठता है। पर हम हैं, जो ठोकर लगते ही मर जाते हैं। मशीनों से चीजें सुलभ और सस्ती होती जा रही हैं, उनसे उन्नति और क्रमविकास के मार्ग की बाधाएँ दूर होती

जा रही है, पर साथ ही, एक के धनी होने के लिए लाखों लोग पिसे जा रहे हैं—उधर एक के धनी होने के लिए इधर हजारों लोग दरिद्र से दरिद्रतर होते जा रहे हैं, और असंख्य मानवसमूह क्रीतदास बना लिया जा रहा है। जगत् की रीति ही ऐसी है। पाशवी प्रकृतिवाले मनुष्य का सुख-भोग इन्द्रियों में आबद्ध रहता है; उसके सुख और दुःख इन्द्रियों में ही रहते हैं। यदि उसे पर्याप्त भोजन न मिले, तो वह दुःखी हो जाता है। यदि उसका शरीर अस्वस्थ हो जाय, तो वह अपने को अभागा समझता है। इन्द्रियों में ही उसके सुख और दुःख का आरम्भ और अवसान होता है। जैसे-जैसे वह उन्नति करता जाता है, जैसे-जैसे उसके सुख की सीमा-रेखा विस्तृत होती जाती है, वैसे-वैसे उसका दुःख भी, उसी परिमाण में, बढ़ता जाता है। जंगल में रहनेवाला मनुष्य ईर्ष्या के वश मे होना नहीं जानता; वह नही जानता कि कचहरी में जाना, नियमित रूप से कर पटाना, समाज द्वारा निन्दित होना——ये सब कौनसी बलाएँ हैं। पैशाचिक मानव-प्रकृति से उत्पन्न जो भीषण अत्याचार एक दूसरे के हृदय के गुप्त-से-गुप्त भावों का अन्वेषण करने में लगा हुआ है, उसके द्वारा वह दिन-रात अनुशासित होना नहीं जानता। वह नहीं जानता कि भ्रान्त-ज्ञान से सम्पन्न, गर्वीला मानव किस प्रकार पशु से भी सहस्रगुना पैशाचिक स्वभाववाला हो जाता है। बस इसी प्रकार हम ज्यों-ज्यों इन्द्रियपरायणता से ऊपर उठते जाते हैं, त्यों-त्यों हमारी सुख अनुभव करने की शक्ति बढ़ती जाती है, और उसके साथ ही दुःख अनुभव करने की शक्ति भी बढ़ती रहती है। स्नायु और भी सूक्ष्म होकर अधिक यन्त्रणा के अनुभव में समर्थ हो जाते है। सभी समाजों

में हम देखते हैं कि एक साधारण, मूर्ख मनुष्य तिरस्कृत होने
उतना दुःखी नहीं होता, पर पिट जाने पर अवश्य दुःखी
जाता है। किन्तु सभ्य पुरुष एक साधारण-सी बात भी सह
नहीं कर सकता। उसके स्नायु इतने सूक्ष्म हो गए हैं। उसक
सुखानुभूति सहज हो जाने के कारण उसका दुःख भी बढ़ गय
है। इससे तो दार्शनिकों के क्रमविकासवाद की कोई पुष्टि नहीं
होती। हम अपनी सुखी होने की शक्ति को जितना ही बढ़ाते हैं
हमारी दुःख-भोग की शक्ति भी उसी परिमाण में बढ़ जाती है।
मेरा तो विनीत मत यह है कि हमारी सुखी होने की शक्ति यदि
समयुक्तान्तर श्रेणी के नियम (Arithmetical Progression)
से बढ़ती है, तो दुःखी होने की शक्ति समगुणितान्तर श्रेणी
(Geometrical Progression) * के नियम से बढ़ेगी।
जंगली मनुष्य समाज के सम्बन्ध में अधिक नहीं जानता। किन्तु
हम उन्नतिशील लोग जानते हैं कि हम जितने ही उन्नत होंगे,
हमारी सुख और दुःख के अनुभव करने की शक्ति भी उतनी ही
तीव्र होती जायगी। यही माया है।

अतएव, हम देखते हैं कि माया विश्व-रहस्य की व्याख्या
करने के निमित्त कोई मतवादविशेष नहीं है। संसार में घटनाएँ
जिस प्रकार होती रहती हैं, माया बस उन्हीं का वर्णन मात्र है।
विरुद्ध भाव ही हमारे अस्तित्व की भित्ति हैं; सर्वत्र इन्हीं भयानक
विरुद्ध भावों में से होकर हम जा रहे हैं। जहाँ मंगल है, वहीं

* समयुक्तान्तर श्रेणी नियम जैसे ३।५।७।९ इत्यादि; यहाँ पर
प्रत्येक परवर्ती अंक अपने पूर्ववर्ती अंक से दो दो अधिक है। समगुणितान्तर
जैसे ३।६।१२।२४ इत्यादि; यहाँ पर प्रत्येक परवर्ती अंक अपने पूर्ववर्ती
का दुगना है।

अमंगल भी है; और जहाँ अमंगल है, वहीं मंगल है। जहाँ जीवन है, वहीं मृत्यु छाया की भाँति उसका अनुसरण कर रही है। जो हँस रहा है, उसी को रोना पड़ेगा; और जो रो रहा है, वह भी हँसेगा। यह क्रम बदल नहीं सकता। हम भले ही ऐसे स्थान की कल्पना करें, जहाँ केवल मंगल रहेगा, अमंगल नहीं, जहाँ हम केवल हँसेंगे, रोएँगे नहीं,—पर जब ये सब कारण समान रूप से सर्वत्र विद्यमान हैं, तो इस प्रकार होना स्वभावतः असम्भव है। जहाँ हमें हँसाने की शक्ति विद्यमान है, वही फिर रुलाने की भी शक्ति निहित है। जहाँ सुख उत्पन्न करनेवाली शक्ति विद्यमान है, दुःख देनेवाली शक्ति भी वही छिपी हुई है।

अतएव वेदान्त-दर्शन आशावादी भी नहीं है और निराशावादी भी नहीं। वह तो दोनों ही वादों का प्रचार करता है; सारी घटनाएँ जिस रूप में होती हैं, वह उन्हें बस उसी रूप में ग्रहण करता है; अर्थात् उसके मत से यह संसार मंगल और अमंगल, सुख और दुःख का मिश्रण है; एक को बढ़ाओ, तो दूसरा भी साथ-साथ बढ़ेगा। केवल सुख का संसार अथवा केवल दुःख का संसार हो नहीं सकता। इस प्रकार की धारणा ही स्वतःविरोधी है। किन्तु इस प्रकार का मत व्यक्त करके और इस विश्लेषण के द्वारा वेदान्त ने इस महान् रहस्य का भेद किया है कि मंगल और अमंगल ये दो एकदम विभिन्न सत्ताएँ नहीं हैं। इस संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जिसे एकदम शुभ या एकदम अशुभ कहा जा सके। एक ही घटना, जो आज शुभजनक मालूम पड़ती है, कल अशुभजनक मालूम पड़ सकती है। एक ही वस्तु, जो एक व्यक्ति को दुःखी करती है, दूसरे को सुखी बना सकती है। जो अग्नि बच्चे को जला देती है,

यही सुख से जर्जर शरीर के लिए स्वादिष्ट खाना भी ...
सकती है। जिस स्नायुमण्डल के द्वारा दुःख का ज्ञान हमारे
अन्दर प्रवाहित होता है, सुख का ज्ञान भी उसी के द्वारा भीतर
जाता है। अमंगल को दूर करना चाहो, तो साथ ही सु-
मंगल को भी दूर करना होगा। इसके अतिरिक्त और कोई
उपाय नहीं है। मृत्यु को दूर करने के लिए जीवन को भी दूर
करना पड़ेगा। मृत्युहीन जीवन और दुःखहीन सुख ये बातें
परस्पर-विरोधी हैं, इनमें कोई सत्य नहीं है, क्योंकि दोनों एक
ही वस्तु के विकास हैं। कल जो सुखप्रद लगता था, आज वह
वैसा नहीं लगता। जब हम बीते जीवन पर नजर डालते हैं
और भिन्न-भिन्न समय के अपने आदर्शों की आलोचना करते हैं,
तो इस बात की सत्यता हमें तुरन्त दीख पड़ती है। एक समय
था, जब तगड़े घोड़ों की जोड़ी हाँकना ही मेरा आदर्श था।
अब वैसी भावना नहीं होती। बचपन में सोचता था कि यदि
मैं अमुक मिठाई बना सकूँ, तो मैं पूर्ण सुखी होऊँगा। कभी सोचता
था, स्त्री-पुत्र और धन-धान्य से भरा घर होने से मैं सुखी होऊँगा।
अब लड़कपन की ये सब बातें सोचकर हँसी आती है। वेदान्त
कहता है कि एक समय ऐसा अवश्य आयगा, जब हम पीछे नजर
डालेंगे और उन आदर्शों पर हँसेंगे, जिनके कारण अपने इस
क्षुद्र व्यक्तित्व का त्याग करते हममें भय का संचार होता है।
सभी अपनी-अपनी देह की रक्षा करने में व्यस्त हैं। कोई भी
उसे छोड़ना नहीं चाहता। हम सोचते हैं कि इस देह की यथेच्छ
समय तक रक्षा कर लेने से - अत्यन्त सुखी होंगे। पर समय
आने पर हम इस बात [illegible] । अतएव, यदि हमारी
वर्तमान [illegible] दोनों

का सम्मिश्रण हो, दुःख भी न हो और सुख भी नहीं—पर दोनों का सम्मिश्रण हो, अर्थात् वह यदि इस प्रकार विषम विरुद्ध भाव-वाली हो, तो फिर वेदान्त की क्या आवश्यकता है? अन्यान्य दर्शनशास्त्र और धर्म-मत आदि की भी क्या आवश्यकता है? और सर्वोपरि, शुभ कर्म आदि करने का भी भला क्या प्रयोजन है? यही प्रश्न मन में उठता है, क्योंकि लोग यही पूछेंगे कि यदि शुभ कर्म करने पर भी अमंगल रहता ही हो और सुख उत्पन्न करने का प्रयत्न करने पर भी घोर दुःख बना ही रहता हो तो फिर इस प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता ही क्या? तो इसका उत्तर यह है कि पहले तो, हमें दुःख को कम करने के लिए कर्म करना ही चाहिए, क्योंकि स्वयं सुखी होने का यही एकमात्र उपाय है। हममें से प्रत्येक अपने-अपने जीवन में, शीघ्र हो अथवा देरी से, इस बात की यथार्थता समझ ही लेते हैं। तीक्ष्ण बुद्धिवाले कुछ शीघ्र समझ जाते हैं और मन्द बुद्धिवाले कुछ देरी से। मन्द बुद्धिवाले कड़ी यातना भोगने के बाद इसे समझ पाते हैं, तो तीक्ष्ण बुद्धिवाले थोड़ी ही यातना भोगने के बाद। और दूसरे, यद्यपि हम जानते हैं कि ऐसा समय कभी न आयगा, जब यह जगत् केवल सुख से भरा रहेगा और दुःख बिलकुल न रहेगा, फिर भी हमें यही कार्य करना होगा। यदि दुःख बढ़ता भी रहे, तो भी हम अपना कार्य करते रहेंगे। ये दोनों शक्तियाँ जगत् को जीवित रखेंगी; और अन्त में एक दिन ऐसा आयगा, जब हम स्वप्न से जाग जायेंगे और यह सब मिट्टी के घरौंदे बनाना बन्द कर देंगे। सचमुच, हम चिरकाल घरौंदे बनाने में ही लगे हुए हैं। हमें यह शिक्षा लेनी ही होगी; और इसके लिए समय भी बहुत लग जायगा।

वेदान्त कहता है—अनन्त ही सान्त हो गया है। जर्मनी में इसी भित्ति पर दर्शन-शास्त्र रचने की चेष्टा की गई थी। इँगलैण्ड में अब भी इस प्रकार की चेष्टा चल रही है। पर इन सब दार्शनिकों के मत का विश्लेषण करने पर यही पाया जाता है कि अनन्तस्वरूप (Hegel's Absolute Mind) अपने को जगत् में व्यक्त करने की चेष्टा कर रहा है। यदि यह सत्य हो, तो अनन्त यथासमय अपने को व्यक्त करने में समर्थ हो ही जायगा। अतएव निरपेक्षावस्था विकसितावस्था से निम्न है; क्योंकि विकसितावस्था में ही तो निरपेक्षस्वरूप अपने को व्यक्त कर रहा है। जब तक अनन्तस्वरूप अपने को सम्पूर्ण रूप से बाहर नहीं व्यक्त कर पाता, तब तक हमें इस अभिव्यक्ति में उत्तरोत्तर सहायता करनी होगी। यह बात सुनने में है तो बड़ी मधुर, और हमने अनन्त, विकास, अभिव्यक्ति आदि दार्शनिक शब्दों का भी प्रयोग किया। किन्तु सान्त किस प्रकार अनन्त हो सकता है, एक किस तरह दो प्रकार का हो सकता है, इस सिद्धान्त की न्यायसंगत मूलभित्ति क्या है, यह प्रश्न दार्शनिकगण स्वभावतः ही पूछ सकते हैं। निरपेक्ष और अनन्त सत्ता सोपाधिक होकर ही इस जगत्-रूप में प्रकाशित हुई है। यहाँ पर तो सब कुछ सीमाबद्ध रहेगा ही। जो कुछ इन्द्रिय, मन और बुद्धि के भीतर से आयगा, उसे स्वतः ही सीमाबद्ध होना पड़ेगा, अतएव ससीम का असीम होना नितान्त मिथ्या है। ऐसा हो नहीं सकता।

दूसरी ओर, वेदान्त कहता है, यह ठीक है कि निरपेक्ष, अनन्त सत्ता अपने को सान्त रूप में व्यक्त करने की चेष्टा कर रही है. किन्तु एक समय ऐसा आयगा, जब इस प्रयत्न को

असम्भव जानकर उसे पीछे लौटना पड़ेगा। यह पीछे लौटना ही यथार्थ धर्म का आरम्भ है। वैराग्य ही धर्म का प्रारम्भ है। आधुनिक मनुष्य से वैराग्य की बात कहना अत्यन्त कठिन है। अमेरिका में मेरे बारे में लोग कहते थे कि मैं मानो पाँच हजार वर्ष पूर्व के किसी अतीत और विलुप्त ग्रह से आकर वैराग्य का उपदेश दे रहा हूँ। इंगलैण्ड के दार्शनिकगण भी शायद ऐसा ही कहें। पर वैराग्य और त्याग ही इस जीवन की एकमात्र सत्य वस्तु है। प्राणपण से चेष्टा करके देख लो, यदि कोई दूसरा उपाय प्राप्त कर सको। यह कभी हो नहीं सकता। ऐसा समय आयगा, जब अन्तरात्मा जाग जायगी—इस लम्बे विषादमय स्वप्न से जाग उठेगी; बच्चा खेल-कूद छोड़कर अपनी माता के निकट लौट जाने को अधीर हो उठेगा। तब मन समझेगा—

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥'

—'काम्य वस्तु के उपभोग से कभी वासना की निवृत्ति नहीं होती, वरन् घृताहुति के द्वारा अग्नि के समान वह तो और भी बढ़ जाती है।' इस प्रकार, क्या इन्द्रिय-विलास, क्या बौद्धिक आनन्द, क्या मानवात्मा का उपभोग्य सब प्रकार का सुख—सभी मिथ्या है—सभी माया के अधीन है। सभी इस संसार के बन्धन के अन्तर्गत है, हम उसे अतिक्रमण नहीं कर सकते। हम उसके अन्दर भले ही अनन्त काल तक दौड़ते फिरें, पर उसका अन्त नहीं पा सकते; और जब कभी हम थोड़ासा सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करते है, तभी दु:ख का ढेर हमें घेर लेता है। कितनी भयानक अवस्था है यह! जब मैं इस पर विचार करता हूँ, तो मैं निस्सन्दिग्ध रूप से यह अनुभव करता हूँ कि यह

मायावाद, यह वाक्य ही कि सब कुछ माया है, इसकी एकमात्र ठीक-ठीक व्याख्या है। इस संसार में कितना दुःख है! यदि आप विभिन्न देशों में भ्रमण करें, तो आप समझ सकेंगे कि एक राष्ट्र अपने दोषों को एक उपाय के द्वारा दूर करने की चेष्टा कर रहा है, तो दूसरा राष्ट्र किसी अन्य उपाय द्वारा। एक ही दोष को विभिन्न राष्ट्रों ने विभिन्न उपायों से दूर करने का प्रयत्न किया है, पर कोई भी कृतकार्य न हो सका। यदि किसी स्थान पर दोष कुछ कम हो भी गया, तो किसी दूसरे स्थान पर दोषों का एक ढेर खड़ा हो जाता है। बस ऐसा ही चलता रहता है। हिन्दुओं ने अपने जातीय जीवन में सतीत्व धर्म को पुष्ट करने के लिए बालविवाह के प्रचलन द्वारा अपनी सन्तान को, और धीरे-धीरे सारी जाति को, अधोगामी कर दिया है। पर यह बात भी मैं अस्वीकार नहीं कर सकता कि बालविवाह ने हिन्दू जाति को सतीत्व-धर्म से विभूषित किया है। तुम क्या चाहते हो? यदि जाति को सतीत्व-धर्म से थोड़ा-बहुत विभूषित करना चाहो, तो इस भयानक बालविवाह द्वारा सारे स्त्री-पुरुषों को शारीरिक विषय में अधोगामी करना पड़ेगा। दूसरी ओर, क्या तुम्हारी जाति भी विपत्तियों से रहित है? नहीं, क्योंकि सतीत्व ही तो जाति की जीवनीशक्ति है। क्या तुमने इतिहास में नहीं पढ़ा है कि देश की मृत्यु का चिह्न असतीत्व के भीतर से होकर आया है—जब यह किसी जाति में प्रवेश कर जाता है, तो समझना कि उसका विनाश निकट आ गया है। इन सब दुःखजनक प्रश्नों की मीमांसा कहाँ मिलेगी? यदि माता-पिता अपनी सन्तान के लिए पात्र या पात्री का निर्वाचन करें, तो इस तथाकथित प्रेम का दोष कम हो सकता है। भारत की बेटियाँ

भावुक होने की अपेक्षा अधिक कार्यकुशल होती हैं। उनके जीवन में कल्पनाप्रियता को अधिक स्थान नहीं मिलता। पर यदि लोग स्वयं पति और पत्नी का निर्वाचन करें, तो इससे उन्हें कोई अधिक सुख नहीं मिलता। भारतीय नारियाँ अधिक सुखी हैं। स्त्री और स्वामी के बीच कलह अधिकतर नहीं होता। दूसरी ओर, अमेरिका में, जहाँ स्वाधीनता की अधिकता है, सुखी परिवार बहुत कम देखने में आते हैं। थोड़े-बहुत सुखी परिवार हो भी सकते हैं, परन्तु दुःखी परिवारों और दुःखकर विवाहों की संख्या इतनी अधिक है कि गणना नहीं की जा सकती। मैं जिस किसी सभा में जाता हूँ, वहीं सुनता हूँ कि उसमें उपस्थित एक तिहाई स्त्रियों ने अपने पति-पुत्रों का बहिष्कार कर दिया है। ऐसा ही सभी जगह है। इससे क्या सिद्ध होता है? यही कि इस सब आदर्श के द्वारा अधिक सुख प्राप्त नहीं हो सकता। हम सभी सुख के लिए उत्कट चेष्टा कर रहे हैं, पर एक ओर कुछ प्राप्त होने के पहले ही दूसरी ओर दुःख आ उपस्थित होता है।

तब क्या हम कोई शुभ कर्म न करें? अवश्य करें, और पहले की अपेक्षा अधिक उत्साहित होकर हम ऐसा करें। इन बातों के ज्ञान से इतना होगा कि हमारी उद्दण्डता और कट्टरता दूर हो जायगी। तब अँगरेज लोग उत्तेजित होकर "ओह, पैशाचिक हिन्दू! नारियों के प्रति कैसा दुर्व्यवहार करता है!"— ऐसा कहते हुए हिन्दू की ओर उँगली नहीं उठायेंगे। तब वे विभिन्न देशों की प्रथाओं का आदर करना सीखेंगे। कट्टरता कम होगी, कार्य अधिक होगा। कट्टर आदमी अधिक कार्य नहीं कर पाता। वह अपनी शक्ति का तीन-चौथाई व्यर्थ

ही नष्ट कर देता है। जो धीर, प्रशान्तचित्त, 'काम के आदमी' कहे जाते हैं, वे ही कर्म करते हैं। थोथी बकवास करनेवाला कट्टर व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता। अतएव इस ज्ञान से कार्य करने की शक्ति बढ़ेगी। घटनाचक्र ही ऐसा है. इस ज्ञान से हमारी तितिक्षा अधिक होगी। दुःख और अशुभ के दृश्य हमें साम्यभाव से च्युत न कर सकेंगे और छाया के पीछे-पीछे दौड़ा न सकेंगे। अतएव यह जानकर कि संसार की गति ही ऐसी है, हम सहिष्णु बनेंगे। उदाहरणस्वरूप हम कह सकते हैं कि सभी मनुष्य दोषशून्य हो जायेंगे, पशु भी क्रमशः मनुष्यत्व प्राप्त कर इन्हीं अवस्थाओं में से होकर गुजरेंगे, और वनस्पतियों की भी यही दशा होगी। पर यह एक बात निश्चित है—यह महती नदी प्रबल वेग से समुद्र की ओर बह रही है; तृण, पत्ते आदि सब इसके स्रोत में बहे जा रहे हैं और सम्भवतः विपरीत दिशा में बहने की चेष्टा कर रहे हैं, किन्तु ऐसा समय आयगा, जब प्रत्येक वस्तु उस अनन्त सागर के वक्षःस्थल में समा जायगी। अतएव यह निश्चित है कि जीवन सारे दुःख और क्लेश, आनन्द, हास्य और क्रन्दन के साथ उस अनन्त सागर की ओर प्रबल वेग से प्रवाहित हो रहा है, और यह केवल समय का प्रश्न है, जब तुम, मैं, जीव, उद्भिद् और सामान्य जीवाणुकण तक, जो जहाँ पर है, सब कुछ उसी अनन्त जीवन-समुद्र में—मुक्ति और ईश्वर में आ पहुँचेगा।

मैं एक बार फिर कहता हूँ कि वेदान्त का दृष्टिकोण न तो आशावादी है और न निराशावादी ही। यह ऐसा नहीं कहता कि यह संसार केवल मंगलमय है अथवा केवल अमंगलमय। यह कहता है कि हमारे मंगल और अमंगल दोनों

करना होगा। अतएव हम अज्ञेयवादी नहीं हो सकते औ
अज्ञेयवादी के संसार को नहीं अपना सकते। अज्ञेयवादी त
जीवन के दोनों उपादान को छोड़कर अवशिष्ट अंश को ह
सर्वस्व मानते हैं। वे इस आदर्श को ज्ञान का अगोचर समझक
इसका अन्वेषण त्याग देते हैं। बस इस स्वभाव, इस जगत् को ह
माया कहते हैं। वेदान्त के शब्दों में यही प्रकृति है। किन्
चाहे देवोपासना के द्वारा हो, चाहे प्रतीक-उपासना द्वारा, चा
दार्शनिक विचारों के अवलम्बन से आचरित हों, अथवा देव
चरित्र, पिशाच-चरित्र, प्रेत-चरित्र, साधु-चरित्र, ऋषि-चरित्र
महात्मा-चरित्र अथवा अवतार-चरित्र की सहायता से अनुष्ठि
हो, सभी धर्मों का, चाहे वे उन्नत हों चाहे अपरिणत, उद्देश्
एक ही है। सभी धर्म इसी प्रकृति के बन्धन को तोड़ने की
अल्प-अधिक चेष्टा कर रहे हैं। संक्षेप में, सभी धर्म स्वाधीनता
की ओर अग्रसर होने का कठोर प्रयत्न कर रहे हैं। जाने या
अनजाने मनुष्य समझ गया है कि वह बद्ध है। वह जो कुछ
होने की इच्छा करता है, सो नहीं है। जिस क्षण से उसने
अपने चारों ओर दृष्टि फेरी, उसी क्षण से उसे यह ज्ञान हो
गया। उसी क्षण से उसे अनुभव हो गया कि वह बन्दी है।
उसने यह भी जाना कि इस सीमा से जकड़ा हुआ कोई मानो
उसके अन्तर में विद्यमान है, जो देह के भी अगम्य स्थान में
उड़ जाना चाहता है। संसार के उन निम्नतम धर्मों में भी,
जहाँ दुर्दान्त, नृशंस, आत्मीयों के घरों में लुक-छिपकर फिरने-
वाले, हत्या और सुराप्रिय मृत पितरों या अन्य भूत-प्रेतों की
पूजा की जाती है, हम स्वाधीनता का यह भाव पाते हैं। जो
लोग देवताओं की उपासना करते हैं, वे उन देवताओं को अपनी

हते हैं। वेदान्त के शब्दों में यही प्रकृति है। कि
ोपासना के द्वारा हो, चाहे प्रतीक-उपासना द्वारा, च
विचारों के अवलम्बन से आचरित हो, अथवा दे
पिशाच-चरित्र, प्रेत-चरित्र, साधु-चरित्र, ऋषि-चरि
रित्र अथवा अवतार-चरित्र की सहायता से अनुष्ठि
धर्मों का, चाहे वे उन्नत हों चाहे अपरिणत, उद्देश
। सभी धर्म इसी प्रकृति के बन्धन को तोड़ने की
चेष्टा कर रहे हैं। संक्षेप में, सभी धर्म स्वाधीनता
अग्रसर होने का कठोर प्रयत्न कर रहे हैं। जाने या
नुष्य समझ गया है कि वह बद्ध है। वह जो कुछ
च्छा करता है, सो नहीं है। जिस क्षण से उसने
ओर दृष्टि फेरी, उसी क्षण से उसे यह ज्ञान हो
क्षण से उसे अनुभव हो गया कि वह बन्दी है।
जाना कि इस सीमा से जकड़ा हुआ कोई मानो
में विद्यमान है, जो देह के भी अगम्य स्थान में
ाहता है। संसार के उन निम्नतम धर्मों में भी,
नृशंस, आत्मीयों के घरों में लुक-छिपकर फिरने-
और सुराप्रिय मृत पितरों या अन्य भूत-प्रेतों की
ी है, हम स्वाधीनता का यह भाव पाते हैं। जो
की उपासना करते हैं, वे उन देवताओं को अपनी

कहता है, "संसार को पूर्ण मंगलमय हो जाने दो, तब मैं व
करूँगा और आनन्द भोगूँगा," तो उसकी बात उसी व्यक्ति
नाईं है, जो गंगातट पर बैठकर कहता है कि जब इसका सा
पानी समुद्र में पहुँच जायगा, तब मैं इसके पार जाऊँगा
दोनों बातें असम्भव हैं। रास्ता माया के साथ नहीं है, वह
माया के विरुद्ध है—यह बात भी हमें जान लेनी होगी। ह
प्रकृति के सहायक होकर नहीं जन्मे हैं, वरन् हम तो प्रकृति
विरोधी होकर जन्मे हैं। हम बाँधनेवाले होकर भी स्वयं बँ
जा रहे हैं। यह मकान कहाँ से आया? प्रकृति ने तो
दिया नहीं। प्रकृति कहती है, "जाओ, जंगल में जाकर बसो।"
मनुष्य कहता है, "नहीं, मैं मकान बनाऊँगा और प्रकृति के
साथ युद्ध करूँगा।" और वह ऐसा कर भी रहा है। मानवजाति
का इतिहास प्राकृतिक नियमों के साथ उसके युद्ध का इतिहास
है और अन्त में मनुष्य ही प्रकृति पर जय प्राप्त करता है।
अन्तर्जगत् में आकर देखो, यहाँ भी यही युद्ध चल रहा है—पाशव
मानव और आध्यात्मिक मानव का, प्रकाश और अन्धकार का
यह संग्राम निरन्तर जारी है। मानव यहाँ भी जीत रहा है।
स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए प्रकृति के बन्धन को चीरकर
मनुष्य अपने गन्तव्य मार्ग को प्राप्त कर लेता है। हमने अभी
तक माया का ही वर्णन देखा है। वेदान्ती पण्डितों ने इस माया
के उस पार ऐसी किसी वस्तु को जान लिया है, जो माया के
अधीन नहीं है, और यदि हम उसके पास पहुँच सकें, तो हम भी
माया के पार हो जायेंगे। यह भाव ईश्वरवादी सभी धर्मों की
साधारण सम्पत्ति है। किन्तु वेदान्त के मत में यह धर्म का
केवल प्रारम्भ है, अन्त नहीं। जो विश्व की सृष्टि तथा पालन

कहता है, "संसार को पूर्ण मंगलमय हो जाने दो, तब मैं कार्य करूँगा और आनन्द भोगूँगा," तो उसकी बात उसी व्यक्ति की नाईं है, जो गंगातट पर बैठकर कहता है कि जब इसका सारा पानी समुद्र में पहुँच जायगा, तब मैं इसके पार जाऊँगा। दोनों बातें असम्भव हैं। रास्ता माया के साथ नहीं है, वह तो माया के विरुद्ध है—यह बात भी हमें जान लेनी होगी। हम प्रकृति के सहायक होकर नहीं जन्मे हैं, वरन् हम तो प्रकृति के विरोधी होकर जन्मे हैं। हम बाँधनेवाले होकर भी स्वयं बँधे जा रहे हैं। यह मकान कहाँ से आया? प्रकृति ने तो दिया नहीं। प्रकृति कहती है, "जाओ, जंगल में जाकर बसो।" मनुष्य कहता है, "नही, मैं मकान बनाऊँगा और प्रकृति के साथ युद्ध करूँगा।" और वह ऐसा कर भी रहा है। मानवजाति का इतिहास प्राकृतिक नियमों के साथ उसके युद्ध का इतिहास है और अन्त में मनुष्य ही प्रकृति पर जय प्राप्त करता है। अन्तर्जगत् में आकर देखो, वहाँ भी यही युद्ध चल रहा है—पाशव मानव और आध्यात्मिक मानव का, प्रकाश और अन्धकार का यह संग्राम निरन्तर जारी है। मानव यहाँ भी जीत रहा है। स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए प्रकृति के बन्धन को चीरकर मनुष्य अपने गन्तव्य मार्ग को प्राप्त कर लेता है। हमने अभी तक माया का ही वर्णन देखा है। वेदान्ती पण्डितों ने इस माया के उस पार ऐसी किसी वस्तु को जान लिया है, जो माया के अधीन नही है, और यदि हम उसके पास पहुँच सकें, तो हम भी माया के पार हो जायँगे। यह भाव ईश्वरवादी सभी धर्मों की साधारण सम्पत्ति है। किन्तु वेदान्त के मत में यह धर्म का केवल प्रारम्भ है, अन्त नहीं। जो विश्व की सृष्टि तथा पालन

कहता है, "संसार को पूर्ण मंगलमय हो जाने दो, तब मैं कार्य करूँगा और आनन्द भोगूँगा," तो उसकी बात उसी व्यक्ति की नाईं है, जो गंगातट पर बैठकर कहता है कि जब इसका सारा पानी समुद्र में पहुँच जायगा, तब मैं इसके पार जाऊँगा। दोनों बातें असम्भव हैं। रास्ता माया के साथ नहीं है, वह तो माया के विरुद्ध है—यह बात भी हमें जान लेनी होगी। हम प्रकृति के सहायक होकर नहीं जन्मे हैं, वरन् हम तो प्रकृति के विरोधी होकर जन्मे हैं। हम बाँधनेवाले होकर भी स्वयं बँधे जा रहे हैं। यह मकान कहाँ से आया? प्रकृति ने तो दिया नहीं। प्रकृति कहती है, "जाओ, जंगल में जाकर बसो।" मनुष्य कहता है, "नहीं, मैं मकान बनाऊँगा और प्रकृति के साथ युद्ध करूँगा।" और वह ऐसा कर भी रहा है। मानवजाति का इतिहास प्राकृतिक नियमों के साथ उसके युद्ध का इतिहास है और अन्त में मनुष्य ही प्रकृति पर जय प्राप्त करता है। अन्तर्जगत् में आकर देखो, वहाँ भी यही युद्ध चल रहा है—पाशव मानव और आध्यात्मिक मानव का, प्रकाश और अन्धकार का यह संग्राम निरन्तर जारी है। मानव यहाँ भी जीत रहा है। स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए प्रकृति के बन्धन को चीरकर मनुष्य अपने गन्तव्य मार्ग को प्राप्त कर लेता है। हमने अभी तक माया का ही वर्णन देखा है। वेदान्ती पण्डितों ने इस माया के उस पार ऐसी किसी वस्तु को जान लिया है, जो माया के अधीन नहीं है, और यदि हम उसके पास पहुँच सकें, तो हम भी माया के पार हो जायेंगे। यह भाव ईश्वरवादी सभी धर्मों की साधारण सम्पत्ति है। किन्तु वेदान्त के मत में यह धर्म का केवल प्रारम्भ है, अन्त नहीं। जो विश्व की सृष्टि तथा पालन

मनुष्य का यथार्थ स्वरूप

(लन्दन में दिया हुआ भाषण)

इस पंचेन्द्रिय-ग्राह्य जगत् में मनुष्य इतना अधिक आसक्त है कि वह उसे सहज में ही छोड़ना नहीं चाहता। किन्तु वह इस बाह्य जगत् को चाहे जितना ही सत्य या साररूप क्यों न समझे, प्रत्येक व्यक्ति और जाति के जीवन में एक समय ऐसा अवश्य आता है कि जब उसे इच्छा न रहते हुए भी जिज्ञासा करनी पड़ती है—'क्या यह जगत् सत्य है?' जिन व्यक्तियों को अपनी इन्द्रियों की गवाही में अविश्वास करने का तनिक भी समय नहीं मिलता, जिनके जीवन का प्रत्येक क्षण किसी-न-किसी प्रकार के विषय-भोग में ही बीतता है, मृत्यु एक दिन उनके भी सिरहाने आकर खड़ी हो जाती है और विवश होकर उन्हें भी कहना पड़ता है—'क्या यह जगत् सत्य है?' इसी एक प्रश्न से धर्म का आरम्भ होता है और इसके उत्तर में ही धर्म की इति है। इतना ही क्यों, सुदूर अतीत काल में, जहाँ इतिहास की कोई पहुँच नहीं, उस रहस्यमय पौराणिक युग में, सभ्यता के उस अस्फुट उषाकाल में भी, हम देखते हैं कि यही एक प्रश्न उस समय भी पूछा गया है—'क्या यह जगत् सत्य है?'

कवित्वमय कठोपनिषद् के प्रारम्भ में हम यह प्रश्न देखते हैं—"कोई-कोई लोग कहते हैं कि मनुष्य के मरने पर उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है, और कोई कहते हैं कि, नहीं, उसका अस्तित्व फिर भी रहता है, इन दोनों बातों में कौन सी सत्य है? (येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये, अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके)।" संसार में इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार के उत्तर मिलते

जितने प्रकार के दर्शन या धर्म संसार में हैं, वे सब वास्तव इसी प्रश्न के विभिन्न उत्तरों से परिपूर्ण हैं। अनेक लोगों ने इस प्रश्न को — प्राणों की इस महती आकांक्षा को — ार से अतीत परमार्थ सत्ता के इस अन्वेषण को — व्यर्थ ्कर उड़ा देने की चेष्टा की है। किन्तु जब तक मृत्यु नामक वस्तु जगत् में है, तब तक इस प्रश्न को यों ही उड़ा देने की सारी चेष्टाएँ विफल रहेंगी। यह कहना सरल है कि हम जगदातीत सत्ता का अन्वेषण नहीं करेंगे, वर्तमान क्षण में ही हम अपनी समस्त आशा और आकांक्षा को सीमित रखेंगे; और हम इसके लिए भरपूर चेष्टा भी कर सकते हैं, बहिर्जगत् की सारी वस्तुएँ भी हमें इन्द्रियों की सीमा के भीतर बन्द करके रख सकती हैं, सारा संसार भी एक हो हमें वर्तमान की क्षुद्र सीमा के बाहर दृष्टि डालने से रोक सकता है; पर जब तक जगत् में मृत्यु रहेगी, तब तक यह प्रश्न बार-बार उठेगा — 'हम जो इन सब वस्तुओं को सत्य का भी सत्य, सार का भी सार समझकर इनमें भयानक रूप से आसक्त हैं, तो क्या मृत्यु ही इन सबका अन्तिम परिणाम है?' जगत् तो एक क्षण में ही ध्वंस होकर न जाने कहाँ चला जाता है। ऊपर है अत्युच्च गगनचुम्बी पर्वत और नीचे है गहरी खाई, मानो मुँह फैलाए जीव को निगलने के लिए आ रही हो। इस पर्वत के किनारे खड़े होने पर, कितना ही कठोर अन्तःकरण क्यों न हो, निश्चय ही सिहर उठेगा और पूछेगा — 'यह सब क्या सत्य है?' कोई तेजस्वी हृदय जीवन भर बड़े प्रयत्न के साथ जिस आशा को अपने हृदय में सँजोए रहा, वह एक मुहूर्त में ही उड़कर न जाने कहाँ चली गई, तो क्या हम इस सब आशा को सत्य कहेंगे?

इस प्रश्न का उत्तर देना होगा। सारे प्राणों की इस आकांक्षा की, हृदय के इस गम्भीर प्रश्न की शक्ति का कभी भी ह्रास नहीं कर सकता, प्रत्युत काल का स्रोत ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों इस प्रश्न की शक्ति भी बढ़ती जाती है और उतने ही अधिक प्रबल वेग से यह प्रश्न हृदय पर आघात करता रहता है। मनुष्य को सुखी होने की इच्छा होती है। अपने को सुखी करने के लिए वह सभी ओर दौड़ता फिरता है—इन्द्रियों के पीछे-पीछे दौड़ता फिरता है—पागल की भाँति बाह्य जगत् में कार्य करता जाता है। जो युवक जीवन-संग्राम में सफल हुए हैं, उनसे यदि पूछो, तो कहेंगे, 'यह जगत् सत्य है'—उन्हें सभी बातें सत्य प्रतीत होती हैं। ये ही व्यक्ति जब बूढ़े हो जायँगे, जब सौभाग्य-लक्ष्मी उन्हें बार-बार धोखा देगी, तब उनसे यदि पूछो, तो शायद यही कहेंगे, 'अरे भाई, सब भाग्य का खेल है।' इतने दिनों बाद वे जान सके कि वासना की पूर्ति नहीं होती। वे जिधर जाते हैं, उधर ही मानो वज्र के समान दृढ़ दीवार उनके सामने खड़ी हो जाती है, जिसे लाँघना उनके बस की बात नहीं। प्रत्येक इन्द्रिय-चंचलता की प्रतिक्रिया होती ही है। सुख और दुःख दोनों ही क्षणस्थायी हैं। विलास, विभव, शक्ति, दारिद्र्य, यहाँ तक कि जीवन भी क्षणस्थायी है।

उपर्युक्त प्रश्न के दो उत्तर हैं। एक है—शून्यवादियों की भाँति विश्वास करना कि सब कुछ शून्य है, हम कुछ भी नहीं जान सकते—भूत, भविष्य या वर्तमान के भी सम्बन्ध में कुछ नहीं जान सकते; क्योंकि जो व्यक्ति भूत-भविष्य को अस्वीकार कर केवल वर्तमान को स्वीकार करते हुए उसी में अपनी दृष्टि को सीमित रखना चाहता है, वह केवल कोरी बकवास करनेवाला

है। यह तो बस वैसा ही हुआ, जैसा माता-पिता के अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए सन्तान के अस्तित्व को स्वीकार करना! दोनों समान रूप से युक्तिसंगत हैं। भूत और भविष्य को अस्वीकार करने का अर्थ है वर्तमान को भी अस्वीकार करना। यह एक भाव हुआ — यह शून्यवादियों का मत। पर मैंने ऐसा मनुष्य आज तक नहीं देखा, जो एक मुहूर्त के लिए भी शून्यवादी हो सके; — मुख से कहना अवश्य बड़ा सरल है।

दूसरा उत्तर यह है कि इस प्रश्न के वास्तविक उत्तर की खोज करो — सत्य की खोज करो — इस नित्य परिवर्तनशील नश्वर जगत् में क्या सत्य है इसकी खोज करो। कुछ भौतिक परमाणुओं की समष्टिस्वरूप इस देह के भीतर क्या कोई ऐसी चीज है, जो सत्य हो? मानवजीवन के इतिहास में सदैव इस तत्त्व का अन्वेषण किया गया है। हम देखते हैं कि अति प्राचीन काल से ही मनुष्य के मन में इस तत्त्व का अस्पष्ट प्रकाश उद्भासित हो गया था। हम देखते हैं कि उसी समय से मनुष्य ने स्थूल देह से अतीत एक अन्य देह का भी पता पा लिया है, जो अनेक अंशों में इस स्थूल देह के ही समान होने पर भी पूर्ण रूप से वैसा नहीं है; वह स्थूल देह से श्रेष्ठ है — शरीर का नाश हो जाने पर भी उसका नाश नहीं होता। हम ऋग्वेद के एक सूक्त में, मृत शरीर का दाह करनेवाले अग्निदेव के प्रति यह मंत्र पाते हैं — "हे अग्नि! तुम इसे अपने हाथों में लेकर धीरे-धीरे ले जाओ — इसे सर्वांगसुन्दर, ज्योतिर्मय देह से सम्पन्न करो — इसे उसी स्थान में ले जाओ, जहाँ पितृगण वास करते हैं, जहाँ दुःख नहीं है, जहाँ मृत्यु नहीं है।" तुम देखोगे कि सभी धर्मों में यह भाव विद्यमान है, और इसके साथ ही हम

और एक तत्व पाते हैं। आश्चर्य की बात है कि सभी धर्म एक स्वर से घोषणा करते हैं कि मनुष्य पहले निष्पाप और पवित्र था, पर आज उसकी अवनति हो गई है। इस भाव को फिर वे रूपक की भाषा में, या दर्शन की स्पष्ट भाषा में अथवा कविता की सुन्दर भाषा में क्यों न प्रकाशित करें, पर वे सब-के-सब अवश्य इस एक तत्व की घोषणा करते हैं। सभी शास्त्रों और पुराणों में यही एक तत्व पाया जाता है कि मनुष्य जैसा पहले था, वैसा अब नहीं है—आज वह पहले से गिरी हुई दशा में है। यहूदियों के शास्त्र बाइबिल के प्राचीन भाग में आदम के पतन की जो कथा है, उसका भी मर्म वास्तव में यही है। हिन्दू शास्त्रों में इसका बार-बार उल्लेख हुआ है। हिन्दुओं ने सतयुग कहकर जिस युग का वर्णन किया है—जब कि मनुष्य की मृत्यु उसकी इच्छानुसार होती थी, जब मनुष्य जितने दिन चाहे अपने शरीर को धारण कर सकता था, जब मनुष्यों का मन शुद्ध और दृढ़ था—उसमें भी इसी सार्वभौमिक सत्य का इशारा दीखता है। वे कहते हैं कि उस समय मृत्यु नहीं थी, किसी प्रकार का अशुभ या दुःख नहीं था, और वर्तमान युग उसी उन्नत अवस्था का अवनत-भाव मात्र है। इस वर्णन के साथ-साथ हम सभी धर्मों में जल-प्लावन अर्थात् प्रलय का वर्णन भी पाते हैं। प्रलय की कथा ही इस बात को प्रमाणित करती है कि सभी धर्म वर्तमान युग को प्राचीन युग की अवनत अवस्था ही मानते हैं। क्रमशः जगत् की अवनति क्रमशः बढ़ती गई। इसके बाद जब प्रलय हुआ, तो अधिकांश जगत् उसमें डूब गया। फिर उन्नति आरम्भ हुई। और अब यह जगत् अपनी उसी प्राचीन, पवित्र अवस्था को प्राप्त करने के लिए धीरे-धीरे अग्रसर हो रहा है। आप सब

Old Testament (पुराने बाइबिल) की प्रलय की कथा जानते ही हैं। ठीक इसी प्रकार की कथा प्राचीन बेबीलोन, मिस्र, चीन और हिन्दुओं में भी प्रचलित थी। हिन्दू शास्त्रों में प्रलय का इस प्रकार का वर्णन है :—

महर्षि मनु जब एक दिन गंगातट पर सन्ध्या-वन्दन में लगे थे, तब एक छोटीसी मछली ने आकर उनसे कहा, 'मुझे आश्रय दीजिए।' मनु ने उसी क्षण पास रखे हुए पात्र में उसे रखकर उससे पूछा, 'तू क्या चाहती है ?' मछली बोली, 'एक बड़ी मछली मुझे मार डालने के लिए मेरा पीछा कर रही है। आप मेरी रक्षा कीजिए।' मनु उसे घर ले गए। सबेरे देखा, वह बढ़कर पात्र के बराबर हो गई है। मछली बोली, 'मैं अब इस पात्र में नहीं रह सकती।' तब मनु ने उसे एक कुण्ड में रख दिया। दूसरे दिन वह कुण्ड के बराबर हो गई और कहने लगी, 'मैं इसमें भी नहीं रह सकती।' तब मनु ने उसे नदी में डाल दिया। सबेरे देखा कि उसका शरीर सारी नदी में फैल गया है। तब उन्होंने उसे समुद्र में डाल दिया। तब मछली कहने लगी, 'मनु, मैं जगत् का सृष्टिकर्ता हूँ! मैं प्रलय से जगत् को ध्वस करूँगा। तुम्हें सावधान करने के लिए मैं मछली का रूप धारण करके आया था। तुम एक बहुत बड़ी नौका बनाकर उसमें सभी प्रकार के प्राणियों का एक-एक जोड़ा रखकर उनकी रक्षा करो और स्वयं भी सपरिवार उसमें जा बैठो। जब सारी पृथ्वी जल में डूब जायगी, तब उस जल में तुम्हें मेरा एक सींग (काँटा) दिखेगा, तुम नौका को उससे बाँध देना। उसके बाद जल घट जाने पर नौका से उतरकर प्रजावृद्धि करना।' इस प्रकार भगवान के कथनानुसार प्रलय हुआ और मनु ने अपने परिवार सहित प्रत्येक जन्तु के

एक-एक जोड़े और उद्भिदों के बीज की प्रलय से रक्षा क
और प्रलय समाप्त हो जाने पर इस नौका से उतरकर वे प्रज
उत्पन्न करने में लग गए—और हम लोग मनु के वंशज हो
के कारण मानव कहलाने लगे (मन् धातु से मनु बनता है
मन् धातु का अर्थ है मनन अर्थात् चिन्तन करना)।

अब देखो, मानवी भाषा उस आभ्यन्तरिक सत्य को प्रका
शित करने का प्रयत्न मात्र है। मेरा तो स्थिर विश्वास है कि
एक छोटा बच्चा भी अपनी अस्पष्ट, तोतली बोली में उच्चतम
दार्शनिक सत्य को प्रकट करने की चेष्टा कर रहा है—पर हाँ,
उसके पास उसे प्रकाशित करने के लिए कोई उपयुक्त इन्द्रिय
अथवा साधन नहीं है। उच्चतम दार्शनिक और शिशु की भाषा
में जो भेद है, वह प्रकार-गत नहीं है, वह है केवल मात्रा
(degree) का। आजकल की विशुद्ध, प्रणालीबद्ध, गणित के
समान कटी-छँटी भाषा और प्राचीन ऋषियों की अस्फुट,
रहस्यमय, पौराणिक भाषा में अन्तर केवल मात्रा के तारतम्य
में है। इन सब कथाओं के पीछे एक महान् सत्य छिपा है, जिसे
प्रकाशित करने का प्राचीन लोग मानो प्रयत्न कर रहे हैं।
बहुधा इन सब प्राचीन, पौराणिक कथाओं के भीतर ही बहुमूल्य
सत्य रहता है, और मुझे यह कहते दुःख होता है कि आधुनिक
लोगों की चटपटी भाषा में बहुधा भूसी ही रहती है, तत्त्व नहीं।
अतएव, रूपक में सत्य छिपा है यह कहकर, अथवा अमुक-तमुक
की समझ में यह बात नहीं आती यह कहकर सभी प्राचीन बातों
को एक किनारे कर देना उचित नहीं। 'अमुक महापुरुष ने ऐसा
कहा है, अतएव इस पर विश्वास करो'—इस प्रकार घोषणा
करने के कारण ही यदि सभी धर्म उपहासास्पद हो जाते हों,

तो आजकल के लोग और भी अधिक उपहासास्पद हैं। जकल यदि कोई मूसा, बुद्ध अथवा ईसा की उक्ति उद्धृत ता है, तो उसकी हँसी उड़ाई जाती है; किन्तु हक्सले, टिण्डल था डारविन का नाम लेते ही बात एकदम अकाट्य और माणिक बन जाती है! 'हक्सले ने ऐसा कहा है' इतना ना ही बहुतों के लिए पर्याप्त है! हम लोग सचमुच अन्ध-श्वास से मुक्त हैं! पहले था धर्म का कुसंस्कार, अब है ज्ञान का कुसंस्कार; फिर भी पहले के कुसंस्कार में से एक वनप्रद आध्यात्मिक भाव आता था, पर आधुनिक कुसंस्कार भीतर से तो केवल काम और लोभ ही आ रहे हैं। वह धविश्वास था ईश्वर की उपासना को लेकर, और आजकल अन्धविश्वास है महाघृणित धन, यश और शक्ति की उपा-ना को लेकर। बस यही भेद है।

हाँ, तो पौराणिक कथाओं की बात चल रही थी। इन भी कथाओं में यही एक प्रधान भाव देखने में आता है कि मनुष्य जिस अवस्था में पहले था, अब उससे गिरी हुई दशा में है। आजकल के तत्त्वान्वेषी इस बात को एकदम अस्वीकार करते हैं। क्रमविकासवादी विद्वानों ने तो मानो इस सत्य का सम्पूर्ण रूप से खण्डन ही कर दिया है। उनके मत से मनुष्य एक विशेष प्रकार के क्षुद्र मांसल जन्तु (Mollusc) का क्रमविकास मात्र है, अतएव पूर्वोक्त पौराणिक सिद्धान्त सत्य नहीं हो सकता। पर भारतीय पुराण दोनों मतों का समन्वय करने में समर्थ है। भारतीय पुराण के मतानुसार सभी प्रकार की उन्नति तरंगाकार में होती है। प्रत्येक तरंग एक बार उठती है, फिर गिरती है, गिरकर फिर उठती है और फिर गिरती है। इसी

प्रकार क्रम चलता रहता है। प्रत्येक गति चक्राकार में होती है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से देखने पर भी यह दिखेगा कि मनुष्य केवल क्रमविकास का परिणाम है यह बात सिद्ध नहीं होती। क्रमविकास कहने के साथ-ही-साथ क्रमसंकोच की प्रक्रिया को भी मानना पड़ेगा। विज्ञानवेत्ता ही तुमसे कहते हैं कि किसी यन्त्र में तुम जितनी शक्ति का प्रयोग करोगे, उसमें से तुम्हें बस उतनी ही शक्ति मिल सकती है। असत् (कुछ नहीं) से कभी भी सत् (कुछ) की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि मानव—पूर्ण मानव—बुद्ध-मानव, ईसा-मानव एक क्षुद्र मांसल जन्तु का ही क्रमविकास हो, तब तो इस क्षुद्र जन्तु को भी क्रमसंकुचित बुद्ध कहना पड़ेगा। यदि ऐसा न हो, तो ये सब महापुरुष फिर कहाँ से उत्पन्न हुए? असत् से तो कभी सत् की उत्पत्ति नहीं होती। इसी प्रकार हम शास्त्र के साथ आधुनिक विज्ञान का समन्वय कर पाते हैं। जो शक्ति धीरे-धीरे नाना सोपानों में से होती हुई पूर्ण मनुष्य के रूप में परिणत होती है, वह कभी भी शून्य से उत्पन्न नहीं हो सकती। वह कहीं-न-कहीं अवश्य वर्तमान थी; और यदि तुम विश्लेषण करते-करते इस प्रकार के क्षुद्र दानेदार जन्तुविशेष या जीवाणु (Protoplasm) तक ही पहुँचकर, उसी को आदिकारण सिद्ध करते हो, तो यह निश्चय है कि इस जीवाणु में ही यह शक्ति किसी-न-किसी रूप में विद्यमान थी। आजकल यही एक महान् विचार चल रहा है कि क्या पंचभूतों की समष्टि यह देह ही आत्मा, चिन्तन-शक्ति या विचार आदि नामों से परिचित शक्तियों के विकास का कारण है? अथवा चिन्तन-शक्ति ही देहोत्पत्ति का कारण है? निश्चय ही संसार के सभी धर्म कहते हैं कि विचार नामक

अधिक युक्तिसंगत है कि जो शक्ति जड़राशि को लेक
उससे शरीर का निर्माण करती है और जो शक्ति शरीर के
भीतर प्रकाशित है, वे दोनों एक ही हैं। अतः यह कहना कि
'जो चिन्तन-शक्ति हमारे शरीर में प्रकाशित है, वह केवल जड़
अणुओं के संयोग से उत्पन्न होती है और इसी लिए शरीर से
पृथक् उसका कोई अस्तित्व नहीं' बिलकुल निरर्थक है—इस
कथन में कोई तथ्य नहीं। फिर, शक्ति कभी जड़वस्तु से उत्पन्न
हो नहीं सकती। बल्कि यह प्रमाणित करना अधिक सम्भव है
कि हम जिसे जड़ कहकर पुकारते हैं, उसका अस्तित्व ही नहीं
है, वह केवल शक्ति की एक विशेष अवस्था है। यह सिद्ध
किया जा सकता है कि ठोसता आदि जो सब जड़ के गुण हैं, वे
विभिन्न रूप के स्पन्दनों के फल हैं। जड़ परमाणुओं में प्रबल
स्पन्दन या कम्पन उत्पन्न कर देने से वे ठोस हो जायँगे। थोड़ीसी
वायुराशि में यदि अतिशय प्रबल गति उत्पन्न कर दी जाय, तो
वह मेज से भी अधिक ठोस मालूम होगी। हवा यदि प्रबल
बवंडर के समान गतिशील हो जाय, तो वह लोहे के डण्डे को
भी मोड़कर तोड़ डालेगी—केवल गतिशीलता के द्वारा उसमें
इस प्रकार ठोसता का धर्म या गुण उत्पन्न हो जायगा। इस
दृष्टान्त से यह कल्पना की जा सकती है कि अननुभाव्य, अजड़
ईथर को यदि प्रबल गति से घुमाया जाय, तो इसमें जड़ पदार्थों
के सभी गुणों का सादृश्य दीख पड़ेगा। इस प्रकार से विचार
करने पर यह सिद्ध करना सहज है कि हम जिन्हें पंचभूत कहते
हैं, उनका कोई अस्तित्व नहीं है। किन्तु दूसरा मत सिद्ध नहीं
किया जा सकता।

शरीर के भीतर यह जो शक्ति का विकास देखा जाता

है, यह है क्या? हम सभी यह बात सरलता से समझ सकते हैं कि यही शक्ति, फिर वह चाहे जो हो, जड़ परमाणुओं को लेकर उनसे एक विशेष आकृति—मनुष्य देह—तैयार कर रही है। अन्य कोई आकर तुम्हारे या मेरे शरीर को नहीं बना देता। ऐसा मैंने कभी नहीं देखा कि दूसरा कोई मेरे लिए भोजन कर लेता हो। मुझे ही इस भोजन का सार शरीर में लेकर उससे रक्त, मांस, अस्थि आदि का गठन करना पड़ता है। यह अद्‌भुत शक्ति क्या है? बहुतों को भूत और भविष्य सम्बन्धी सिद्धान्त भयावह प्रतीत होते हैं, बहुतों को तो वे केवल आनुमानिक व्यापार ही प्रतीत होते हैं। अतएव वर्तमान में क्या होता है, हम यही समझने की चेष्टा करेंगे। हम वर्तमान विषय को ही लेंगे। वह शक्ति क्या है, जो इस समय हममें काम कर रही है? हम देख चुके हैं कि सभी प्राचीन शास्त्रों में इस शक्ति को लोगों ने इसी शरीर की *आकृतिवाला एक ज्योतिर्मय पदार्थ* माना है; उनका विश्वास था कि वह इस शरीर के चले जाने पर भी बचा रहेगा। क्रमशः हम देखते हैं कि केवल ज्योतिर्मय देह कहने से सन्तोष नहीं होता—एक और भी ऊँचा भाव लोगों के मन पर अधिकार करता दिखाई देता है। वह यह है कि किसी प्रकार का शरीर शक्ति का स्थान नहीं ले सकता। जिस किसी वस्तु की आकृति है, वह बहुतसे परमाणुओं की एक संहति मात्र है, अतएव उसको चलाने के लिए दूसरी कोई चीज चाहिए। यदि इस शरीर का गठन और परिचालन करने के लिए इस शरीर से भिन्न अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता होती हो, तो इसी तर्क के बल पर, इस ज्योतिर्मय देह का गठन और परिचालन करने के लिए भी इससे भिन्न अन्य कोई वस्तु

चाहिए। यह "अन्य कोई वस्तु" ही आत्मा नाम से सम्बोधित हुई। आत्मा ही इस ज्योतिर्मय देह में से मानो स्थूल शरीर पर काम कर रही है। यह ज्योतिर्मय शरीर ही मन का आधार कहा जाता है, और आत्मा इससे अतीत है। आत्मा मन नहीं है, वह मन पर कार्य करती है और मन के माध्यम से शरीर पर। तुम्हारे एक आत्मा है, मेरे भी एक आत्मा है—सभी के अलग-अलग आत्मा है और एक-एक सूक्ष्म शरीर भी; इस सूक्ष्म शरीर की सहायता से हम स्थूल शरीर पर कार्य करते हैं। अब प्रश्न उठने लगा—आत्मा और उसके स्वरूप के सम्बन्ध में। शरीर और मन से पृथक् इस आत्मा का क्या स्वरूप है? बहुतसे वाद-प्रतिवाद होने लगे, नाना प्रकार के सिद्धान्त और अनुमान होने लगे, अनेकविध दार्शनिक अनुसन्धान होने लगे। इस आत्मा के सम्बन्ध में वे जिन सिद्धान्तों पर पहुँचे, मैं आपके समक्ष उनका वर्णन करने का प्रयत्न करूँगा।

भिन्न-भिन्न दर्शनों का इस विषय में मतैक्य देखा जाता है कि आत्मा का स्वरूप जो कुछ भी हो, उसकी कोई *आकृति नहीं है, और जिसकी आकृति नहीं, वह अवश्य* सर्वव्यापी होगा। काल मन के अन्तर्गत है—देश भी मन के अन्तर्गत है। काल को छोड़ कार्य-कारण-भाव नहीं रह सकता। क्रम की भावना के बिना कार्य-कारण-भाव नहीं रह सकता। अतएव, देश-काल-निमित्त मन के अन्तर्गत हैं और यह आत्मा, मन से अतीत और निराकार होने के कारण, देश-काल-निमित्त से परे है। और जब वह देश-काल-निमित्त से अतीत है, तो अवश्य अनन्त होगी। अब इस बार हिन्दूदर्शन का उच्चतम विचार आता है। अनन्त कभी दो नहीं हो सकता। यदि आत्मा

अनन्त है, तो केवल एक ही आत्मा हो सकती है, और यह जो अनेक आत्माओं की धारणा है—तुम्हारी एक आत्मा, मेरी दूसरी आत्मा—यह सत्य नहीं है। अतएव मनुष्य का प्रकृत स्वरूप एक ही है, वह अनन्त और सर्वव्यापी है, और यह व्यावहारिक जीव मनुष्य के इस वास्तविक स्वरूप का एक सीमाबद्ध भाव मात्र है। इसी अर्थ में पूर्वोक्त पौराणिक तत्त्व भी सत्य हो सकते हैं कि व्यावहारिक जीव, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, मनुष्य के इस अतीन्द्रिय, प्रकृत स्वरूप का अस्फुट प्रतिबिम्ब मात्र है। अतएव मनुष्य का प्रकृत स्वरूप—आत्मा—कार्य-कारण से अतीत होने के कारण, देश-काल से अतीत होने के कारण, अवश्य मुक्तस्वभाव है। वह कभी बद्ध नहीं थी, उसको बद्ध करने की शक्ति किसी में नहीं थी। यह व्यावहारिक जीव, यह प्रतिबिम्ब, देश-काल-निमित्त के द्वारा सीमाबद्ध होने के कारण बद्ध है। अथवा हमारे कुछ दार्शनिकों की भाषा में यों कहेंगे, "मालूम होता है मानो वह बद्ध हो गई है, पर वास्तव में वह बद्ध नहीं है।" हमारी आत्मा के भीतर जो यथार्थ सत्य है, वह यही कि आत्मा सर्वव्यापी है, अनन्त है, चैतन्यस्वभाव है; हम स्वभाव से ही वैसे हैं—हमें प्रयत्न करके वैसा नहीं बनना पड़ता। प्रत्येक आत्मा अनन्त है, अतः जन्म और मृत्यु का प्रश्न उठ ही नहीं सकता।

कुछ बालक परीक्षा दे रहे थे। परीक्षक कठिन-कठिन प्रश्न पूछ रहे थे। उनमें यह भी प्रश्न था—'पृथ्वी गिरती क्यों नहीं?' वे गुरुत्वाकर्षण के नियम आदि सम्बन्धी उत्तर की आशा कर रहे थे। अधिकतर बालक-बालिकाएँ कोई उत्तर न दे सके। कोई-कोई गुरुत्वाकर्षण या और कुछ कह-

कहकर उत्तर देने लगे। उनमें से एक बुद्धिमती बालिका ने एक और प्रश्न करके इस प्रश्न का समाधान कर दिया— 'पृथ्वी गिरेगी कहाँ पर ?' यह प्रश्न ही तो गलत है! पृथ्वी गिरे कहाँ ? पृथ्वी के लिए गिरने और उठने का कोई अर्थ नहीं। अनन्त देश का ऊपर और नीचे कैसा ? ये दोनों तो सापेक्ष हैं। जो अनन्त है, वह कहाँ जायगा और कहाँ से आयगा ? जब मनुष्य भूत और भविष्य की चिन्ता का—उसका क्या-क्या होगा, इस चिन्ता का—त्याग कर देता है, जब वह देह को सीमाबद्ध और इसलिए उत्पत्ति-विनाशशील जानकर देहाभिमान का त्याग कर देता है, तब वह एक उच्चतर अवस्था में पहुँच जाता है। देह भी आत्मा नहीं और मन भी आत्मा नहीं; क्योंकि इन दोनों का ह्रास और वृद्धि होती है। जड़जगत् से अतीत आत्मा ही अनन्त काल तक रह सकती है। शरीर और मन सतत परिवर्तनशील हैं। वे दोनों परिवर्तनशील कुछ घटना-श्रेणियों के केवल नाम हैं। वे मानो एक नदी के समान हैं, जिसका प्रत्येक जल-परमाणु सतत चलायमान है। फिर भी वह नदी सदा एक-सी ही दिखती है। इस देह का प्रत्येक परमाणु सतत परिणामशील है; किसी भी व्यक्ति का शरीर, कुछ क्षण के लिए भी, एक समान नहीं रहता। फिर भी मन पर एक प्रकार का संस्कार बैठ गया है, जिसके कारण हम इसे एक ही शरीर समझते हैं। मन के सम्बन्ध में भी यही बात है; क्षण में सुखी, क्षण में दुःखी; क्षण में सबल और क्षण में दुर्बल ! वह नियत परिणामशील भँवर के समान है ! अतएव मन भी आत्मा नहीं हो सकता, आत्मा तो अनन्त है। परिवर्तन केवल ससीम वस्तु में ही सम्भव है। अनन्त में किसी प्रकार का परिवर्तन हो,

यह एक असम्भव बात है। यह कभी हो नहीं सकता। शरीर के हिसाब से तुम और मैं एक स्थान से दूसरे स्थान को जा सकते हैं, जगत् का प्रत्येक अणु-परमाणु नित्य परिणामशील है; पर जगत् को एक समष्टि के रूप में लेने पर उसमें फिर गति या परिवर्तन असम्भव है। गति सर्वत्र सापेक्ष है। मैं जब एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता हूँ, तब एक मेज अथवा अन्य किसी वस्तु के साथ तुलना करके ही मेरी यह गति समझ में आ सकती है; जगत् का कोई परमाणु किसी दूसरे परमाणु की तुलना में ही परिणाम को प्राप्त हो सकता है; किन्तु सम्पूर्ण जगत् को एक समष्टिरूप में लेने पर फिर किसकी तुलना में उसका स्थान-परिवर्तन होगा? इस समष्टि के अतिरिक्त और कुछ तो है नहीं। अतएव यह अनन्त एकमेवाद्वितीय, अपरिणामी, अचल और पूर्ण है और यही पारमार्थिक सत्ता है। अतः सत्य सर्वव्यापकता में है, सान्तता में नहीं। यह धारणा कि मैं एक क्षुद्र, सान्त, सतत परिणामी जीव हूँ, कितनी ही सुखद क्यों न हो, फिर भी यह एक पुराना भ्रमज्ञान ही है। यदि किसी से कहो कि 'तुम सर्वव्यापी, अनन्त पुरुष हो', तो वह डर जायगा। सबके भीतर से तुम कार्य कर रहे हो, सब पैरों द्वारा तुम चल रहे हो, सब मुखों से तुम बातचीत कर रहे हो, सब नासिकाओं से तुम श्वास-प्रश्वास ले रहे हो—ऐसी बातें यदि तुम किसी से कहो, तो वह डर जायगा। वह तुमसे बार-बार कहेगा कि यह 'अहं'-ज्ञान कभी जाने का नहीं। लोगों का यह 'मैं' कौनसा है, यह तो मैं देख ही नहीं पाता। यदि देख पाऊँ, तो अच्छा हो!

छोटे बालक के मूँछें नहीं होतीं। बड़े होने पर उसके दाढ़ी-मूँछ निकल आती है। यदि 'अहं' शरीर में रहता होता,

तब तो बालक का 'अहं' नष्ट हो गया होता। यदि 'अहं' शरीरगत होता, तब तो हमारी एक आँख अथवा हाथ नष्ट हो जाने पर 'अहं' भी नष्ट हो जाता। फिर शराबी का शराब छोड़ना ठीक नहीं, क्योंकि तब तो उसका 'अहं' ही नष्ट हो जायगा! चोर का साधु बनना भी ठीक नहीं, क्योंकि इससे वह अपना 'अहं' खो बैठेगा! तब तो फिर कोई भी अपना व्यसन छोड़ना न चाहेगा। पर बात यह है कि अनन्त को छोड़कर और किसी में 'अहं' है ही नहीं। केवल इस अनन्त का ही परिवर्तन नहीं होता, और शेष सभी का सतत परिणाम होता रहता है। 'अहं'-भाव स्मृति में भी नहीं है। स्मृति में यदि 'अहं'-भाव रहता, तो मस्तिष्क में गहरी चोट लगने से स्मृति-लोप हो जाने पर, वह 'अहं' भी नष्ट हो जाता और हमारा बिलकुल लोप हो जाता! बचपन के पहले दो-तीन वर्षों का मुझे कोई स्मरण नहीं; यदि स्मृति पर मेरा अस्तित्व निर्भर होता, तो फिर कहना पड़ेगा कि ये दो-तीन वर्ष मेरा अस्तित्व ही नहीं था। तब तो, मेरे जीवन का जो अंश मुझे स्मरण नहीं, उस समय में जीवित ही नहीं था—यही कहना पड़ेगा। हाँ, यह बात 'अहं' के बहुत संकीर्ण अर्थ में है। हम अभी तक 'मैं' नहीं हैं। हम इसी 'मैं' को प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे हैं—वह अनन्त है, वही मनुष्य का प्रकृत स्वरूप है। जिनका जीवन सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त किए हुए है, वे ही जीवित हैं, और हम जितना ही अपने जीवन को शरीर आदि छोटे-छोटे सान्त पदार्थों में बद्ध करके रखेंगे, उतना ही हम मृत्यु की ओर अग्रसर होंगे। जितने क्षण हमारा जीवन समस्त जगत् में व्याप्त रहता है, दूसरों में व्याप्त रहता है, उतने ही क्षण हम जीवित रहते हैं। इस क्षुद्र जीवन में अपने को

बद्ध कर रखना तो मृत्यु है और इसी कारण हमें मृत्यु-भय होता है। मृत्यु-भय तो तभी जीता जा सकता है, जब मनुष्य यह समझ ले कि जब तक जगत् में एक भी जीवन शेष है, तब तक वह भी जीवित है। ऐसे व्यक्तियों को यह उपलब्धि होती है कि मैं सब वस्तुओं में, सब देहों में वर्तमान हूँ। सब प्राणियों में मैं ही वर्तमान हूँ। मैं ही यह जगत् हूँ, सम्पूर्ण जगत् ही मेरा शरीर है! जब तक एक भी परमाणु शेष है, तब तक मेरी मृत्यु कहाँ? कौन कहता है कि मेरी मृत्यु होगी? तब ऐसे व्यक्ति निर्भय हो जाते हैं, तभी यह निर्भीक अवस्था आती है। सतत परिणामशील छोटी-छोटी वस्तुओं में अविनाशत्व कहना भारी भूल है। एक प्राचीन भारतीय दार्शनिक ने कहा है कि आत्मा अनन्त है, इसलिए आत्मा ही 'अहं' हो सकती है। अनन्त का विभाजन नहीं किया जा सकता—अनन्त को खण्ड-खण्ड नहीं किया जा सकता। वह सदा एक, अविभक्त समष्टिस्वरूप, अनन्त आत्मा ही है और वही मनुष्य का यथार्थ 'मैं' है, वही 'प्रकृत मनुष्य' है। 'मनुष्य' के नाम से जिसको हम जानते हैं, वह इस 'मैं' को व्यक्त जगत् में प्रकाशित करने के प्रयत्न का फल मात्र है; 'क्रमविकास' आत्मा में नहीं है। यह जो सब परिवर्तन हो रहा है—बुरा व्यक्ति भला हो रहा है, पशु मनुष्य हो रहा है—यह सब कभी आत्मा में नहीं होता। कल्पना करो कि एक पर्दा मेरे सामने है और उसमें एक छोटासा छिद्र है, जिसमें से मैं केवल कुछ चेहरे देख सकता हूँ। यह छिद्र जितना बड़ा होता जाता है, सामने का दृश्य उतना ही अधिक मेरे सम्मुख प्रकाशित होता जाता है, और जब यह छिद्र पूरे पर्दे को व्याप्त कर लेता है, तब मैं तुम सबको स्पष्ट देख लेता हूँ। यहाँ पर, तुममें कोई

परिवर्तन नहीं हुआ; तुम जो थे, वही रहे। केवल छिद्र का क्रमविकास होता रहा, और उसके साथ-साथ तुम्हारा प्रकाश होता रहा। आत्मा के सम्बन्ध में भी यही बात है। तुम मुक्त-स्वभाव और पूर्ण हो—उसे प्रयत्न करके मिलाना नहीं पड़ता। धर्म, ईश्वर या परलोक सम्बन्धी ये सब धारणाएँ कहाँ से आईं? मनुष्य 'ईश्वर, ईश्वर' करता क्यों घूमता फिरता है? सभी देशों में, सभी समाजों में मनुष्य क्यों पूर्ण आदर्श का अन्वेषण करता फिरता है—भले ही वह आदर्श मनुष्य में हो अथवा ईश्वर में या अन्य किसी वस्तु में? इसलिए कि वह तुम्हारे भीतर ही वर्तमान है। तुम्हारा अपना ही हृदय धक्-धक् कर रहा है, और तुम सोचते हो कि बाहर की कोई वस्तु यह शब्द कर रही है। तुम्हारी आत्मा में विराजमान ईश्वर ही तुम्हें अपना अनुसन्धान करने को—अपनी उपलब्धि करने को प्रेरित कर रहा है। यहाँ, वहाँ, मन्दिर में, गिरजाघर में, स्वर्ग में, मर्त्य में, विभिन्न स्थानों में, अनेक उपायों से अन्वेषण करने के बाद अन्त में हमने जहाँ से आरम्भ किया था, वहीं अर्थात् अपनी आत्मा में ही हम गोल-गोल घूमकर वापस आ जाते हैं और देखते हैं कि जिसकी हम समस्त जगत् में खोज करते फिर रहे थे, जिसके लिए हमने मन्दिरों और गिरजों में जा-जा कातर होकर प्रार्थनाएँ कीं, आँसू बहाए, जिसको हम सुदूर आकाश में मेघराशि के पीछे छिपा हुआ अव्यक्त और रहस्यमय समझते रहे, वह हमारे निकट से भी निकट है, प्राणों का प्राण है, हमारा शरीर है, हमारी आत्मा है—तुम ही 'मैं' हो, मैं ही 'तुम' हूँ। यही तुम्हारा स्वरूप है—इसी को अभिव्यक्त करो। तुम्हें पवित्र होना नहीं पड़ेगा—तुम तो स्वयं पवित्रस्वरूप ही हो।

तुम्हें पूर्ण होना नहीं पड़ेगा—तुम तो पूर्णस्वरूप ही हो। सारी प्रकृति अपने अन्दर के सत्य को पर्दे के समान ढांके हुए है। तुम जो कुछ भी अच्छा विचार या अच्छा कार्य करते हो, उससे मानो वह आवरण धीरे-धीरे छिन्न होता रहता है और प्रकृति के अन्दर स्थित वे शुद्धस्वरूप, अनन्त ईश्वर प्रकाशित होते रहते हैं। यही मनुष्य का सारा इतिहास है। यह आवरण जितना ही सूक्ष्म होता जाता है, उतना ही प्रकृति के अन्दर स्थित प्रकाश भी अपने स्वभाववश क्रमशः अधिकाधिक दीप्त होता जाता है, क्योंकि उसका स्वभाव ही इस प्रकार दीप्त होना है। उसको जाना नहीं जा सकता, हम उसे जानने का वृथा ही प्रयत्न करते रहते हैं। यदि वह ज्ञेय होता, तो उसका स्वभाव ही बदल जाता, क्योंकि वह तो नित्यज्ञाता है। ज्ञान ससीम है; किसी वस्तु का ज्ञान-लाभ करने के लिए उसका चिन्तन ज्ञेय वस्तु के रूप में, विषय के रूप में करना पड़ता है। वह तो सारी वस्तुओं का ज्ञातास्वरूप है, सब विषयों का विषयीस्वरूप है, इस विश्व-ब्रह्माण्ड का साक्षीस्वरूप है, तुम्हारी ही आत्मास्वरूप है। ज्ञान तो मानो एक निम्न अवस्था है—एक अवनत भाव मात्र है। हम ही वह आत्मा हैं, फिर उसे हम किस प्रकार जानेंगे? प्रत्येक व्यक्ति वह आत्मा है और सब लोग विभिन्न उपायों से इसी आत्मा को जीवन में प्रकाशित करने का प्रयत्न कर रहे हैं? यदि ऐसा न होता, तो ये सब नीतिप्रणालियाँ कहाँ से आतीं? सारी नीतिप्रणालियों का तात्पर्य क्या है? सभी नीतिप्रणालियों में एक ही भाव भिन्न-भिन्न रूप से प्रकाशित हुआ है और वह है—दूसरों का उपकार करना। मनुष्यों के प्रति, सारे प्राणियों के प्रति दया ही मानव-जाति के समस्त सत्कर्मों का मूल आधार है, और ये सब 'मैं ही जगत् हूँ,

यह जगत् एक अखण्डस्वरूप है,' इसी सनातन सत्य के विभिन्न भाव मात्र हैं। यदि ऐसा न हो, तो दूसरों का हित करने में भला कौनसी युक्ति है? मैं क्यों दूसरों का उपकार करूँ? परोपकार करने को मुझे कौन बाध्य करता है? सर्वत्र समदर्शन से उत्पन्न जो सहानुभूति का भाव है, उसी से यह भाव होता है। अत्यन्त कठोर अन्तःकरण भी कभी-कभी दूसरों के प्रति सहानुभूति से भर जाता है। और तो और, जो व्यक्ति 'यह आपातप्रतीयमान 'अहं' वास्तव में भ्रम मात्र है, इस भ्रमात्मक 'अहं' में आसक्त रहना अत्यन्त नीच कार्य है' ये सब बातें सुनकर भयभीत हो जाता है, वही व्यक्ति तुमसे कहेगा कि सम्पूर्ण आत्मत्याग ही सब नीतियों की भित्ति है। किन्तु पूर्ण आत्मत्याग क्या है? सम्पूर्ण आत्मत्याग हो जाने पर क्या शेष रहता है? आत्मत्याग का अर्थ है इस आपात-प्रतीयमान 'अहं' का त्याग, सब प्रकार की स्वार्थपरता का त्याग। यह अहंकार और ममता पूर्व कुसंस्कारों के फल हैं और जितना ही इस 'अहं' का त्याग होता जाता है, उतनी ही आत्मा अपने नित्य स्वरूप में, अपनी पूर्ण महिमा में प्रकाशित होती है। यही वास्तविक आत्मत्याग है और यही समस्त नैतिक शिक्षा की भित्ति है, केन्द्र है। मनुष्य इसे जाने या न जाने, समस्त जगत् धीरे-धीरे इसी दिशा में जा रहा है, अल्पाधिक परिमाण में इसी का अभ्यास कर रहा है। बात इतनी है कि अधिकतर लोग इसे अज्ञात भाव से कर रहे हैं। वे इसे ज्ञात भाव से करें। यह 'मैं' और 'मेरा' प्रकृत आत्मा नहीं है यह जानकर वे इस त्याग-यज्ञ का अनुष्ठान करें। यह व्यावहारिक जीव ससीम जगत् में आबद्ध है। आज जो मनुष्य नाम से परिचित

है, वह जगत् के अतीत उस अनन्त सत्ता का सामान्य आभास मात्र है, उस सर्वस्वरूप अनन्त अग्नि का एक कण मात्र है। किन्तु वह अनन्त ही उसका वास्तविक स्वरूप है।

इस ज्ञान का फल---इस ज्ञान की उपयोगिता क्या है? आजकल सभी विषयों को उनकी उपयोगिता के मापदण्ड से नापा जाता है। अर्थात् संक्षेप में यह कि इससे कितने रुपए, कितने आने और कितने पैसों का लाभ होगा? लोगों को इस प्रकार प्रश्न करने का क्या अधिकार है? क्या सत्य को भी उपकार या धन के मापदण्ड से नापा जायगा? मान लो कि उससे कोई लाभ नहीं होता, तो क्या इससे सत्य कुछ कम सत्य हो जायगा? उपकार अथवा प्रयोजन (Bentham's Utilitarianism and Jame's Pragmatism) सत्य का निर्णायक कभी नहीं हो सकता। जो भी हो, इस ज्ञान में बड़ा उपकार तथा प्रयोजन भी है। हम देखते हैं, सब लोग सुख की खोज करते हैं; पर अधिकतर लोग नश्वर, मिथ्या वस्तुओं में उसको ढूँढ़ते फिरते हैं। इन्द्रियों में कभी किसी को सुख नहीं मिलता। सुख तो केवल आत्मा में मिलता है। अतएव आत्मा में इस सुख की प्राप्ति ही मनुष्य का सबसे बड़ा प्रयोजन है। और एक बात यह है कि अज्ञान ही सब दुःखों का कारण है, और मेरी समझ में सबसे बड़ा अज्ञान तो यही है कि जो अनन्तस्वरूप है, वह अपने को सान्त मानकर रोता है; समस्त अज्ञान की मूलभित्ति यही है कि हम अविनाशी, नित्य शुद्ध पूर्ण आत्मा होते हुए भी सोचते हैं कि हम छोटे-छोटे मन हैं, छोटी-छोटी देह मात्र हैं; यही समस्त स्वार्थपरता की जड़ है। ज्योंही मैं अपने को एक क्षुद्र देह समझ बैठता हूँ, त्योंही मैं संसार के

अन्यान्य शरीरों के सुख-दुःख की कोई परवाह न करते हुए अपने शरीर की रक्षा में, उसे सुन्दर बनाने के प्रयत्न में लग जाता हूँ। उस समय मैं तुमसे भिन्न हो जाता हूँ। ज्योंही यह भेद-ज्ञान आता है, त्योंही वह सब प्रकार के अमंगल के द्वार खोल देता है और सर्वविध दुःखों की उत्पत्ति करता है। अतः पूर्वोक्त ज्ञान की प्राप्ति से लाभ यह होगा कि यदि वर्तमान मानव-जाति का एक बिलकुल छोटासा अंश भी इस क्षुद्र भाव का त्याग कर सके, तो कल ही यह संसार स्वर्ग में परिणत हो जायगा; पर नाना प्रकार के यन्त्र तथा बाह्य जगत् सम्बन्धी ज्ञान की उन्नति से यह कभी सम्पन्न नहीं हो सकता। जिस प्रकार अग्नि में घी डालने से अग्निशिखा और भी वर्धित होती है, उसी प्रकार इन सब वस्तुओं से दुःखों की ही वृद्धि होती है। आत्मा के ज्ञान बिना जो कुछ भौतिक ज्ञान उपार्जित किया जाता है, वह सब आग में घी डालने के समान है। उससे दूसरों के लिए प्राण उत्सर्ग कर देने की बात तो दूर ही रही, स्वार्थपर लोगों को दूसरों की चीजें हर लेने के लिए, दूसरों के रक्त पर फलने-फूलने के लिए एक और यंत्र—एक और सुविधा मिल जाती है।

एक और प्रश्न है—क्या इसे कार्य-रूप में परिणत करना सम्भव है? वर्तमान समाज में क्या इसे कार्य-रूप में परिणत किया जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि सत्य, प्राचीन अथवा आधुनिक किसी समाज का सम्मान नहीं करता। समाज को ही सत्य का सम्मान करना पड़ेगा, अन्यथा समाज ध्वंस हो जाय, कोई हानि नहीं। सत्य ही सारे प्राणियों और समाजों का मूल आधार है, अतः सत्य कभी भी समाज के अनुसार

अपना गठन नहीं करेगा। यदि निःस्वार्थपरता के समान महान् सत्य समाज में कार्य-रूप में परिणत न किया जा सकता हो, तो ऐसे समाज को छोड़कर वन में जाकर बसना ही बेहतर है। इसी का नाम साहस है। साहस दो प्रकार का होता है। एक प्रकार का साहस है—तोप के मुँह में दौड़ जाना। यदि यही वास्तविक साहस होता, तो सिंह आदि मनुष्य से श्रेष्ठ होते। किन्तु एक दूसरे प्रकार का साहस है, जिसे सात्त्विक साहस कह सकते हैं।

एक बार एक दिग्विजयी सम्राट् भारतवर्ष में आया। उसके गुरु ने उसे भारतीय साधुओं से साक्षात्कार करने का आदेश दिया था। बहुत खोज करने के बाद उसने देखा कि एक वृद्ध साधु एक पत्थर पर बैठे हैं। सम्राट् को उनके साथ कुछ देर बातचीत करने से बड़ा सन्तोष हुआ। अतएव उसने साधु को अपने साथ देश ले जाने की इच्छा प्रकट की। साधु ने इसे स्वीकार नहीं किया और कहा, "मैं इस वन में बड़े आनन्द में हूँ।" सम्राट् बोला, "मैं समस्त पृथ्वी का सम्राट् हूँ। मैं आपको असीम ऐश्वर्य और उच्च पद-मर्यादा दूँगा।" साधु बोले, "ऐश्वर्य, पद-मर्यादा आदि किसी बात की मेरी इच्छा नहीं।" तब सम्राट् ने कहा, "आप यदि मेरे साथ न चलेंगे, तो मैं आपको मार डालूँगा।" इस पर साधु बहुत हँसे और बोले, "राजन्, आज तुमने अपने जीवन में सबसे मूर्खतापूर्ण बात कही। तुम्हारी क्या हस्ती कि मुझे मारो? सूर्य मुझे सुखा नहीं सकता, अग्नि मुझे जला नहीं सकती, कोई भी यंत्र मेरा संहार नहीं कर सकता, क्योंकि मैं तो जन्मरहित, अविनाशी, नित्य-विद्यमान, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान आत्मा हूँ।" यही दूसरे प्रकार का साहस है। सन् १८५७ ई. के गदर के समय एक

मुसलमान सिपाही ने एक संन्यासी महात्मा को बुरी तरह घा
कर दिया। हिन्दू सिपाहियों ने उस मुसलमान को पकड़ लि
और उसे स्वामीजी के पास लाकर कहा, "आप कहें, तो इसक
खाल खींच लें!" स्वामीजी ने उसकी ओर देखकर कहा, "भा
तुम्हीं वह हो, तुम्हीं वह हो—तत्त्वमसि।" और यह कहते-कह
उन्होंने शरीर छोड़ दिया। यह भी एक प्रकार का साहस है
यदि तुम सत्य के आदर्श पर समाज का गठन नहीं कर सकते
यदि तुम ऐसा समाज नहीं गढ़ सकते, जिसमें उस सर्वोच्च सत
को स्थान मिले, तो धिक्कार है अपने बाहुबल पर तुम्हारे मिथ्
अभिमान को, धिक्कार है अपनी पाश्चात्य संस्थाओं पर तुम्हारे
वृथा घमंड को! अपनी महत्ता और श्रेष्ठता की तुम क्या
व्यर्थ शेखी बघारते हो, यदि दिन-रात तुम यही कहते रहो कि
"इसे कार्य में परिणत करना असम्भव है"! पैसा-कौड़ी को
छोड़कर क्या और कुछ भी काम का नहीं है? यदि ऐसा
ही हो, तो फिर अपने समाज पर इतना घमंड क्यों करते हो?
वही समाज सबसे श्रेष्ठ है, जहाँ सर्वोच्च सत्य को कार्य में
परिणत किया जा सकता है—यही मेरा मत है। और यदि
समाज इस समय उच्चतम सत्य को स्थान देने में समर्थ नहीं है,
तो उसे इस योग्य बनाओ। और जितना शीघ्र तुम ऐसा कर
सको, उतना ही अच्छा। हे नर-नारियो! उठो, आत्मा के
सम्बन्ध में जाग्रत् होओ, सत्य में विश्वास करने का साहस करो,
सत्य के अभ्यास का साहस करो। संसार को कुछ साहसी
-नारियों की आवश्यकता है। साहसी होना बड़ा कठिन है।
... साहस में तो बाघ मनुष्य से भी श्रेष्ठ है, उसके
...ति में ही इस प्रकार का साहस है। बल्कि इस विषय में

तो चींटी अन्य जन्तुओं से कहीं श्रेष्ठ है। पर इस शारीरिक साहस की बात क्यों करते हो? अपने में वह साहस लाओ, जो सत्य को जान सके, जो जीवन में निहित सत्य को दिखा सके, जो मृत्यु से न डरे, प्रत्युत उसका स्वागत करे, जो मनुष्य को यह ज्ञान करा दे कि वह आत्मा है और सारे जगत् में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जो उसका विनाश कर सके। तब तुम मुक्त हो जाओगे। तब तुम अपनी प्रकृत आत्मा को जान लोगे। "इस आत्मा के सम्बन्ध में पहले श्रवण करना चाहिए, फिर मनन और तत्पश्चात् निदिध्यासन।"

आजकल के समाज में एक प्रवृत्ति देखी जा रही है और वह है—कार्य पर अधिक जोर देना और मनन, ध्यान-धारणा आदि को बिलकुल उड़ा देना। कार्य अवश्य अच्छा है, पर वह भी तो विचार या चिन्तन से उत्पन्न होता है। मन के भीतर जिन छोटी-छोटी शक्तियों का विकास होता रहता है, वे जब शरीर द्वारा अनुष्ठित होती हैं, तब उन्हीं को कार्य कहते हैं। बिना विचार या चिन्तन के कोई कार्य नहीं हो सकता। मस्तिष्क को ऊँचे-ऊँचे विचारों, ऊँचे-ऊँचे आदर्शों से भर लो, और उनको दिन-रात मन के सम्मुख रखो; ऐसा होने पर इन्हीं विचारों से बड़े-बड़े कार्य होंगे। अपवित्रता की कोई बात मन में न लाओ, प्रत्युत मन से कहो कि मैं शुद्ध, पवित्रस्वरूप हूँ। हम क्षुद्र हैं, हमने जन्म लिया है, हम मरेंगे, इन्हीं विचारों से हमने अपने आपको एकदम अभिभूत कर रखा है, और इसी लिए हम सर्वदा एक प्रकार के भय से कांपते रहते हैं।

एक सिंहनी, जिसका प्रसवकाल निकट था, एक बार अपने शिकार की खोज में बाहर निकली। उसने दूर पर भेड़ों

के एक झुण्ड को चरते देख, उन पर आक्रमण करने के लिए ज्योंही छलाँग मारी, त्योंही उसके प्राणपखेरू उड़ गए और एक मातृहीन सिंह-शावक ने जन्म लिया। भेड़ उस सिंह-शावक की देख-भाल करने लगे और वह भेड़ों के बच्चों के साथ-साथ बड़ा होने लगा, भेड़ों की भाँति घास-पात खाकर रहने लगा और भेड़ों की ही भाँति 'में-में' करने लगा। और यद्यपि वह कुछ समय बाद एक ऊँचा-पूरा सिंह हो गया, फिर भी वह अपने को भेड़ ही समझता था। इसी प्रकार दिन बीतते गए कि एक दिन एक बड़ा भारी सिंह शिकार के लिए उधर आ निकला। पर उसे यह देख बड़ा आश्चर्य हुआ कि भेड़ों के बीच में एक सिंह भी है और वह भेड़ों की ही भाँति डरकर भागा जा रहा है। तब सिंह उसकी ओर यह समझाने के लिए बढ़ा कि तू सिंह है, भेड़ नहीं। पर ज्योंही वह आगे बढ़ा, त्योंही भेड़ों का झुण्ड और भी भागा और उसके साथ-साथ वह 'भेड़-सिंह' भी। जो हो, उसने उस भेड़-सिंह को उसके अपने यथार्थ स्वरूप को समझा देने का संकल्प नहीं छोड़ा। वह गौर करने लगा कि वह भेड़-सिंह कहाँ रहता है, क्या करता है। एक दिन उसने देखा कि वह एक जगह पड़ा सो रहा है। देखते ही वह छलाँग मारकर उसके पास जा पहुँचा और बोला, "अरे, तू भेड़ों के साथ रहकर अपना स्वभाव कैसे भूल गया? तू भेड़ नहीं है, तू तो सिंह है।" भेड़-सिंह बोल उठा, "क्या कह रहे हो? मैं तो भेड़ हूँ, सिंह कैसे हो सकता हूँ?" उसे किसी प्रकार विश्वास नहीं हुआ कि वह सिंह है, और वह भेड़ों की भाँति मिमियाने लगा। तब सिंह उसे उठाकर एक सरोवर के किनारे ले गया और बोला, "यह देख अपना प्रतिबिम्ब और यह देख मेरा

प्रतिबिम्ब।" और तब वह उन दोनों परछाइयों की तुलना करने लगा। वह एक बार सिंह की ओर, और एक बार अपने प्रतिबिम्ब की ओर ध्यान से देखने लगा। तब क्षण भर में ही वह जान गया कि 'सचमुच, मैं तो सिंह ही हूँ।' तब वह सिंह-गर्जना करने लगा और उसका भेड़ों का-सा मिमियाना न जाने कहाँ चला गया!

इसी प्रकार तुम सब सिंहस्वरूप हो—तुम आत्मा हो, शुद्धस्वरूप, अनन्त और पूर्ण हो। जगत् की महाशक्ति तुम्हारे भीतर है। "हे सखे, तुम क्यों रोते हो? जन्म-मरण तुम्हारा भी नहीं है और मेरा भी नहीं। क्यों रोते हो? तुम्हें रोग-शोक कुछ भी नहीं है, तुम तो अनन्त आकाशस्वरूप हो; उस पर नाना प्रकार के मेघ आते हैं और कुछ देर खेलकर न जाने कहाँ अन्तर्हित हो जाते हैं; पर वह आकाश जैसा पहले नीला था, वैसा ही नीला रह जाता है।" इसी प्रकार के ज्ञान का अभ्यास करना होगा। हम जगत् में पाप-ताप क्यों देखते हैं? इसलिए कि हम स्वयं असत् हैं। किसी मार्ग में एक ठूँठ खड़ा था। एक चोर उधर से जा रहा था, उसने समझा कि वह कोई पहरेवाला है। अपनी प्रेमिका की बाट जोहनेवाले प्रेमी ने समझा कि वह उसकी प्रेमिका है। एक बच्चे ने जब उसे देखा, तो भूत समझकर डर के मारे चिल्लाने लगा। इस प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने यद्यपि उसे भिन्न-भिन्न रूपों में देखा, तथापि वह एक ठूँठ के अतिरिक्त और कुछ भी न था।

हम स्वयं जैसे होते हैं, जगत् को भी वैसा ही देखते हैं। मान लो, कमरे में मेज पर मोहर की एक थैली रखी है और एक छोटा बच्चा वहाँ खेल रहा है। इतने में एक चोर

वहाँ आता है और उस थैली को चुरा लेता है। तो क्या बच्च
यह समझेगा कि चोरी हो गई ? हमारे भीतर जो है, वही ह
बाहर भी देखते हैं। बच्चे के मन में चोर नहीं है, अतएव व
बाहर भी चोर नहीं देखता। सब प्रकार के ज्ञान के सम्बन्ध
ऐसा ही है। संसार के पाप-अत्याचार आदि की बात मन में
लाओ, पर रोओ कि तुम्हें जगत् में अब भी पाप दिखता है
रोओ कि तुम्हें अब भी सर्वत्र अत्याचार दिखाई पड़ता है
और यदि तुम जगत् का उपकार करना चाहते हो, तो जग
पर दोषारोपण करना छोड़ दो। उसे और भी दुर्बल मत करो
आखिर ये सब पाप, दुःख आदि क्या हैं ? ये सब तो दुर्बलत
के ही फलस्वरूप हैं। लोग बचपन से ही शिक्षा पाते हैं कि वे
दुर्बल हैं, पापी हैं। इस प्रकार की शिक्षा से संसार दिन-पर-दिन
दुर्बल होता जा रहा है। उनको सिखाओ कि वे सब उसी अमृत
की सन्तान हैं—और तो और, जिसके भीतर आत्मा का प्रकाश
अत्यन्त क्षीण है, उसे भी यही शिक्षा दो। बचपन से ही उनके
मस्तिष्क में इस प्रकार के विचार प्रविष्ट हो जायँ, जिनसे
उनकी यथार्थ सहायता हो सके, जो उनको सबल बना दें, जिनसे
उनका कुछ यथार्थ हित हो। दुर्बलता और अवसादकारक
विचार उनके मस्तिष्क में प्रवेश ही न करें। सच्चिन्तन के स्रोत
में शरीर को बहा दो, अपने मन से सर्वदा कहते रहो, 'मैं ही
वह हूँ, मैं ही वह हूँ।' तुम्हारे मन में दिन-रात यह बात संगीत
की भाँति झंकृत होती रहे, और मृत्यु के समय भी तुम्हारे
अधरों पर 'सोऽहम्, सोऽहम्' खेलता रहे। यही सत्य है—
जगत् की अनन्त शक्ति तुम्हारे भीतर है। जो कुसंस्कार तुम्हारे
मन को ढके हुए हैं, उन्हें भगा दो। साहसी बनो। सत्य को

जानो और उसे जीवन में परिणत करो। चरम लक्ष्य भले ही बहुत दूर हो, पर 'उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान् निबोधत।'

मनुष्य का प्रकृत स्वरूप

(न्यूयार्क में दिया हुआ भाषण)

हम यहाँ खड़े हैं, परन्तु हमारी दृष्टि दूर, बहुत दूर, और कभी-कभी तो, कोसों दूर चली जाती है। जब से मनुष्य ने विचार करना आरम्भ किया, तभी से वह ऐसा करता आ रहा है। मनुष्य सदैव वर्तमान से बाहर देखने का प्रयत्न करता है, वह जानना चाहता है कि इस शरीर के नष्ट होने के बाद वह कहाँ चला जाता है। इस रहस्य का उद्घाटन करने के लिए अनेक मतों का प्रचार हुआ, सैकड़ों मतों की स्थापना हुई और सैकड़ों मत खण्डित होकर छोड़ भी दिए गए; और जब तक मनुष्य इस जगत् में रहेगा, जब तक वह विचार करता रहेगा, तब तक ऐसा ही चलेगा। इन सभी मतों में कुछ-न-कुछ सत्य है और, साथ ही, उनमें बहुतसा असत्य भी है। इस सम्बन्ध में भारत में जो सब अनुसन्धान हुए हैं, उन्हीं का सार, उन्हीं का फल मैं आपके सामने रखने का प्रयत्न करूँगा। भारतीय दार्शनिकों के इन सब विभिन्न मतों का समन्वय और, यदि हो सका तो, उनके साथ आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों का भी समन्वय करने का प्रयत्न करूँगा।

वेदान्त-दर्शन का एक ही उद्देश्य है और वह है—एकत्व की खोज। हिन्दू लोग कोई विशेष भाव के पीछे नहीं दौड़ते, वे तो सदैव सर्वसामान्य भाव की, यही क्यों, सर्वव्यापी सार्वभौमिक भाव की खोज करते हैं। हम देखते हैं कि उन्होंने बार-बार इसी एक सत्य का अनुसन्धान किया है—"ऐसा कौनसा पदार्थ है, जिसके जान लेने से सब कुछ जाना जा सकता है?" जिस

प्रकार मिट्टी के एक ढेले को जान लेने पर जगत् की सारी मिट्टी को जान लिया जाता है, उसी प्रकार ऐसी कौनसी वस्तु है, जिसे जान लेने पर जगत् की सारी वस्तुएँ जानी जा सकती हैं? उनकी यही एक खोज है, यही एक जिज्ञासा है। उनके मत से, समस्त जगत् का विश्लेषण करके उसे 'आकाश' में पर्यवसित किया जा सकता है। हम अपने चारों ओर जो कुछ देखते हैं, छूते हैं, आस्वादन करते हैं, और तो और, हम जो कुछ अनुभव करते हैं, वह सब इसी आकाश की विभिन्न अभिव्यक्ति मात्र है। यह आकाश सूक्ष्म और सर्वव्यापी है। ठोस, तरल और वाष्पीय सब प्रकार के पदार्थ, सब प्रकार के रूप, शरीर, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारे—सब-के-सब इसी आकाश से उत्पन्न हुए हैं।

किस शक्ति ने इस आकाश पर कार्य करके इसमें से जगत् की सृष्टि की? आकाश के साथ एक सर्वव्यापी शक्ति रहती है। जगत् में जितनी भी भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं—आकर्षण, विकर्षण, यहाँ तक कि विचार-शक्ति भी, सभी 'प्राण' नामक एक महाशक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। इसी प्राण ने आकाश पर कार्य करके इस जगत्-प्रपंच की रचना की है। कल्प के प्रारम्भ में यह प्राण मानो अनन्त आकाश-समुद्र में प्रसुप्त रहता है। प्रारम्भ में यह आकाश गतिहीन होकर अवस्थित था। बाद में प्राण के प्रभाव से इस आकाश-समुद्र में गति उत्पन्न होने लगती है। और जैसे-जैसे इस प्राण की गति होने लगती है, वैसे-वैसे इस आकाश-समुद्र में से नाना ब्रह्माण्ड, नाना जगत्, कितने ही सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथ्वी, मनुष्य, जन्तु, उद्भिद् और नानाविध शक्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। अतएव हिन्दुओं के मत से सब प्रकार की शक्तियाँ प्राण के और सब प्रकार के दृश्य पदार्थ

आकाश के विभिन्न रूप मात्र हैं: कल्पान्त में सभी घन पदार्थ पिघल जायेंगे, और वह तरल पदार्थ वाष्पीय आकार में परिणत हो जायगा। वह फिर तेज-रूप धारण करेगा। अन्त में सब कुछ जिस आकाश में से उत्पन्न हुआ था, उसी में विलीन हो जायगा। और आकर्षण, विकर्षण, गति आदि समस्त शक्तियाँ धीरे-धीरे मूल प्राण में परिणत हो जायेंगी। उसके बाद जब तक फिर से कल्पारम्भ नहीं होता, तब तक यह प्राण मानो निद्रित अवस्था में रहेगा। कल्पारम्भ होने पर वह जागकर पुनः नाना रूपों को प्रकाशित करेगा और कल्पान्त में फिर से सबका लय हो जायगा। बस इसी प्रकार वह आता है और चला जाता है, मानो एक बार पीछे और एक बार आगे डोल रहा है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में कहेंगे कि एक समय वह स्थितिशील (Statio) रहता है, फिर गतिशील (Dynamic) हो जाता है; एक समय प्रसुप्त रहता है और फिर क्रियाशील हो जाता है। बस इसी प्रकार अनन्त काल से चला आ रहा है।

पर यह विश्लेषण भी अधूरा ही रहा। इतना तो आधुनिक पदार्थ-विज्ञान को भी ज्ञात है। इसके ऊपर भौतिक विज्ञान की गति नही है। पर इस अनुसन्धान का यहीं अन्त नहीं हो जाता। हमने अभी तक उस वस्तु को प्राप्त नहीं किया, जिसे जान लेने पर सब कुछ जाना जा सके। हमने समस्त जगत् को भूत और शक्ति में अथवा, प्राचीन भारतीय दार्शनिकों के शब्दों में, आकाश और प्राण में पर्यवसित कर दिया। अब आकाश और प्राण को किसी एक वस्तु में पर्यवसित करना होगा। इन्हें मन नामक उच्चतर क्रियाशक्ति में पर्यवसित किया जा सकता है। महत् अथवा समष्टि चिन्तन-शक्ति से प्राण और आकाश दोनों

की उत्पत्ति होती है। चिन्तन-शक्ति ही इन दो शक्तियों के रूप में विभक्त हो जाती है। प्रारम्भ में यह सर्वव्यापी मन ही था। इसने परिणत होकर आकाश और प्राण ये दो रूप धारण किए और इन दोनों के सम्मिश्रण से सारा जगत् बना।

अब हम मनस्तत्त्व या मनोविज्ञान की चर्चा करेंगे। मैं आपको देख रहा हूँ। आँखें विषय को ग्रहण कर रही हैं और अनुभूतिजनक स्नायु उसे मस्तिष्क में ले जा रहे हैं। आँखें देखने का साधन नहीं हैं, वे केवल बाहरी यन्त्र हैं, क्योंकि देखने का जो वास्तविक साधन है, जो मस्तिष्क में विषय-ज्ञान का संवाद ले जाता है, उसको यदि नष्ट कर दिया जाय, तब तो मेरी बीस आँखें रहते हुए भी मैं आपमें से किसी को भी न देख सकूँगा। अक्षिजाल (Retina) पर भले ही पूरा अक्स या प्रतिबिम्ब पड़े, फिर भी मैं आपको न देख सकूँगा। अतएव वास्तविक दर्शनेन्द्रिय इस आँख से कोई पृथक् वस्तु है। प्रकृत चक्षुरिन्द्रिय, अवश्य, चक्षुयन्त्र के पीछे अवस्थित है। सब प्रकार की विषयानुभूतियों के सम्बन्ध में ऐसा ही समझना चाहिए। नासिका घ्राणेन्द्रिय नहीं है; वह तो यन्त्र मात्र है, घ्राणेन्द्रिय उसके पीछे है। प्रत्येक इन्द्रिय के सम्बन्ध में समझना चाहिए कि बाह्य यन्त्र इस स्थूल शरीर में अवस्थित हैं और उनके पीछे, इस स्थूल शरीर में ही, इन्द्रियाँ भी मौजूद हैं। पर इतने से ही काम नहीं चलता! मान लीजिए, मैं आपसे कुछ कह रहा हूँ और आप बड़े ध्यान से मेरी बात सुन रहे हैं। इसी समय यहाँ एक घण्टा बजता है और शायद आप उस घण्टे की ध्वनि को नहीं सुन पाते। यह शब्द-तरंग आपके कान में पहुँचकर कान के पर्दे में लगी, स्नायुओं के द्वारा यह संवाद

मस्तिष्क में पहुँचा, पर फिर भी आप उसे नहीं सुन सके। ऐसा क्यों? यदि मस्तिष्क में संवाद वहन करने से ही सुनने की सारी क्रिया सम्पूर्ण हो जाती, तो फिर आप क्यों सुन नहीं सके? अतएव, सिद्ध हुआ कि सुनने की क्रिया के लिए और भी कुछ आवश्यक था—मन इन्द्रिय से युक्त नहीं था। जिस समय मन इन्द्रियों से पृथक् रहता है, उस समय इन्द्रियों द्वारा लाए गए किसी भी संवाद को मन ग्रहण नहीं करता। जब मन उनसे युक्त रहता है, तभी वह किसी संवाद को ग्रहण करने में समर्थ होता है। पर इससे भी विषयानुभूति पूर्ण नहीं हो जाती। बाहरी यन्त्र भले ही बाहर से संवाद ले आयें, इन्द्रियाँ भले ही उसे भीतर ले जायें और मन भी इन्द्रियों से संयुक्त रहे, पर तो भी विषयानुभूति पूर्ण न होगी। एक और वस्तु आवश्यक है—भीतर से प्रतिक्रिया होनी चाहिए। प्रतिक्रिया से ज्ञान उत्पन्न होगा। बाहर की वस्तु ने मानो मेरे अन्दर संवाद-प्रवाह भेजा। मेरे मन ने उसे ले जाकर बुद्धि के निकट अर्पण कर दिया, बुद्धि ने पहले से बने हुए मन के संस्कारों के अनुसार उसे सजाया और बाहर की ओर प्रतिक्रिया-प्रवाह भेजा। बस इस प्रतिक्रिया के साथ ही विषयानुभूति होती है। जो शक्ति मन में यह प्रतिक्रिया भेजती है, उसे 'बुद्धि' कहते हैं। किन्तु इससे भी विषयानुभूति पूर्ण नहीं हुई। मान लीजिए, एक चित्रक्षेपक यन्त्र (कॅमेरा) है और एक पर्दा है। मैं इस पर्दे पर एक चित्र डालना चाहता हूँ। तो मुझे क्या करना होगा? मुझे उस यन्त्र में से नाना प्रकार की प्रकाश-किरणों को इस पर्दे पर डालने का और उन्हें एक स्थान में एकत्र करने का प्रयत्न करना होगा। इसके लिए एक अचल वस्तु की आवश्यकता है, जिस पर चित्र डाला

जा सके। किसी चलनशील वस्तु पर ऐसा करना असम्भव है— कोई स्थिर वस्तु चाहिए; क्योंकि मैं जो प्रकाश-किरणें डालना चाहता हूँ, वे सचल हैं; और इन सचल प्रकाश-किरणों को किसी अचल वस्तु पर एकत्र और एकीभूत करके एक जगह लाना होगा। यही बात उन संवादों के विषय में भी है, जिन्हें इन्द्रियाँ मन के निकट और मन बुद्धि के निकट समर्पित करता है। जब तक ऐसी कोई वस्तु नही मिल जाती, जिस पर यह चित्र डाला जा सके, जिस पर ये भिन्न-भिन्न भाव एकत्रीभूत होकर मिल सकें, तब तक यह विषयानुभूति पूर्ण नही होती। वह कौनसी वस्तु है, जो समुदय को एकत्व का भाव प्रदान करती है? वह कौनसी वस्तु है, जो विभिन्न गतियों के भीतर भी प्रतिक्षण एकत्व की रक्षा किए रहती है? वह कौनसी वस्तु है, जिस पर भिन्न-भिन्न भाव मानो एक ही जगह गुँथे रहते है, जिस पर विभिन्न विषय आकर मानो एक जगह वास करते हैं और एक अखण्ड भाव धारण करते हैं? हमने देखा है कि इस प्रकार की कोई वस्तु अवश्य चाहिए, और उस वस्तु का, शरीर और मन की तुलना में, अचल होना आवश्यक है। जिस पर्दे पर यह कैमेरा चित्र डाल रहा है, वह इन प्रकाश-किरणों की तुलना में अचल है। यदि ऐसा न हो, तो चित्र पड़ेगा ही नहीं। अर्थात् उस वस्तु को, उस द्रष्टा को एक व्यक्ति (Individual) होना चाहिए। जिस वस्तु पर मन यह सब चित्रांकन करता है, जिस पर मन और बुद्धि द्वारा ले जाई गई हमारी विषयानुभूतियाँ स्थापित, श्रेणीबद्ध और एकत्रीभूत होती हैं, बस उसी को मनुष्य की आत्मा कहते हैं।

तो, हमने देखा कि समष्टि-मन या महत् आकाश और

प्राण इन दो भागों में विभक्त है। और मन के पीछे है आत्म
समष्टि-मन के पीछे जो आत्मा है, उसे ईश्वर कहते हैं। व्य
में यह मनुष्य की आत्मा मात्र है। जिस प्रकार जगत् में समि
मन आकाश और प्राण के रूप में परिणत हो गया है, उ
प्रकार समष्टि-आत्मा भी मन के रूप में परिणत हो गई है
अब प्रश्न उठता है—क्या इसी प्रकार व्यष्टि-मनुष्य के सम्ब
में भी समझना होगा? मनुष्य का मन भी क्या उसके शरी
का स्रष्टा है और क्या उसकी आत्मा उसके मन की स्रष्टा है
अर्थात् मनुष्य का शरीर, मन और आत्मा—ये क्या ती
विभिन्न वस्तुएँ है, अथवा ये एक के भीतर ही तीन हैं, अथवा ये
सब एक ही पदार्थ की तीन विभिन्न अवस्थाएँ हैं? हम क्रमश
इसी प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे। जो भी हो, हमने
अब तक यही देखा कि पहले तो यह स्थूल देह है, उसके बाद हैं
इन्द्रियाँ, फिर मन, तत्पश्चात् बुद्धि और बुद्धि के भी बाद आत्मा।
तो पहली बात यह हुई कि आत्मा शरीर से पृथक् है तथा वह मन
से भी पृथक् है। बस यहीं से धर्म-जगत् में मतभेद देखा जाता
है। द्वैतवादी कहते हैं कि आत्मा सगुण है अर्थात्भोग, सुख, दुःख
आदि सभी यथार्थ में आत्मा के धर्म हैं; पर अद्वैतवादी कहते हैं
कि वह निर्गुण है।

हम पहले द्वैतवादियों के मत का—आत्मा और उसकी गति
के सम्बन्ध में उनके मत का—वर्णन करके, उसके बाद उस मत
का वर्णन करेंगे, जो इसका सम्पूर्ण रूप से खण्डन करता है अन्त
में अद्वैतवाद के द्वारा दोनों मतों का सामंजस्य स्थापित करने का
प्रयत्न करेंगे। यह मानवात्मा शरीर और मन से पृथक् होने के
कारण एवं आकाश और प्राण से गठित न होने के कारण अमर

है। क्यों? मृत्यु या विनाश का क्या अर्थ है?--विश्लिष्ट हो जाना; और जो वस्तु कुछ पदार्थों के संयोग से बनती है, वही विश्लिष्ट होती है। जो अन्य पदार्थों के संयोग से उत्पन्न नहीं है, वह कभी विश्लिष्ट नहीं होती, इसलिए उसका विनाश भी कभी नहीं हो सकता। वह अविनाशी है। वह अनन्त काल से है, उसकी कभी सृष्टि नहीं हुई। सृष्टि तो संयोग मात्र है। शून्य से कभी किसी ने सृष्टि नहीं देखी। सृष्टि के सम्बन्ध में हम बस इतना ही जानते हैं कि वह पहले से वर्तमान कुछ वस्तुओं का नए-नए रूपों में एकत्र मिलन मात्र है। यदि ऐसा है, तो फिर यह मानवात्मा भिन्न-भिन्न वस्तुओं के संयोग से उत्पन्न नहीं है, अतः वह अवश्य अनन्त काल से है और अनन्त काल तक रहेगी। इस शरीर का नाश हो जाने पर भी आत्मा रहेगी। वेदान्तवादियों के मत से, जब इस शरीर का नाश हो जाता है, तब मनुष्य की इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती हैं, मन का प्राण में लय हो जाता है, प्राण आत्मा में प्रविष्ट हो जाता है और तब मानव की वह आत्मा मानो सूक्ष्म शरीर अथवा लिंगशरीररूपी वस्त्र पहनकर चली जाती है। इस सूक्ष्म शरीर में ही मनुष्य के सारे संस्कार वास करते हैं। संस्कार क्या है? मन मानो सरोवर के समान है और हमारा प्रत्येक विचार मानो उस सरोवर की लहर के समान है। जिस प्रकार सरोवर में लहर उठती है, गिरती है, गिरकर अन्तर्हित हो जाती है, उसी प्रकार मन में ये सब विचार-तरंगें लगातार उठती और अन्तर्हित होती रहती हैं। किन्तु वे एकदम अन्तर्हित नहीं हो जातीं। वे क्रमशः सूक्ष्मतर होती जाती हैं, पर वर्तमान रहती ही हैं। प्रयोजन होने पर फिर उठती हैं। जिन विचारों ने सूक्ष्मतर रूप

धारण कर लिया है, उन्हीं में से कुछ को फिर से तरंगाकार
लाने को ही स्मृति कहते हैं। इस प्रकार, हमने जो कुछ सोच
है, जो कुछ कार्य किया है, सारा-का-सारा मन में अवस्थित है
ये सब सूक्ष्म भाव से स्थित रहते हैं और मनुष्य के मर जाने प
भी ये संस्कार उसके मन में विद्यमान रहते हैं—वे फिर सूक्ष्
शरीर पर कार्य करते रहते हैं। आत्मा यह सब संस्कार एव
सूक्ष्मशरीररूपी वस्त्र धारण करके चली जाती है और विभिन्
संस्काररूप इन विभिन्न शक्तियों का समवेत फल ही आत्मा की
गति को नियमित करता है। उनके मत से आत्मा की तीन प्रकार
की गति होती है।

जो अत्यन्त धार्मिक हैं, वे मृत्यु के बाद सूर्यरश्मियों का अनुसरण करते हैं; सूर्यरश्मियों का अनुसरण करते हुए वे सूर्यलोक में जाते हैं; वहाँ से वे चन्द्रलोक और चन्द्रलोक से विद्युल्लोक में उपस्थित होते हैं; वहाँ एक मुक्त आत्मा से उनका साक्षात्कार होता है; वे इन जीवात्माओं को सर्वोच्च ब्रह्मलोक में ले जाते हैं। वहाँ उन्हें सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता प्राप्त होती है; उनकी शक्ति और ज्ञान प्रायः ईश्वर के समान हो जाता है; और द्वैतवादियों के मत से वे अनन्त काल तक वहाँ वास करते हैं, अथवा, अद्वैतवादियों के अनुसार, कल्पान्त में ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त करते हैं। जो लोग सकाम भाव से सत्कार्य करते हैं, वे मृत्यु के बाद चन्द्रलोक में जाते हैं। वहाँ नाना प्रकार के स्वर्ग हैं। वे वहाँ पर सूक्ष्मशरीर—देवशरीर—प्राप्त करते हैं। वे देवता होकर वहाँ वास करते हैं और दीर्घ काल तक स्वर्ग के सुखों का उपभोग करते हैं। इस भोग का अन्त होने पर फिर उनका प्राचीन कर्म बलवान हो जाता है, अतः फिर वे उतर

मर्त्यलोक में पतन हो जाता है। वे वायुलोक, मेघलोक आदि लोकों में से होते हुए अन्त में वृष्टिधारा के साथ पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। वृष्टि के साथ गिरकर वे किसी शस्य का आश्रय लेकर रहते हैं। इसके बाद जब कोई व्यक्ति उस शस्य को खाता है, तब उसके वीर्य से वे फिर से शरीर धारण करते हैं। जो लोग अत्यन्त दुष्ट हैं, वे मरने पर भूत अथवा दानव हो जाते हैं एवं चन्द्रलोक और पृथ्वी के बीच किसी स्थान में वास करते हैं। उनमें से कोई-कोई लोग मनुष्यों पर बड़ा अत्याचार करते हैं और कोई-कोई लोग मनुष्यों से मैत्री कर लेते हैं। वे कुछ समय तक उस स्थान में रहकर फिर पृथ्वी पर आकर पशु-जन्म लेते हैं। कुछ समय पशु-देह में रहकर वे फिर से मनुष्य-योनि में आते हैं — वे और एक बार मुक्तिलाभ करने की उपयुक्त अवस्था प्राप्त करते हैं। तो इस प्रकार हमने देखा कि जो लोग मुक्ति की निकटतम सीढ़ी पर पहुँच गए हैं, जिनमें अपवित्रता बहुत कम रह गई है, वे ही सूर्य की किरणों के सहारे ब्रह्मलोक में जाते हैं। जो मध्यम-वर्ग के लोग हैं, जो स्वर्ग जाने की इच्छा से सत्कर्म करते हैं, वे चन्द्रलोक में जाकर वहाँ के स्वर्गों में वास करते हैं और देवशरीर प्राप्त करते हैं, पर उन्हें मुक्ति की प्राप्ति के लिए फिर से मनुष्य-देह धारण करनी पड़ती है। और जो अत्यन्त दुष्ट हैं, वे भूत, दानव आदि रूपों में परिणत होते हैं, उसके बाद वे पशु होते हैं, और मुक्तिलाभ के लिए उन्हें फिर से मनुष्य-जन्म ग्रहण करना पड़ता है। इस पृथ्वी को कर्मभूमि कहा जाता है। अच्छा-बुरा सभी कर्म यहीं करना होता है। मनुष्य स्वर्गकाम होकर सत्कार्य करने पर स्वर्ग में जाकर देवता हो जाता है; इस अवस्था में वह कोई नया कर्म नहीं करता, वह तो बस

पृथ्वी पर किए हुए अपने सत्कर्मों के फल का ही भोग करता है। और जब ये सत्कर्म समाप्त हो जाते हैं, तो उसी समय जो असत् या बुरे कर्म उसने पृथ्वी पर किए थे, उन सबका संचित फल वेग के साथ उस पर आ जाता है और उसे वहाँ से फिर एक बार पृथ्वी पर घसीट लाता है। इसी प्रकार जो भूत हो जाते हैं, वे उस अवस्था में कोई नूतन कर्म न करते हुए केवल अपने पूर्व कर्मों का फल भोगते रहते हैं, तत्पश्चात् पशु-जन्म ग्रहण कर वे वहाँ भी कोई नया कर्म नहीं करते। उसके बाद वे भी फिर मनुष्य हो जाते हैं।

मान लो कि एक व्यक्ति ने जीवन-भर अनेक बुरे काम किए, पर एक बहुत अच्छा काम भी किया। ऐसी दशा में उस सत्कार्य का फल उसी क्षण प्रकाशित हो जायगा, और इस सत्कार्य का फल समाप्त होते ही बुरे कार्य भी अपना फल दिखाने लगेंगे। जिन लोगों ने कुछ अच्छे-अच्छे, बड़े-बड़े कार्य किए हैं, पर जिनके सारे जीवन की गति अच्छी नहीं रही, वे सब देवता हो जायँगे। देव-देह धारण कर देवताओं की शक्ति का कुछ काल तक सम्भोग करके उन्हें फिर से मनुष्य होना पड़ेगा। जब सत्कर्मों की शक्ति क्षय हो जायगी, तब फिर से उन पुराने असत्कार्यों का फल होने लगेगा। जो अत्यन्त बुरे कर्म करते हैं, उन्हें भूत-योनि, दानव-योनि में जाना पड़ेगा, और जब उनके बुरे कर्मों का फल समाप्त हो जायगा, तो उस समय उनका जितना भी सत्कर्म शेष है, उसके फल से वे फिर मनुष्य हो जायँगे। जिस मार्ग से ब्रह्मलोक में जाते हैं, जहाँ से पतन होने अथवा लौटने की सम्भावना नहीं रहती, उसे देवयान कहते हैं, और चन्द्रलोक के मार्ग को पितृयान कहते हैं।

अतएव वेदान्त-दर्शन के मत से मनुष्य ही जगत् में श्रेष्ठ प्राणी है और यह पृथ्वी ही सर्वश्रेष्ठ स्थान है, क्योंकि मात्र यहीं पर मुक्त होने की सम्भावना है। देवता आदि को मुक्त होने के लिए मनुष्य-जन्म ग्रहण करना पड़ेगा। इस नव-जन्म में ही मुक्ति की सबसे अधिक सुविधा है।

अब हम इसके विरोधी मत की आलोचना करेंगे। बौद्ध ग इस आत्मा का अस्तित्व एकदम अस्वीकार करते हैं। वे हते हैं कि शरीर और मन के पीछे आत्मा नामक कोई पदार्थ ानने की क्या आवश्यकता है? यह शरीर और मनरूपी यन्त्र तःसिद्ध है, यह कहने से ही क्या यथेष्ट व्याख्या नहीं हो ती? और एक तीसरे पदार्थ की कल्पना से क्या लाभ? ह युक्ति है तो बड़ी प्रबल। जहाँ तक बाह्य अनुसन्धान की हुँच है, वहाँ तक तो यही प्रतीत होता है कि यह शरीर और मनरूपी यन्त्र स्वतःसिद्ध है; कम-से-कम हममें से अनेक इस तत्त्व को इसी दृष्टि से देखते हैं। तब फिर शरीर और मन से भिन्न, पर साथ ही शरीर और मन के आश्रयस्वरूप आत्मा नामक एक पदार्थ के अस्तित्व की कल्पना की क्या आवश्यकता? बस शरीर और मन कहना ही तो पर्याप्त है; सतत परिणामशील जड़-स्रोत का नाम है शरीर, और सतत परिणामशील विचार-स्रोत का नाम है मन। तब, यह जो एकत्व की प्रतीति हो रही है, वह कैसे होती है? बौद्ध कहते हैं कि यह एकत्व वास्तविक नहीं है। मान लो, एक जलती मशाल को घुमाया जा रहा है। तो इससे वह आग का एक गोला-सी प्रतीत होती है। वास्तव में कहीं कोई वृत्त नहीं है, पर मशाल के सतत घूमने से आग ने यह वृत्त-रूप धारण कर लिया

है। इसी प्रकार हमारे जीवन में भी एकत्व नहीं है; जड़ की राशि लगातार बह रही है। यदि सम्पूर्ण जड़राशि को एक कहकर सम्बोधित करने की इच्छा हो, तो करो, पर उसके अतिरिक्त वास्तव में कोई एकत्व नहीं है। मन के सम्बन्ध में भी यही बात है, प्रत्येक विचार दूसरे विचारों से पृथक् है। यह प्रबल विचार-स्रोत ही इस भ्रमात्मक एकत्व का भाव उत्पन्न किए दे रहा है, अतएव फिर तीसरे पदार्थ की क्या आवश्यकता? जो कुछ दिखता है, वह जड़-स्रोत और यह विचार-स्रोत—बस इन्हीं का अस्तित्व है; इनके पीछे और कुछ सोचने की आवश्यकता ही क्या ? बहुतेरे आधुनिक सम्प्रदायों ने बौद्धों के इस मत को ग्रहण कर लिया है, पर वे सभी इसे अपना-अपना आविष्कार कहकर प्रतिपादित करना चाहते हैं। अधिकतर बौद्ध-दर्शनों में सार बात यही है कि यह परिदृश्यमान जगत् पर्याप्त है; इसके पीछे और कुछ है या नहीं, यह अनुसन्धान करने की बिलकुल आवश्यकता नहीं। यह इन्द्रियग्राह्य जगत् ही सर्वस्व है—किसी वस्तु को इस जगत् के आश्रयरूप में कल्पना करने की आवश्यकता ही क्या ? सब कुछ गुणों की ही समष्टि है। ऐसे किसी आनुमानिक पदार्थ की कल्पना करने की क्या आवश्यकता, जिसमें वे सब गुण लगे हों ? पदार्थ का ज्ञान आता है केवल गुणराशि के वेगपूर्वक स्थान-परिवर्तन के कारण, इसलिए नहीं कि कोई अपरिणामी पदार्थ वास्तव में उनके पीछे है। हम देखते हैं कि ये युक्तियाँ बड़ी प्रबल हैं और साधारण मनुष्य के अनुभव में सहज ही पट जाती हैं। वास्तव में एक लाख मनुष्यों में से एक व्यक्ति भी इस दृश्य जगत् से अतीत किसी वस्तु की धारणा भी कर सकता है या नहीं, इसमें सन्देह है। अधिकतर

लोगों के लिए तो प्रकृति नित्यपरिणामशील है। हममें से बहुत कम लोगों ने ही अपने पीछे स्थित उस स्थिर समुद्र का थोड़ासा आभास पाया होगा। हमारे लिए तो यह जगत् केवल तरंगों से भरा है। इस प्रकार हम दो मत देखते हैं। एक तो यह कि इस शरीर और मन के पीछे एक अपरिणामी सत्ता है; और दूसरा यह कि इस जगत् में स्थिरता नामक कुछ भी नहीं है, सब कुछ अस्थिर है, सब कुछ परिणामशील है। जो हो, अद्वैतवाद में ही इन दोनों मतों का सामंजस्य मिलता है।

अद्वैतवादी कहते हैं, द्वैतवादियों की यह बात कि 'जगत् का एक अपरिणामी आश्रय है', सत्य है। किसी अपरिणामी पदार्थ की कल्पना किए बिना हम परिणाम की कल्पना कर ही नहीं सकते। किसी अपेक्षाकृत अल्प-परिणामी पदार्थ की तुलना में ही किसी पदार्थ के परिणाम की बात सोची जा सकती है, और पूर्वोक्त अल्प-परिणामी पदार्थ भी अपने से कम परिणाम-वाले पदार्थ की तुलना में अधिक परिणामशील है। और इस प्रकार का क्रम चलता ही रहेगा, जब तक हम बाध्य होकर एक पूर्ण, अपरिणामी पदार्थ को स्वीकार नहीं कर लेते। यह जगत्-प्रपंच निश्चय ही एक ऐसी अवस्था में था, जब वह स्थिर और शान्त था, जब वह दो विरोधी शक्तियों का सामंजस्य-स्वरूप था अर्थात् जब वास्तव में किसी भी शक्ति का अस्तित्व नहीं था; क्योंकि वैषम्य न होने पर शक्ति का विकास नहीं होता। यह ब्रह्माण्ड फिर से उसी साम्यावस्था की प्राप्ति के लिए चल रहा है। यदि हमारा किसी विषय के सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान है, तो वह यही है। द्वैतवादी जब कहते हैं कि कोई अपरिणामी पदार्थ है, तब

वे ठीक ही कहते हैं; पर जब वे कहते हैं कि यह शरीर और मन से बिलकुल अतीत है, शरीर और मन से बिलकुल पृथक् है, तो यह भूल है। बौद्ध लोग जो कहते हैं कि समुदय जगत् परिणाम-प्रवाह मात्र है, तो यह भी सत्य है; क्योंकि जब तक मैं जगत् से पृथक् हूँ, जब तक मैं अपने अतिरिक्त और कुछ देखता हूँ—संक्षेप में, जब तक द्वैतभाव है, तब तक यह जगत् परिणामशील ही प्रतीत होगा। पर असल बात यह है कि यह जगत् परिणामी भी है और अपरिणामी भी। आत्मा, मन और शरीर ये तीनों पृथक्-पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं, बल्कि वे तो एक ही हैं। एक ही वस्तु कभी देह, कभी मन और कभी देह और मन से अतीत आत्मा के रूप से प्रतीत होती है। जो शरीर को देखते हैं, वे मन को नहीं देख पाते; जो मन को देखते हैं, वे आत्मा को नहीं देख पाते; और जो आत्मा को देखते हैं, उनके लिए शरीर और मन दोनों न जाने कहाँ चले जाते हैं! जो लोग केवल गति देखते हैं, वे सम्पूर्ण स्थिर भाव को नहीं देख पाते, और जो इस सम्पूर्ण स्थिर भाव को देख पाते हैं, उनके लिए गति न जाने कहाँ चली जाती है। रज्जु में सर्प का भ्रम हुआ। जो व्यक्ति रज्जु में सर्प ही देखता है, उसके लिए रज्जु न जाने कहाँ चली जाती है, और जब भ्रान्ति दूर होने पर वह व्यक्ति रज्जु ही देखता है, तो उसके लिए फिर सर्प नहीं रह जाता।

तो हमने देखा कि वस्तु एक ही है और वह एक ही नाना रूपों में प्रतीत होती है। इसको चाहे आत्मा कहो या वस्तु कहो अथवा अन्य कुछ नाम दो, जगत् में एकमात्र इसी का अस्तित्व है। अद्वैतवादियों की भाषा में यह आत्मा ही ब्रह्म है,

जो नाम-रूप की उपाधि के कारण अनेक प्रतीत हो रहा है। समुद्र की तरंगों की ओर देखो; एक भी तरंग समुद्र से पृथक् नहीं है। फिर भी तरंग पृथक् क्यों प्रतीत होती है? नाम और रूप के कारण—तरंग की आकृति और उसे हमने जो 'तरंग' नाम दिया है, बस इन दोनों ने उसे समुद्र से पृथक् कर दिया है। नाम-रूप के नष्ट हो जाने पर वह समुद्र की समुद्र ही रह जाती है। तरंग और समुद्र के बीच भला कौन भेद कर सकता है? अतएव यह समुदय जगत् एकस्वरूप है। जो भी पार्थक्य दिखता है, वह सब नाम-रूप के ही कारण है। जिस प्रकार सूर्य लाखों जलकणों पर प्रतिबिम्बित होकर प्रत्येक जलकण में अपनी एक सम्पूर्ण प्रतिकृति सृष्ट कर देता है, उसी प्रकार वही एक आत्मा, वही एक सत्ता विभिन्न वस्तुओं में प्रतिबिम्बित होकर नाना रूपों में दिखाई पड़ती है। किन्तु वास्तव में वह एक ही है। वास्तव में 'मैं' अथवा 'तुम' नामक कुछ नहीं है—सब एक ही है। चाहे कह लो—'सभी मैं हूँ', या कह लो—'सभी तुम हो'। यह द्वैतज्ञान बिलकुल मिथ्या है, और सारा जगत् इसी द्वैतज्ञान का फल है। जब विवेक के उदय होने पर मनुष्य देखता है कि दो वस्तुएँ नहीं हैं, एक ही वस्तु है, तब उसे यह बोध होता है कि वह स्वयं यह अनन्त ब्रह्माण्डस्वरूप हो गया है। मैं ही यह परिवर्तनशील जगत् हूँ, और मैं ही अपरिणामी, निर्गुण, नित्यपूर्ण, नित्यानन्दमय हूँ।

अतएव नित्यशुद्ध, नित्यपूर्ण, अपरिणामी, अपरिवर्तनीय एक आत्मा है; उसका कभी परिणाम नहीं होता, और ये सब विभिन्न परिणाम उस एक आत्मा में प्रतीत मात्र होते हैं। उस पर नाम-रूप ने ये सब विभिन्न स्वप्न-चित्र अंकित कर दिए हैं। आकृति

ने ही तरंग को समुद्र से पृथक् किया है। मान लो कि तरंग लीन हो गई, तो क्या यह रूप रहेगा? नहीं, वह बिलकुल चला जायगा। तरंग का अस्तित्व पूर्ण रूप से समुद्र के अस्तित्व पर निर्भर है; पर समुद्र का अस्तित्व तरंग के अस्तित्व पर निर्भर नहीं है। जब तक तरंग रहती है, तब तक रूप भी रहता है, पर तरंग के लीन हो जाने पर वह रूप फिर नहीं रह सकता। इस नाम-रूप को ही माया कहते हैं। यह माया ही भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का सृजन करके उनमें आपस में पार्थक्य का बोध करा रही है। पर वास्तव में इसका अस्तित्व नहीं है। माया का अस्तित्व है यह नहीं कहा जा सकता। 'रूप' या आकृति का अस्तित्व है यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह तो दूसरे के अस्तित्व पर निर्भर रहती है। और उसका अस्तित्व नहीं है यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसी ने तो यह सारा भेद उत्पन्न किया है। अद्वैतवादियों के मत से, इस माया या अज्ञान या नाम-रूप, अथवा योरपीय लोगों की भाषा में, इस देश-काल-निमित्त के कारण यह एक अनन्त सत्ता इस वैचित्र्यमय जगत् के रूप में दीख पड़ती है। परमार्थतः यह जगत् एक अखण्डस्वरूप है; जब तक कोई दो वस्तुओं की कल्पना करता है, तब तक वह भ्रम में है। जब वह जान जाता है कि सत्ता केवल एक है, तभी वह यथार्थ में जानता है। जितना ही समय बीतता जाता है, उतना ही हमारे निकट यह सत्य प्रमाणित होता जाता है। क्या जड़जगत् में, क्या मनोजगत् में और क्या अध्यात्मजगत् में, सर्वत्र यह सत्य प्रमाणित हो रहा है। अब प्रमाणित हो गया है कि तुम, मैं, सूर्य, चन्द्र, तारे—सभी एक ही जड़समुद्र के भिन्न-भिन्न अंशों के नाम मात्र हैं। इस जड़राशि

का लगातार परिवर्तन हो रहा है। जो शक्ति का कण कुछ मास पहले सूर्य में था, हो सकता है आज वह मनुष्य के भीतर आ गया हो, कल शायद वह पशु के भीतर और परसों किसी उद्भिद् के भीतर प्रवेश कर जायगा। आना-जाना निरन्तर हो रहा है। यह समस्त एक अखण्ड जड़राशि है—भेद है केवल नाम और रूप में। इसके एक बिन्दु का नाम है सूर्य, एक का चन्द्र, एक का तारा, एक का मनुष्य, एक का पशु, एक का उद्भिद्, आदि-आदि। और ये सारे नाम भ्रमात्मक हैं; क्योंकि इस जड़राशि का लगातार परिवर्तन हो रहा है। इसी जगत् को एक दूसरे भाव से देखने पर यह एक विशाल विचार-समुद्र के समान प्रतीत होगा, जिसका एक-एक बिन्दु एक-एक मन है—तुम एक मन हो, मैं एक मन हूँ, प्रत्येक व्यक्ति केवल एक-एक मन है। फिर इसी जगत् को ज्ञान की दृष्टि से देखने पर, अर्थात् जब आँखों पर से मोह का आवरण हट जाता है, जब मन शुद्ध हो जाता है, तब यही नित्य शुद्ध, अपरिणामी, अविनाशी, अखण्ड पूर्णस्वरूप पुरुष के रूप में प्रतीत होता है। तब फिर द्वैतवादियों के परलोकवाद का—मनुष्य मरने के बाद स्वर्ग जाता है अथवा अमुक लोक में जाता है और बुरा आदमी भूत हो जाता है, उसके बाद पशु होता है आदि बातों का—क्या होता है? अद्वैतवादी कहते हैं—'न कोई आता है, न कोई जाता है—तुम्हारे लिए आना-जाना किस प्रकार सम्भव है? तुम तो अनन्तस्वरूप हो; तुम्हें जाने के लिए स्थान कहाँ?'

किसी स्कूल में छोटे बच्चों की परीक्षा हो रही थी। परीक्षक उन छोटे-छोटे बच्चों से कठिन-कठिन प्रश्न कर रहे थे। उन प्रश्नों में एक प्रश्न यह भी था, "पृथ्वी गिरती क्यों

नहीं ?" अनेक बालक इस प्रश्न को समझ न सके और अपनी-अपनी समझ से उलटे-सीधे उत्तर देने लगे। पर एक बुद्धिमती बालिका ने एक दूसरा प्रश्न करते हुए उसका उत्तर दिया, "पृथ्वी गिरेगी किस पर ?" यह प्रश्न ही तो गलत है ! विश्व में ऊँचा-नीचा कुछ भी नहीं है। ऊँचा-नीचा तो सापेक्ष ज्ञान मात्र है। आत्मा के सम्बन्ध में भी यही बात है। जन्म-मृत्यु का प्रश्न ही भूल है। कौन जाता है, कौन आता है ? तुम कहाँ नहीं हो ? वह स्वर्ग कहाँ है, जहाँ तुम पहले से ही नहीं हो ? मनुष्य की आत्मा सर्वव्यापी है। तुम कहाँ जाओगे ? कहाँ नहीं जाओगे ? आत्मा तो सब जगह है। अतएव पूर्ण जीवन्मुक्त व्यक्ति के लिए यह बालकों का-सा स्वप्न, जन्म-मृत्यु-रूप यह बालकों का-सा भ्रम, स्वर्ग-नरक आदि का स्वप्न—सब कुछ एकदम गायब हो जाता है। जिनके भीतर कुछ अज्ञान अवशिष्ट है, उनको वह ब्रह्मलोक पर्यन्त नाना प्रकार के दृश्य दिखाकर फिर अन्तर्हित होता है। और जो अज्ञानी हैं, उनके लिए वह रह जाता है।

स्वर्ग जायेंगे, मरेंगे, पैदा होंगे—इन सब बातों पर सारा जगत् विश्वास क्यों करता है ? मैं एक पुस्तक पढ़ रहा हूँ, उसके पृष्ठ-पर-पृष्ठ पढ़े जा रहा हूँ और उन्हें उलटाते जा रहा हूँ। और एक पृष्ठ आया, वह भी उलट दिया गया। परिवर्तन किसमें हो रहा है ? कौन आ-जा रहा है ? मैं नहीं, इस पुस्तक के पन्ने ही उलटे जा रहे हैं। सारी प्रकृति आत्मा के सम्मुख रखी एक पुस्तक के समान है। उसका एक के बाद दूसरा अध्याय पढ़ा जा रहा है। फिर एक नया दृश्य सामने आता है। पढ़ने के बाद उसे भी उलट दिया जाता है। फिर एक

नया अध्याय सामने आता है; पर आत्मा जैसी थी, वैसी ही रहती है—वही अनन्तस्वरूप। परिणाम प्रकृति का हो रहा है, आत्मा का नहीं। आत्मा का कभी भी परिणाम नहीं होता। जन्म-मृत्यु प्रकृति में हैं, तुममें नहीं। फिर भी अज्ञ लोग भ्रान्त होकर सोचते हैं कि हम मर रहे हैं, हम जी रहे हैं, प्रकृति नहीं। यह बात ठीक वैसी ही है, जैसे हम भ्रान्तिवश समझते हैं कि सूर्य चल रहा है, पृथ्वी नहीं। अतः यह समस्त भ्रान्ति ही है। जैसे रेलगाड़ी के बदले हम खेत आदि को चलायमान समझते हैं, जन्म और मृत्यु की यह भ्रान्ति भी ठीक वैसी ही है। जब मनुष्य किसी विशेष भाव में रहता है, तब वह इसी सत्ता को पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारा आदि के रूप में देखता है; और जो लोग इसी मनोभाव से युक्त हैं, वे भी ठीक ऐसा ही देखते हैं। मेरे तुम्हारे बीच ऐसे लाखों जीव हो सकते हैं, जो विभिन्न प्रकृतिसम्पन्न हैं। वे हमें कभी न देख पायेंगे और हम भी उन्हें कभी नहीं। हम केवल अपने ही प्रकार के चित्तवृत्तिसम्पन्न प्राणियों को देख सकते हैं। जिन वाद्य-यन्त्रों में एक ही प्रकार का कम्पन है, उनमें से एक के बजने पर शेष सभी बज उठेंगे। मान लो, हम अभी जिस प्राण-कम्पन से युक्त हैं, उसे हम 'मानव-कम्पन' नाम दे देते हैं। अब यदि यह कम्पन बदल जाय, तो फिर मनुष्य दिखाई ही नहीं देंगे। मनुष्य के बदले अन्य दृश्य हमारे सामने आ जायगा—हो सकता है, देव-जगत् और देवता आदि आ जायँ, अथवा दुष्ट मनुष्यों के लिए दानव और दानव-जगत् आ जाय। पर ये सभी एक ही जगत् के विभिन्न भाव मात्र हैं। यह जगत् मानव-दृष्टि से पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारा आदि रूपों में दिखता है, फिर यही दानवों की दृष्टि

से देखने पर नरक या दण्डालय के रूप में प्रतीत होता है। और जो स्वर्ग जाना चाहते हैं, वे इसी जगत् को स्वर्ग के रूप में देखते हैं। जो व्यक्ति आजीवन यह सोचता रहा है कि मैं स्वर्ग में सिंहासन पर बैठे हुए ईश्वर के निकट जाकर सारा जीवन उनकी उपासना करूँगा, वह मृत्यु के बाद अपने उसी मनोभाव के अनुरूप देखेगा। यह जगत् ही उसके लिए एक बृहत् स्वर्ग में परिणत हो जायगा; वह देखेगा कि नाना प्रकार की अप्सराएँ, किन्नर आदि उड़ते फिर रहे हैं और देवता लोग सिंहासनों पर बैठे हैं। स्वर्ग आदि सब कुछ मनुष्य के गढ़े हुए हैं। अतएव अद्वैतवादी कहते हैं—द्वैतवादियों की बात सत्य तो है, पर यह सब उनका अपना ही बनाया हुआ है। ये सब लोक, ये सब दैत्य, पुनर्जन्म आदि सभी रूपक (Mythology) हैं, और मानव-जीवन भी ऐसा ही है। ये सब तो रूपक हों और मानव-जीवन सत्य हो, ऐसा कभी नहीं हो सकता। मनुष्य सर्वदा यही भूल करता है। अन्यान्य वस्तुओं को तो—जैसे स्वर्ग, नरक आदि को—रूपक कहने से वह ठीक समझ लेता है, पर अपने अस्तित्व को वह कभी भी रूपक मानना नहीं चाहता। यह सारा दृश्यमान जगत् रूपक मात्र है और सबसे बड़ा मिथ्या ज्ञान तो यह है कि हम शरीर हैं। हम कभी भी शरीर नहीं थे, और न कभी हो सकते हैं। हम केवल मनुष्य हैं, यह कहना एक भयानक असत्य है। हम तो जगत् के ईश्वर हैं। ईश्वर की उपासना करके हमने सदा अपनी अव्यक्त आत्मा की ही उपासना की है। अपने को जन्म से ही दुष्ट और पापी सोचना—यही सबसे बड़ी मिथ्या बात है। पापी तो वह है, जो दूसरों को पापी देखता है। मान लो, यहाँ एक बच्चा है और सोने की

मोहरों से भरी एक थैली तुम यहाँ मेज पर रख देते हो। मान लो, एक चोर आया और थैली ले गया। बच्चे की दृष्टि में थैली का रखा जाना और चोरी हो जाना—दोनों समान हैं। उसके भीतर चोर नहीं है, इसलिए वह बाहर भी चोर नहीं देखता। पापी और दुष्ट मनुष्य को ही बाहर में पाप दिखता है, साधु पुरुष को नहीं। अत्यन्त असाधु व्यक्ति इस जगत् को नरकस्वरूप देखते हैं; मध्यम श्रेणी के लोग इसे स्वर्गस्वरूप देखते हैं; और जो पूर्ण, सिद्ध पुरुष हैं, वे इसे साक्षात् भगवान के रूप में देखते हैं। बस, तभी नेत्रों पर से आवरण हट जाता है, और पवित्र एवं शुद्ध हुआ वह व्यक्ति देखता है कि उसकी दृष्टि बिलकुल बदल गई है। जो दुःस्वप्न उसे लाखों वर्षों से पीड़ित कर रहे थे, वे सब एकदम समाप्त हो जाते हैं। और जो अपने को इतने दिन मनुष्य, देवता, दानव आदि समझ रहा था, जो अपने को कभी ऊपर, कभी नीचे, कभी पृथ्वी पर, कभी स्वर्ग में, तो कभी और किसी स्थान में स्थित समझता था, वह देखता है कि वह वास्तव में सर्वव्यापी है, वह काल के अधीन नहीं है, काल ही उसके अधीन है, सारे स्वर्ग उसके भीतर हैं, वह स्वयं किसी स्वर्ग में अवस्थित नहीं है—और मनुष्य ने आज तक जितने देवताओं की उपासना की है, वे सब-के-सब उसके भीतर ही अवस्थित हैं, वह स्वयं किसी देवता में अवस्थित नहीं है; वह देव, असुर, मानव, पशु, उद्भिद्, प्रस्तर आदि सभी का सृष्टिकर्ता है। और उस समय मनुष्य का असल स्वरूप उसके निकट इस जगत् से श्रेष्ठतर, स्वर्ग से भी श्रेष्ठतर और सर्वव्यापी आकाश से भी अधिक सर्वव्यापी रूप में प्रकाशित होता है। तभी मनुष्य निर्भय हो जाता है, तभी वह

मुक्त हो जाता है। तब सारी भ्रान्ति दूर हो जाती है, सारे दुःख दूर हो जाते हैं, सारा भय एकदम चिरकाल के लिए समाप्त हो जाता है। तब जन्म न जाने कहाँ चला जाता है और उसके साथ मृत्यु भी; दुःख न जाने कहाँ गायब हो जाता है और उसके साथ सुख भी। पृथ्वी उड़ जाती है और उसके साथ-साथ स्वर्ग भी उड़ जाता है; शरीर चला जाता है और उसके साथ मन भी। उस व्यक्ति की दृष्टि में यह सारा जगत् मानो अव्यक्त भाव धारण कर लेता है। यह जो शक्तियों का निरन्तर संग्राम, निरन्तर संघर्ष है, यह सब एकदम समाप्त हो जाता है, और जो, शक्ति और भूत के रूप में, प्रकृति की विभिन्न चेष्टाओं के रूप में प्रकाशित हो रहा था, जो स्वयं प्रकृति के रूप में प्रकाशित हो रहा था, जो स्वर्ग, पृथ्वी, उद्भिद, पशु, मनुष्य, देवता आदि के रूप में प्रकट हो रहा था, वह समस्त एक अनन्त, अच्छेद्य, अपरिणामी सत्ता के रूप में परिणत हो जाता है; और ज्ञानी पुरुष देख पाते हैं कि वे उस सत्ता से अभिन्न हैं। "जिस प्रकार आकाश में नाना वर्ण के मेघ आकर, कुछ देर खेलकर फिर अन्तर्हित हो जाते हैं," उसी प्रकार इस आत्मा के सम्मुख पृथ्वी, स्वर्ग, चन्द्रलोक, देवता, सुख, दुःख आदि आते हैं, पर वे उसी अनन्त, अपरिणामी, नीलवर्ण आकाश को हमारे सम्मुख छोड़कर अन्तर्हित हो जाते हैं। आकाश में कभी परिणाम नहीं होता, परिणाम केवल मेघ में होता है। भ्रम के वश हो हम सोचते हैं कि हम अपवित्र हैं, हम सान्त हैं, हम जगत् से पृथक् हैं। पर असल में प्रकृत मनुष्य यही एक अखण्ड सत्तास्वरूप है।

यहाँ पर दो प्रश्न उठते हैं। पहला यह कि "क्या अद्वैत

ज्ञान की उपलब्धि सम्भव है? अब तक तो सिद्धान्त की बात हुई; क्या उसकी अपरोक्षानुभूति सम्भव है?" हाँ, बिलकुल सम्भव है। ऐसे अनेक व्यक्ति संसार में इस समय भी जीवित हैं, जिनका अज्ञान सदा के लिए चला गया है। तो क्या सत्य की उपलब्धि के बाद उनकी तुरन्त मृत्यु हो जाती है? उतनी जल्दी नहीं, जितनी जल्दी हम समझते हैं। मान लो, एक लकड़ी से जुड़े हुए दो पहिए साथ-साथ चल रहे हैं। अब यदि मैं एक पहिए को पकड़कर बीच की लकड़ी को काट दूँ, तो जिस पहिए को मैंने पकड़ रखा है, वह तो रुक जायगा; पर दूसरा पहिया, जिसमें पहले का वेग अभी नष्ट नहीं हुआ है, कुछ दूर जायगा और फिर गिर पड़ेगा। पूर्ण शुद्धस्वरूप आत्मा मानो एक पहिया है, और शरीर-मनरूप भ्रान्ति दूसरा पहिया; ये दोनों कर्मरूपी लकड़ी द्वारा जुड़े हुए हैं। ज्ञान मानो कुल्हाड़ी है, जो जोड़नेवाली इस लकड़ी को काट देता है। जब आत्मारूपी पहिया रुक जाता है, तब आत्मा यह सोचना छोड़ देती है कि वह आ रही है, जा रही है, अथवा उसका जन्म होता है, मृत्यु होती है; तब वह इस प्रकार के सभी अज्ञानात्मक भावों का त्याग कर देती है और तब उसका यह भाव कि वह प्रकृति के साथ संयुक्त है, उसके अभाव और वासनाएँ हैं, बिलकुल चला जाता है। तब वह देखती है कि वह पूर्ण है, वासनारहित है। पर शरीर-मनरूपी पहिए में पूर्व कर्मों का वेग बचा रहता है। अतः जब तक पूर्व कर्मों का यह वेग पूरी तरह समाप्त नहीं हो जाता, तब तक शरीर और मन बने रहते हैं। यह वेग समाप्त हो जाने पर इनका भी नाश हो जाता है और तब आत्मा मुक्त हो जाती है। तब फिर

स्वर्गलोक जाना या स्वर्ग से पृथ्वी पर लौटना, यहाँ तक कि ब्रह्मलोक जाना भी स्थगित हो जाता है; क्योंकि आत्मा भला कहाँ से आयगी, और कहाँ जायगी ? जिन व्यक्तियों ने इस जीवन में ही इस अवस्था को प्राप्त कर लिया है, जिन्हें कम-से-कम एक मिनट के लिए भी संसार का यह दृश्य बदलकर सत्य का आभास मिल गया है, उन्हें जीवन्मुक्त के नाम से पुकारते हैं। यह जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त करना ही वेदान्ती का लक्ष्य है।

एक बार मैं पश्चिमी भारत में हिन्दमहासागर के तटवर्ती मरुदेश में भ्रमण कर रहा था। बहुत दिन तक निरन्तर पैदल भ्रमण करता रहा। किन्तु प्रतिदिन यह देखकर मुझे महान् आश्चर्य होता था कि चारों ओर सुन्दर-सुन्दर झीलें हैं, वे चारों ओर वृक्षों से घिरी हैं और वृक्षों की परछाई जल में पड़ रही है। मैं अपने मन में कहने लगा, "कैसे अद्भुत दृश्य हैं ये ! और लोग इसे रेगिस्तान कहते हैं !" एक मास तक वहाँ मैं घूमता रहा और प्रतिदिन मुझे वे सुन्दर दृश्य दिखाई देते रहे। एक दिन मुझे बड़ी प्यास लगी। मैंने सोचा कि चलूँ, वहाँ एक झील पर जाकर प्यास बुझा लूँ। अतएव मैं इन सुन्दर निर्मल झीलों में से एक की ओर अग्रसर हुआ। जैसे मैं आगे बढ़ा कि वह सब दृश्य न जाने कहाँ लुप्त हो गया। और तब मेरे मन में एकदम यह ज्ञान हुआ कि 'जीवन-भर जिस मरीचिका की बात पुस्तकों में पढ़ता रहा हूँ, यह तो वही मरीचिका है !' और उसके साथ-साथ यह ज्ञान भी हुआ कि 'इस पिछले मास प्रतिदिन मैं मरीचिका ही देखता रहा, पर कभी जान न पाया कि यह मरीचिका है।' दूसरे दिन मैंने पुनः चलना प्रारम्भ किया। फिर से वही सुन्दर दृश्य दिखने लगे, पर अब साथ-साथ

यह ज्ञान भी होने लगा कि यह सचमुच की झील नहीं है, यह मरीचिका है। बस, इस जगत् के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है। हम प्रति दिन, प्रति मास, प्रति वर्ष इस जगत्‌रूपी मरुस्थल में भ्रमण कर रहे हैं, पर मरीचिका को मरीचिका नहीं समझ पा रहे हैं। एक दिन यह मरीचिका अदृश्य हो जायगी। पर वह फिर से आ जायगी—शरीर को पूर्व कर्मों के अधीन रहना पड़ता है, अतः यह मरीचिका फिर से लौट आयगी। जब तक हम कर्म से बँधे हुए हैं, तब तक जगत् हमारे सम्मुख आयगा ही। नर, नारी, पशु, उद्भिद्, आसक्ति, कर्तव्य—सब कुछ आयगा, पर वे पहले की भाँति हम पर प्रभाव न डाल सकेंगे। इस नवीन ज्ञान के प्रभाव से कर्म की शक्ति का नाश हो जायगा, उसके विष के दाँत टूट जायँगे; जगत् हमारे लिए एकदम बदल जायगा; क्योंकि जैसे ही जगत् दिखाई देगा, वैसे ही उसके साथ सत्य और मरीचिका के भेद का ज्ञान भी हमारे सामने प्रकाशित हो जायगा। तब यह जगत् पहले का-सा जगत् नहीं रह जायगा।

किन्तु इस प्रकार के ज्ञान की साधना में एक भय की आशंका है। हम देखते हैं कि प्रत्येक देश में लोग इस वेदान्त मत को अपनाकर कहते हैं, "मैं धर्माधर्म से अतीत हूँ, मैं विधि-निषेध से परे हूँ, अतः मेरी जो इच्छा होगी, वही करूँगा।" इस देश में ही देखोगे, अनेक अज्ञानी कहते रहते हैं, "मैं बद्ध नहीं हूँ, मैं स्वयं ईश्वरस्वरूप हूँ; मेरी जो इच्छा होगी, वही करूँगा।" यह ठीक नहीं है, यद्यपि यह बात सच है कि आत्मा भौतिक, मानसिक और नैतिक सभी प्रकार के नियमों से अतीत है। नियम के अन्दर बन्धन है और नियम के बाहर मुक्ति। यह

भी सच है कि मुक्ति आत्मा का जन्मगत स्वभाव है, यह उसका जन्मसिद्ध अधिकार है और आत्मा का यह वास्तविक मुक्तस्वभाव भौतिक आवरण के भीतर से मनुष्य की आपात-प्रतीयमान स्वतन्त्रता के रूप में प्रतीत होता है। अपने जीवन के प्रत्येक क्षण तुम अपने को मुक्त अनुभव करते हो। हम अपने को मुक्त अनुभव किए बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते, बोल नहीं सकते और श्वास-प्रश्वास भी नहीं ले सकते। किन्तु फिर कुछ देर विचार करने पर यह भी प्रमाणित हो जाता है कि हम एक यन्त्र के समान हैं, मुक्त नहीं। तब कौनसी बात सत्य मानी जाय? "हम मुक्त हैं" यह धारणा ही क्या भ्रमात्मक है? एक पक्ष कहता है कि 'मैं मुक्तस्वभाव हूँ' यह धारणा भ्रमात्मक है, और दूसरा पक्ष कहता है कि 'मैं बद्धभावापन्न हूँ' यह धारणा भ्रमात्मक है। तब, ये दो प्रकार की अनुभूतियाँ कहाँ से आती हैं? वास्तव में, मनुष्य मुक्त है; मनुष्य परमार्थतः जो है, वह मुक्त के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता, किन्तु ज्योंही वह माया के जगत् में आता है, ज्योंही नामरूप के भीतर पड़ जाता है, त्योंही वह बद्ध हो जाता है। 'स्वाधीन इच्छा' कहना ही भूल है। इच्छा कभी स्वाधीन हो नहीं सकती। होगी कैसे? जो प्रकृत मनुष्य है, वह जब बद्ध हो जाता है, तभी उसकी इच्छा की उत्पत्ति होती है, उससे पहले नहीं। मनुष्य की इच्छा बद्ध है, किन्तु जो इसका मूल है, वह तो सदा ही मुक्त है। इसी लिए बन्धन की दशा में भी—चाहे मनुष्य-जीवन हो, चाहे देव-जीवन, चाहे पृथ्वी पर हो, चाहे स्वर्ग में—हममें इस स्वतन्त्रता या मुक्ति की स्मृति रहती ही है, जो कि हमारा विधिप्रदत्त अधिकार है। और जान-बूझकर हो या

अनजाने, हम सब इस मुक्ति की ही ओर अग्रसर हो रहे हैं। मनुष्य जब मुक्त हो जाता है, तब वह किस प्रकार नियम में बद्ध रह सकता है? तब जगत् का कोई भी नियम उसे बाँध नहीं सकता; क्योंकि यह विश्व-ब्रह्माण्ड ही उसका हो जाता है। तब वह विश्व-ब्रह्माण्डस्वरूप हो जाता है। या तो कह लो कि वही समुदय जगत् है, या फिर कह लो कि उसके लिए जगत् का अस्तित्व ही नहीं है। तब फिर उसके लिए लिंग, देश आदि छोटे-छोटे भाव किस प्रकार सम्भव हैं? वह कैसे कहेगा—मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ अथवा मैं बालक हूँ? क्या ये सब मिथ्या बातें नहीं हैं? उसने जान लिया है कि यह सब मिथ्या है। तब वह भला किस तरह कहेगा—ये-ये पुरुष के अधिकार हैं और ये-ये स्त्री के? किसी का कुछ अधिकार नहीं है, किसी का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। पुरुष भी नहीं है और स्त्री भी नहीं; आत्मा तो लिंगहीन है, वह नित्यशुद्ध है। मैं पुरुष या स्त्री हूँ, मैं अमुक देशवासी हूँ, यह सब कहना केवल मिथ्या है। सभी देश मेरे हैं, सारा जगत् मेरा है; क्योंकि मैंने अपने को मानो सारे जगत् से ढक लिया है, सारा जगत् ही मानो मेरा शरीर हो गया है। किन्तु हम देखते हैं कि बहुत से लोग विचार करते समय ये सब बातें मुख से कहने पर भी काम के समय सभी प्रकार के अपवित्र कार्य करते रहते हैं; और यदि उनसे पूछें, 'तुम ऐसा क्यों कर रहे हो?' तो वे उत्तर देंगे, 'यह तुम्हारी समझ की भूल है। हमसे कोई अन्याय होना असम्भव है।' इन सब लोगों को किस कसौटी पर कसें? कसौटी यह है—

यद्यपि सत् और असत् दोनों एक ही आत्मा के आंशिक प्रकाश मात्र हैं, फिर भी 'असत्'-भाव मनुष्य के वास्तविक स्वरूप

का, उसकी आत्मा का बाह्य आवरण है, और 'सत्'-भाव अपेक्षाकृत निकटतर आवरण है। जब तक मनुष्य असत् के स्तर का भेद नहीं कर लेता, तब तक वह सत् के स्तर पर नहीं पहुँच सकता; और जब तक वह सत् और असत् दोनों के स्तर में से नहीं जा चुकता, तब तक वह आत्मा के निकट नहीं पहुँच सकता। आत्मा के निकट पहुँचने पर उसके लिए फिर क्या रह जाता है?—अत्यन्त सामान्य कर्म, अतीत जीवन के कर्मों का अति सामान्य वेग; पर यह वेग भी शुभ कर्मों का ही वेग होता है। जब तक असत्-वेग एकदम समाप्त नहीं हो जाता, जब तक पहले की अपवित्रता बिलकुल दग्ध नहीं हो जाती, तब तक कोई भी सत्य का साक्षात्कार और उसकी उपलब्धि नहीं कर सकता। अतएव जो लोग आत्मा के निकट पहुँच गए हैं, जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है, उनके लिए अतीत जीवन के शुभ संस्कार, शुभ वेग ही बच रहता है। शरीर में वास करते हुए भी और अनवरत कर्म करते हुए भी वे केवल सत्कर्म ही करते हैं; उनके मुख से सबके प्रति केवल आशीर्वाद ही निकलता है, उनके हाथ केवल सत्कार्य ही करते हैं, उनका मन केवल सच्चिन्तन ही कर सकता है, उनकी उपस्थिति ही, चाहे वे कहीं भी रहें, सर्वत्र मानवजाति के लिए महान् कल्याणकर होती है। इस प्रकार के व्यक्ति के द्वारा क्या कोई बुरा कार्य सम्भव है? याद रखिए, 'प्रत्यक्षानुभूति' और 'केवल मुख से कहने' में जमीन-आसमान का अन्तर है। अज्ञानी व्यक्ति भी नाना प्रकार की ज्ञान की बातें कहता है। तोता भी इस तरह बक लेता है। मुँह से कहना एक बात है और अनुभव करना दूसरी बात। दर्शन, मतामत, विचार, शास्त्र, मन्दिर, सम्प्रदाय

आदि कोई भी बुरा नहीं है। पर यह प्रत्यक्षानुभूति होने पर इन सबकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। नक्शा अच्छी चीज है, पर नक्शे में अंकित देश को स्वयं देखकर आने के बाद यदि उसी नक्शे को फिर से देखो, तो कितना अन्तर दिखाई पड़ेगा ! अतएव जिन्होंने सत्य को प्रत्यक्ष कर लिया है, उन्हें फिर सत्य को समझने के लिए न्याय-युक्ति, तर्क-वितर्क आदि का आश्रय नहीं लेना पड़ता। उनके लिए तो सत्य उनके रोम-रोम में भिद गया है—प्रत्यक्ष का भी प्रत्यक्ष हो गया है। वेदान्तियों की भाषा में, वह मानो उनके लिए करामलकवत् हो गया है। प्रत्यक्ष उपलब्धि करनेवाले लोग निःसंकोच भाव से कह सकते हैं, 'यही आत्मा है'। तुम उनके साथ कितना ही तर्क क्यों न करो, वे तुम्हारी बात पर केवल हँसेंगे, वे उसे अण्ड-बण्ड बकवास ही समझेंगे। वे तो सत्य की उपलब्धि करके 'भरपूर' हो गए हैं। मान लो, तुम एक देश देखकर आए और कोई व्यक्ति तुम्हारे पास आकर यह तर्क करने लगा कि उस देश का कहीं अस्तित्व ही नहीं है। वह फिर कितना ही तर्क क्यों न करे, पर उसके प्रति तुम्हारा भाव यही रहेगा कि वह पागलखाने में भेज देने लायक है। इसी प्रकार, जो धर्म की प्रत्यक्ष उपलब्धि कर चुके हैं, वे कहते हैं, "जगत् में धर्म सम्बन्धी जो सब बातें सुनी जाती हैं, वे सब केवल बच्चों की-सी बातें हैं। प्रत्यक्षानुभूति ही धर्म का सार है।" धर्म की उपलब्धि की जा सकती है। प्रश्न यह है कि क्या तुम इसके अधिकारी हो चुके हो ? क्या तुम्हें धर्म की सचमुच में आवश्यकता है ? यदि तुम ठीक-ठीक प्रयत्न करो, तभी तुम्हें प्रत्यक्ष उपलब्धि होगी, और तभी तुम वास्तव में धार्मिक होगे। जब तक यह उपलब्धि तुम्हें नहीं होती, तब

तक तुममें और नास्तिक में कोई भेद नहीं। नास्तिक तो फिर भी निष्कपट होते हैं; किन्तु जो कहता है कि 'मैं धर्म में विश्वास करता हूँ', पर उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति की चेष्टा नहीं करता, वह निश्चय ही निष्कपट नहीं है।

दूसरा प्रश्न यह है कि उपलब्धि के बाद क्या होता है? मान लो कि हमने जगत् का यह अखण्ड भाव—यह भाव कि हम ही एकमात्र अनन्त पुरुष हैं—उपलब्ध कर लिया; मान लो, हमने जान लिया कि एकमात्र आत्मा ही विद्यमान है और वही विभिन्न रूपों से प्रकाशित हो रही है। तो अब प्रश्न यह है कि इस प्रकार जान लेने से हमारा क्या हुआ? तब क्या हम निश्चेष्ट हो एक कोने में बैठकर मर जायें? इससे जगत् का क्या उपकार होगा? वही प्राचीन प्रश्न फिर से घूम-फिरकर आता है! पहले तो, इससे जगत् का उपकार क्यों हो? क्यों? मैं इसका कारण जानना चाहता हूँ। लोगों को यह प्रश्न करने का अधिकार ही क्या है कि इससे जगत् का क्या भला होगा? ऐसा पूछने का अर्थ क्या? छोटे-छोटे बच्चे मिठाई पसन्द करते हैं। मान लो, तुम विद्युत् के बारे में कुछ खोज कर रहे हो और बच्चा तुमसे पूछता है, 'इससे क्या मिठाई मिलेगी?' तुम कहते हो, 'नहीं'। तो वह कह उठता है, 'तो फिर इससे क्या लाभ?' तत्वज्ञान की आलोचना में व्यस्त देखकर लोग ठीक इसी प्रकार पूछते हैं, 'इससे जगत् का क्या उपकार होगा? क्या इससे हमें रुपया मिलेगा?' 'नहीं।' 'तो फिर इससे क्या लाभ?' लोग उपकार का अर्थ बस इतना ही समझते हैं। तो भी, धर्म की इस प्रत्यक्ष अनुभूति से जगत् का पूरा उपकार होता है। लोगों को भय होता है कि जब वे यह अवस्था प्राप्त कर

लेंगे, जब उन्हें ज्ञान हो जायगा कि सभी एक हैं, तब उनके प्रेम का स्रोत सूख जायगा, जीवन में जो कुछ मूल्यवान है वह सब चला जायगा, इस जीवन में और पर-जीवन में जो कुछ उन्हें प्रिय था, उसमें से कुछ भी न बच रहेगा। पर लोग यह बात एक बार भी नहीं सोच देखते कि जो व्यक्ति अपने सुख की चिन्ता की ओर से उदासीन हो गए हैं, वे ही जगत् में सर्वश्रेष्ठ कर्मी हुए हैं। मनुष्य तभी वास्तव में प्रेम करता है, जब वह देखता है कि उसके प्रेम का पात्र कोई क्षुद्र मर्त्य जीव नहीं है। मनुष्य तभी वास्तविक प्रेम कर सकता है, जब वह देखता है कि उसके प्रेम का पात्र एक मिट्टी का ढेला नहीं किन्तु स्वयं भगवान है। स्त्री स्वामी से और अधिक प्रेम करेगी, यदि वह समझेगी कि स्वामी साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं। स्वामी भी स्त्री से अधिक प्रेम करेगा, यदि वह जानेगा कि स्त्री स्वयं ब्रह्मस्वरूप है। वे माताएँ सन्तान से अधिक स्नेह कर सकेंगी, जो सन्तान को ब्रह्मस्वरूप देखेंगी। वे ही लोग अपने महान् शत्रुओं के प्रति भी प्रेमभाव रख सकेंगे, जो जानेंगे कि ये शत्रु साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं। वे ही लोग साधु व्यक्तियों से प्रेम करेंगे, जो समझेंगे कि साधु व्यक्ति साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं। वे ही लोग अत्यन्त असाधु व्यक्तियों से भी प्रेम करेंगे, जो यह जान लेंगे कि इन महा दुष्टों के भी पीछे वे ही प्रभु विराजमान हैं। जिनका क्षुद्र अहंकार एकदम मर चुका है और उसके स्थान पर ईश्वर ने अधिकार जमा लिया है, वे ही लोग जगत् को इशारे पर चला सकते हैं। उनके लिए सारा जगत् दूसरा ही रूप धारण कर लेता है। दुःखकर अथवा क्लेशकर जो कुछ भी है, वह सब उनकी दृष्टि से चला जाता है; सभी प्रकार की गड़बड़ और द्वन्द्व मिट जाता

तक तुममें और नास्तिक में कोई भेद नहीं। नास्तिक तो फिर भी निष्कपट होते हैं; किन्तु जो कहता है कि 'मैं धर्म में विश्वास करता हूँ', पर उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति की चेष्टा नहीं करता, वह निश्चय ही निष्कपट नहीं है।

दूसरा प्रश्न यह है कि उपलब्धि के बाद क्या होता है? मान लो कि हमने जगत् का यह अखण्ड भाव—यह भाव कि हम ही एकमात्र अनन्त पुरुष हैं—उपलब्ध कर लिया; मान लो, हमने जान लिया कि एकमात्र आत्मा ही विद्यमान है और वही विभिन्न रूपों से प्रकाशित हो रही है। तो अब प्रश्न यह है कि इस प्रकार जान लेने से हमारा क्या हुआ? तब क्या हम निश्चेष्ट हो एक कोने में बैठकर मर जायँ? इससे जगत् का क्या उपकार होगा? वही प्राचीन प्रश्न फिर से घूम-फिरकर आता है! पहले तो, इससे जगत् का उपकार क्यों हो? क्यों? मैं इसका कारण जानना चाहता हूँ। लोगों को यह प्रश्न करने का अधिकार ही क्या है कि इससे जगत् का क्या भला होगा? ऐसा पूछने का अर्थ क्या? छोटे-छोटे बच्चे मिठाई पसन्द करते हैं। मान लो, तुम विद्युत् के बारे में कुछ खोज कर रहे हो और बच्चा तुमसे पूछता है, 'इससे क्या मिठाई मिलेगी?' तुम कहते हो, 'नहीं'। तो वह कह उठता है, 'तो फिर इससे क्या लाभ?' तत्त्वज्ञान की आलोचना में व्यस्त देखकर लोग ठीक इसी प्रकार पूछते हैं, 'इससे जगत् का क्या उपकार होगा? क्या इससे हमें रुपया मिलेगा?' 'नहीं।' 'तो फिर इससे क्या लाभ?' लोग उपकार का अर्थ बस इतना ही समझते हैं। तो भी, धर्म की इस प्रत्यक्ष अनुभूति से जगत् का पूरा उपकार होता है। लोगों को भय होता है कि जब वे यह अवस्था प्राप्त कर

लेंगे, जब उन्हें ज्ञान हो जायगा कि सभी एक हैं, तब उनके प्रेम का स्रोत सूख जायगा, जीवन में जो कुछ मूल्यवान है वह सब चला जायगा, इस जीवन में और पर-जीवन में जो कुछ उन्हें प्रिय था, उसमें से कुछ भी न बच रहेगा। पर लोग यह बात एक बार भी नहीं सोच देखते कि जो व्यक्ति अपने सुख की चिन्ता की ओर से उदासीन हो गए हैं, वे ही जगत् में सर्वश्रेष्ठ कर्मी हुए हैं। मनुष्य तभी वास्तव में प्रेम करता है, जब वह देखता है कि उसके प्रेम का पात्र कोई क्षुद्र मर्त्य जीव नहीं है। मनुष्य तभी वास्तविक प्रेम कर सकता है, जब वह देखता है कि उसके प्रेम का पात्र एक मिट्टी का ढेला नहीं किन्तु स्वयं भगवान है। स्त्री स्वामी से और अधिक प्रेम करेगी, यदि वह समझेगी कि स्वामी साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं। स्वामी भी स्त्री से अधिक प्रेम करेगा, यदि वह जानेगा कि स्त्री स्वयं ब्रह्मस्वरूप है। वे माताएँ सन्तान से अधिक स्नेह कर सकेंगी, जो सन्तान को ब्रह्मस्वरूप देखेंगी। वे ही लोग अपने महान् शत्रुओं के प्रति भी प्रेमभाव रख सकेंगे, जो जानेंगे कि ये शत्रु साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं। वे ही लोग साधु व्यक्तियों से प्रेम करेंगे, जो समझेंगे कि साधु व्यक्ति साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं। वे ही लोग अत्यन्त असाधु व्यक्तियों से भी प्रेम करेंगे, जो यह जान लेंगे कि इन महा दुष्टों के भी पीछे वे ही प्रभु विराजमान हैं। जिनका क्षुद्र अहंकार एकदम मर चुका है और उसके स्थान पर ईश्वर ने अधिकार जमा लिया है, वे ही लोग जगत् को इशारे पर चला सकते हैं। उनके लिए सारा जगत् दूसरा ही रूप धारण कर लेता है। दुःखकर अथवा क्लेशकर जो कुछ भी है, वह सब उनकी दृष्टि से चला जाता है; सभी प्रकार की गड़बड़ और द्वन्द्व मिट जाता

है। तब यह जगत् उनके लिए कारागार होने के बदले (जहाँ हम प्रतिदिन एक टुकड़ा रोटी के लिए झगड़ा और मारपीट करते हैं) एक क्रीड़ाक्षेत्र बन जाता है। तब जगत् बड़ा सुन्दर रूप धारण कर लेता है। ऐसे ही व्यक्ति को यह कहने का अधिकार है कि 'यह जगत् कितना सुन्दर है!' उन्हीं को यह कहने का अधिकार है कि सब मंगलस्वरूप है। इस प्रकार की प्रत्यक्ष उपलब्धि से जगत् का यह महान् हित होगा कि जगत् का यह सब विवाद, द्वन्द्व आदि सब दूर होकर शान्ति का राज्य हो जायगा। यदि जगत् के सभी मनुष्य आज इस महान् सत्य के एक बिन्दु की भी उपलब्धि कर सकें, तो उनके लिए यह सारा जगत् एक दूसरा ही रूप धारण कर लेगा और यह सब झगड़ा समाप्त हो शान्ति का राज्य आ जायगा। यह घिनौना उतावलापन, यह स्पर्धा, जो हमें, अन्य सबों को ठेलकर आगे बढ़ निकलने के लिए बाध्य करती है, इस संसार से उठ जायगी। इसके साथ-साथ सब प्रकार की अशान्ति, घृणा, ईर्ष्या एवं सभी प्रकार का अशुभ सदा के लिए चला जायगा। उस समय देवता लोग इस जगत् में वास करेंगे। उस समय यही जगत् स्वर्ग हो जायगा। और जब देवता देवता से खेलेगा, देवता देवता से मिलकर कार्य करेगा, देवता देवता से प्रेम करेगा, तब क्या अशुभ ठहर सकता है? ईश्वर की प्रत्यक्ष उपलब्धि का यही एक बड़ा सुफल है। समाज में आप जो कुछ भी देख रहे हैं, वह सभी उस समय परिवर्तित होकर एक दूसरा रूप धारण कर लेगा। तब आप किसी मनुष्य को बुरा नहीं समझेंगे। यही प्रथम महालाभ है। उस समय आप लोग किसी अन्याय करनेवाले गरीब नर-नारी की ओर घृणापूर्ण दृष्टि से नहीं

देखेंगे। हे महिलाओ, फिर आप रात-भर रास्ते में भटकती फिरनेवाली दुखिया स्त्री की ओर घृणा से न देखेंगी; क्योंकि आप वहाँ भी साक्षात् ईश्वर को देखेंगी। तब आपमें ईर्ष्या अथवा दूसरों पर शासन करने का भाव उदय नहीं होगा; वह समस्त चला जायगा। तब प्रेम इतना प्रबल हो जायगा कि मानव-जाति को सत्पथ पर चलाने के लिए फिर चाबुक की आवश्यकता नहीं रह जायगी।

यदि संसार के नर-नारियों का एकलक्षांश भी बिलकुल चुप रहकर एक क्षण के लिए कहे, "तुम सभी ईश्वर हो; हे मानवो, हे पशुओ, हे सब प्रकार के जीवित प्राणियो ! तुम सभी एक जीवन्त ईश्वर के प्रकाश हो," तो आधे घण्टे के अन्दर ही सारे जगत् का परिवर्तन हो जाय। उस समय चारों ओर घृणा के बीज न बोकर, ईर्ष्या और असत् चिन्ता का प्रवाह न फैलाकर सभी देशों के लोग सोचेंगे कि सभी 'वह' हैं। जो कुछ तुम देख रहे हो या अनुभव कर रहे हो, वह सब 'वही' है। तुम्हारे भीतर अशुभ न रहने पर तुम अशुभ किस तरह देखोगे ? तुम्हारे भीतर यदि चोर न हो, तो तुम किस प्रकार चोर देखोगे ? तुम स्वयं यदि खूनी नहीं हो, तो किस प्रकार खूनी देखोगे ? साधु हो जाओ, तो असाधु-भाव तुम्हारे अन्दर से एकदम चला जायगा। इस प्रकार सारे जगत् का परिवर्तन हो जायगा। यही समाज का सबसे बड़ा लाभ है। मनुष्य के लिए यही महान् लाभ है। ये सब भाव भारत में प्राचीन काल में अनेक महात्माओं द्वारा आविष्कृत और कार्य-रूप में परिणत हुए थे। पर आचार्यों की संकीर्णता और देश की पराधीनता आदि अनेकविध कारणों से ये सब भाव चारों

ओर फैल न सके। फिर भी ये सब महान् सत्य हैं। जहाँ भी इन विचारों का प्रभाव पड़ा है, वहीं मनुष्य ने देवत्व प्राप्त कर लिया है। ऐसे ही एक देवस्वभाव मनुष्य के द्वारा मेरा समस्त जीवन परिवर्तित हो गया है; इनके सम्बन्ध में आगामी रविवार को मैं आपसे कहूँगा। आज इन सब भावों का जगत् में प्रचार करने का समय आ गया है। अब मठों की चहारदीवारी में आबद्ध न रहकर, केवल पण्डितों के पढ़ने की दार्शनिक पुस्तकों में आबद्ध न रहकर, केवल कुछ सम्प्रदायों के अथवा कुछ पण्डितों के एकाधिकार में न रहकर इन भावों का समस्त जगत् में प्रचार होगा, जिससे ये साधु, पापी, आबाल-वृद्ध-वनिता, शिक्षित, अशिक्षित सभी की साधारण सम्पत्ति हो जायँ। तब ये सब भाव इस जगत् की वायु में खेलने लगेंगे और हम श्वास-प्रश्वास द्वारा जो वायु ले रहे हैं, वह अपने प्रत्येक स्पन्दन के साथ कहने लगेगी—'तत्त्वमसि'! असंख्य चन्द्र-सूर्य-पूर्ण यह समग्र ब्रह्माण्ड वाक्शक्तियुक्त प्रत्येक पदार्थ के भीतर से कह उठेगा—'तत्त्वमसि'!

माया और ईश्वर-धारणा
का
क्रमविकास

हमने देखा कि अद्वैत वेदान्त का अन्यतम मूलभित्तिस्वरूप मायावाद अस्पष्ट रूप से संहिताओं में भी देखा जाता है, और उपनिषदों में जिन तत्त्वों को खूब परिस्फुट रूप मिल गया है, वे सभी संहिताओं में अस्पष्ट रूप से किसी-न-किसी आकार में विद्यमान हैं। आपमें से बहुत से लोग अब मायावाद के तत्त्व को अच्छी तरह समझ गए होंगे और यह जान गए होंगे कि प्रायः लोग भ्रान्तिवश माया को 'भ्रम' कहकर व्याख्या करते हैं। अतएव वे जब जगत् को माया कहते हैं, तब उसे भी भ्रम ही कहकर उसकी व्याख्या करनी पड़ती है। माया को 'भ्रम' के अर्थ में लेना ठीक नहीं। माया कोई विशेष मत नहीं है, वह तो केवल विश्व-ब्रह्माण्ड के स्वरूप का वर्णन मात्र है। इस माया को समझने के लिए हमें संहिता तक जाना पड़ेगा, और पहले माया का क्या अर्थ था, उसके सम्बन्ध में क्या धारणा थी, यह भी देखना पड़ेगा। हम यह देख चुके हैं कि लोगों में देवताओं का ज्ञान किस प्रकार आया। हमें समझना होगा कि ये देवता पहले केवल शक्तिशाली पुरुष थे। आप लोगों में से अनेक ग्रीक, हिब्रू, पारसी अथवा अन्य जातियों के प्राचीन शास्त्रों में यह पढ़कर भयभीत हो जाते हैं कि देवता लोग कभी-कभी ऐसा कार्य करते थे, जो हमारी दृष्टि में अत्यन्त घृणित है। पर हम यह भूल जाते हैं कि हम लोग उन्नीसवीं शताब्दी के हैं और देवतागण सहस्रों वर्ष पहले के जीव थे; और हम यह भी भूल जाते

हैं कि इन सब देवताओं के उपासक लोग उनके चरित्र में कुछ भी असंगत बात नहीं देख पाते थे और वे जिस ढंग से अपने उन देवताओं का वर्णन करते थे, उससे उन्हें कुछ भी भय नहीं होता था, क्योंकि वे सब देवता उन्हीं के अनुरूप थे। हम लोगों को आजीवन यह बात सीखनी होगी कि प्रत्येक व्यक्ति की परख उसके अपने आदर्शों के अनुसार करनी होगी, दूसरों के आदर्शों के अनुसार नहीं। ऐसा न करके हम दूसरों को अपने आदर्शों की दृष्टि से देखते हैं। यह ठीक नहीं। अपने आसपास रहनेवाले लोगों के साथ व्यवहार करते समय हम सदा यही भूल करते हैं, और मेरे मतानुसार, दूसरों के साथ हमारी जो कुछ भी अनबन हो जाती है, वह अधिकतर इसी एक कारण से होती है कि हम दूसरों के देवता को अपने देवता के द्वारा, दूसरों के आदर्शों को अपने आदर्शों के द्वारा और दूसरों के उद्देश्य को अपने उद्देश्य के द्वारा परखने की चेष्टा करते हैं। कुछ विशेष परिस्थितियों से बाध्य हो, मान लो, मैंने कोई एक विशेष कार्य किया, और जब मैं देखता हूँ कि एक दूसरा व्यक्ति यही कार्य कर रहा है, तो मैं सोच लेता हूँ कि उसका भी यही उद्देश्य है; मेरे मन में यह बात एक बार भी नहीं उठती कि यद्यपि फल एक हो सकता है, तथापि उस एक फल के उत्पन्न करनेवाले भिन्न-भिन्न सहस्रों कारण हो सकते हैं। मैं जिस हेतु से उस कार्य को करने में प्रवृत्त होता हूँ, अन्य सब लोग उसी कार्य को अन्य हेतुओं से कर सकते हैं। अतएव इन [illegible] धर्मों पर विचार करते समय हम जिस तरह दूसरों [illegible] में विचार करते हैं वैसा न करें, वरन् हम अपने को [illegible] काल के लोगों की स्थिति में रखकर फिर विचार करें।

ओल्ड टेस्टामेण्ट (Old Testament) में निष्ठुर जिहोवा के वर्णन से बहुत से लोग भयभीत हो उठते हैं; पर क्यों? लोगों को यह कल्पना करने का क्या अधिकार है कि प्राचीन यहूदियों का जिहोवा हमारी कल्पना के ईश्वर के समान होगा? और हमें यह भी न भूलना चाहिए कि हमारे बाद जो लोग आयेंगे, वे उसी तरह हमारे धर्म और ईश्वर की धारणा पर हँसेंगे, जिस तरह हम प्राचीन लोगों के धर्म व ईश्वर की धारणा पर हँसते हैं। यह सब होने पर भी, इन सब विभिन्न ईश्वर सम्बन्धी धारणाओं का संयोग करनेवाला एक स्वर्णसूत्र है, और वेदान्त का उद्देश्य है इस सूत्र का आविष्कार करना। भगवान कृष्ण ने कहा है—"भिन्न-भिन्न मणियाँ जिस प्रकार एक सूत्र में पिरोई हुई रहती हैं, उसी प्रकार इन सब विभिन्न भावों के भीतर भी एक सूत्र विद्यमान है।" और आजकल की धारणाओं की दृष्टि में वे सब प्राचीन धारणाएँ कितनी ही वीभत्स, भयानक अथवा घृणित क्यों न मालूम पड़ें, वेदान्त का कर्तव्य उन सभी प्राचीन धारणाओं एवं सभी वर्तमान धारणाओं के भीतर इस संयोग-सूत्र का आविष्कार करना है। प्राचीन काल की अवस्था को लेकर विचार करने पर वे धारणाएँ अधिक संगत मालूम पड़ती हैं और ऐसा लगता है कि हमारी वर्तमान धारणाओं से वे शायद अधिक वीभत्स नहीं थीं। उनकी वीभत्सता हमारे सामने तभी प्रकट होती है, जब हम उस प्राचीन समाज की अवस्था और लोगों के नैतिक भाव को, जिनके भीतर इन सब देवताओं का भाव विकसित हुआ था, पृथक् करके उन भावों को देखते हैं। प्राचीन काल की सामाजिक अवस्था आज नहीं रही। जिस प्रकार प्राचीन यहूदी आज के तीक्ष्ण-बुद्धि यहूदी में

परिणत हो गया है, जिस प्रकार प्राचीन आर्य आज के बुद्धिमान हिन्दू में परिणत हो गया है, उसी प्रकार जिहोवा की और अन्य देवताओं की भी क्रमोन्नति हुई है। हम इतनी ही भूल करते हैं कि हम उपासक की क्रमोन्नति तो स्वीकार करते हैं, परन्तु ईश्वर की नहीं। हम उपासकों को जिस प्रकार उन्नति का श्रेय देते हैं, उस प्रकार ईश्वर को नहीं देना चाहते। तात्पर्य यह कि हम-तुम जिस प्रकार कुछ विशिष्ट भावों के द्योतक होने के नाते, उन भावों की उन्नति के साथ-साथ उन्नत हुए हैं, उसी प्रकार देवतागण भी विशेष-विशेष भावों के द्योतक होने के कारण, उन भावों की उन्नति के साथ उन्नत हुए हैं। आप शायद यह आश्चर्य करें कि देवता और ईश्वर की भी कहीं उन्नति होती है? तो इस पर ऐसा भी कहा जा सकता है कि क्या मनुष्य की भी कभी उन्नति होती है? आगे चलकर हम देखेंगे कि इस मनुष्य के भीतर जो प्रकृत मनुष्य है, वह अचल, अपरिणामी, शुद्ध और नित्यमुक्त है। जिस प्रकार यह मनुष्य उस असल मनुष्य की छाया मात्र है, उसी प्रकार हमारी ईश्वर सम्बन्धी धारणाएँ केवल हमारे मन की सृष्टि हैं—वे उस प्रकृत ईश्वर का आंशिक प्रकाश, आभास मात्र हैं। इन समस्त आंशिक प्रकाशों के पीछे प्रकृत ईश्वर विद्यमान है और वह नित्यशुद्ध, अपरिणामी है। किन्तु ये सब आंशिक प्रकाश सर्वदा ही परिणामशील हैं—ये अपने अन्तरालस्थ सत्य की क्रमाभिव्यक्ति मात्र हैं; वह सत्य जब अधिक परिमाण में अभिव्यक्त होता है, तब उसे उन्नति, और जब उसका अधिकांश ढका हुआ या अनभिव्यक्त रहता है, तब उसे अवनति कहते हैं। इस प्रकार, जैसे-जैसे हमारी उन्नति होती है, वैसे-ही-वैसे देवताओं की भी,

होती है। सीधे-सादे शब्दों में, जैसे-जैसे हमारी उन्नति होती है, जैसे-जैसे हमारा स्वरूप प्रकाशित होता है, वैसे-ही-वैसे देवता भी अपना स्वरूप प्रकाशित करते जाते हैं।

अब हम मायावाद को समझ सकेंगे। संसार के सभी धर्मों ने इस प्रश्न को उठाया है—संसार में यह असामंजस्य क्यों है? संसार में यह अशुभ क्यों है? धर्मभाव के प्रथम आविर्भाव के समय हम इस प्रश्न को उठते नही देखते; इसका कारण यह है कि आदिम-मनुष्य को जगत् असामंजस्यपूर्ण नही प्रतीत हुआ। उसके चारों ओर कोई असामंजस्य नहीं था, किसी प्रकार का मत-विरोध नहीं था, भले-बुरे की कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं थी। उसके हृदय में केवल दो बातों का संग्राम हो रहा था। एक कहती थी—यह करो, और दूसरी उसको करने का निषेध करती थी। पहले का मानव भावनाओं का दास था। उसके मन में जो आता था, वही करता था। वह इन भावनाओं के सम्बन्ध में विचार करने अथवा उनका संयम करने का बिलकुल प्रयत्न नहीं करता था। इन सब देवताओं के सम्बन्ध में भी यही बात है; ये लोग भी अपनी भावनाओं के अधीन थे। इन्द्र आया और उसने दैत्य-दल को छिन्न-भिन्न कर दिया। जिहोवा किसी के प्रति सन्तुष्ट था, तो किसी से रुष्ट; क्यों, यह कोई भी नहीं जानता, जानना भी नही चाहता। इसका कारण यह कि उस समय लोगों में अनुसन्धान की प्रवृत्ति ही नही जगी थी; इसलिए वे जो कुछ भी करते, वही ठीक था। उस समय भले-बुरे की कोई धारणा नहीं थी। हम जिन्हें बुरा कहते है, ऐसे बहुतसे कार्य देवता लोग करते थे; हम वेदों में देखते हैं कि इन्द्र और अन्यान्य देवताओं ने अनेक बुरे कार्य किए हैं, पर इन्द्र के

उपासकों की दृष्टि में पाप या पुण्य नाम कुछ भी न था, अतः वे इस सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं करते थे।

नैतिक भाव की उत्पत्ति के साथ-साथ मनुष्य के मन में एक युद्ध प्रारम्भ हुआ, मनुष्य में मानो एक नई इन्द्रिय का आविर्भाव हुआ। भिन्न-भिन्न भाषाओं और भिन्न-भिन्न जातियों ने इसे भिन्न-भिन्न नाम दिए हैं; कोई कहता है—यह ईश्वर की वाणी है, और कोई यह कि वह पहले की शिक्षा का फल है। जो भी हो, उसने प्रवृत्तियों को दमन करनेवाली शक्ति के रूप में काम किया। हमारे मन की एक प्रवृत्ति कहती है, यह काम करो, और दूसरी कहती है, मत करो। हमारे भीतर एक प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं, जो इन्द्रियों के द्वारा बाहर जाने की चेष्टा करती रहती हैं। और उनके पीछे, चाहे कितना ही क्षीण क्यों न हो, एक स्वर कहता रहता है—बाहर मत जाना। इन दो बातों के संस्कृत नाम हैं—प्रवृत्ति और निवृत्ति। प्रवृत्ति ही हमारे समस्त कर्मों का मूल है। निवृत्ति से धर्म की उत्पत्ति है। धर्म आरम्भ होता है—इस "मत करना" से; आध्यात्मिकता भी इस "मत करना" से ही आरम्भ होती है। जहाँ यह "मत करना" नहीं है, वहाँ जानना कि धर्म का आरम्भ ही नहीं हुआ। इस "मत करना" से ही निवृत्ति का भाव आ गया, और निरन्तर युद्ध में रत अपने पाशव-प्रकृति देवताओं के बावजूद भी मनुष्य की धारणा उन्नत होने लगी।

अब मनुष्य के हृदय में कुछ प्रेम ने प्रवेश किया। अवश्य उसकी मात्रा बहुत थोड़ी थी और आज भी वह मात्रा कोई अधिक नहीं है। पहले-पहल वह प्रेम कबीले तक सीमित रहा। ये सब देवता केवल अपने कबीले से प्रेम करते थे। प्रत्येक

देवता एक-एक कबीले का देवता था और उस विशिष्ट कबीले का रक्षक मात्र था। और जिस प्रकार भिन्न-भिन्न देशों के विभिन्न वंशीय लोग अपने को उस एक पुरुषविशेष का वंशज कहते हैं, जो उस वंश के प्रतिष्ठाता होते हैं, उसी प्रकार कभी-कभी किसी कबीले के लोग अपने को अपने देवता का वंशधर समझते थे। प्राचीन काल में कुछ ऐसी जातियाँ थीं, और आज भी हैं, जो अपने को चन्द्र या सूर्य का वंशधर कहती थीं। संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में आपने बड़े-बड़े सूर्यवंशी वीर सम्राटों की कथाएँ पढ़ी होंगी। ये लोग पहले चन्द्र या सूर्य के उपासक थे; और बाद में ये अपने को चन्द्र या सूर्य का वंशज कहने लगे। अतः जब यह जातीय भाव आने लगा, तब किंचित् प्रेम जागा, एक दूसरे के प्रति थोड़ा कर्तव्य-भाव आया, कुछ सामाजिक शृंखला की उत्पत्ति हुई; और इसके साथ-ही-साथ यह भावना भी आने लगी कि एक दूसरे का दोष सहन या क्षमा किए बिना हम कैसे एक साथ रह सकेंगे? एक-न-एक समय अपनी प्रवृत्तियों का संयम किए बिना मनुष्य भला किस प्रकार दूसरों के साथ, यहाँ तक कि एक भी व्यक्ति के साथ रह सकता है? यह असम्भव है। बस इसी प्रकार संयम की भावना आई। इस संयम की भावना में ही सम्पूर्ण समाज गुँथा हुआ है, और हम जानते हैं कि जो नर-नारी इस सहिष्णुता या क्षमारूपी शिक्षा से रहित हैं, वे अत्यन्त कष्ट में जीवन बिताते हैं।

अतएव, जब इस प्रकार धर्म का भाव आया, तब मनुष्य के मन में एक उच्चतर एवं अपेक्षाकृत अधिक नीतिसंगत भाव का आभास आया। तब वे अपने उन्हीं प्राचीन देवताओं में—चंचल, लड़ाकू, शराबी, गो-मांसाहारी देवताओं में, जिनको जले

मांस की गन्ध और तीव्र सुरा की आहुति से ही परम आनन्द होता था—कुछ असंगति देखने लगे। दृष्टान्तस्वरूप देखिए, वेद में वर्णन आता है कि कभी-कभी इन्द्र इतना मद्यपान कर लेता था कि वह बेहोश होकर गिर पड़ता और अण्ड-बण्ड बकने लगता। इस प्रकार के देवताओं में विश्वास स्थापित रखना लोगों के लिए अब असम्भव हो गया। तब सभी के उद्देश्यों की खोज आरम्भ हो गई और देवताओं के कार्यों के उद्देश्य भी पूछे जाने लगे। अमुक देवता के अमुक कार्य का क्या उद्देश्य है? कोई उद्देश्य नहीं मिला। अतएव लोगों ने उन सब देवताओं का त्याग कर दिया, अथवा दूसरे शब्दों में, वे फिर देवताओं के विषय में और भी उच्च धारणाएँ बनाने लगे। उन्होंने देवताओं के उन सब गुणों तथा कार्यों को, जो अच्छे थे, जिन्हें वे समझ सकते थे, एकत्र किया और जिन कार्यों को उन्होंने अच्छा नहीं समझा अथवा समझा ही नहीं, उन्हें अलग कर दिया। इन अच्छे-अच्छे भावों की समष्टि को उन्होंने 'देव-देव' नाम दे दिया। तब उनके उपास्य देवता केवल शक्ति के परिचायक मात्र नहीं रहे; शक्ति से अधिक और भी कुछ उनके लिए आवश्यक हो गया। अब वे नीतिपरायण देवता हो गए; वे मनुष्यों से प्रेम करने लगे, मनुष्यों का हित करने लगे। पर देवता सम्बन्धी धारणा फिर भी अक्षुण्ण रही। उन लोगों ने देवता की नीतिपरायणता तथा शक्ति को केवल बढ़ा भर दिया। अब वे देवता विश्व में सर्वश्रेष्ठ नीतिपरायण तथा एक प्रकार से सर्वशक्तिमान भी हो गए।

किन्तु यह जोड़-गाँठ कब तक चल सकती थी? जैसे-जैसे जगत् के रहस्य की व्याख्या सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती गई, वैसे-

वैसे यह रहस्य मानो और भी रहस्यमय होता गया। देवता अथवा ईश्वर के गुण यदि समयुक्तान्तर श्रेणी (Arithmetical progression) के नियम से बढ़ने लगे, तो सन्देह और कठिनाइयाँ समगुणितान्तर श्रेणी (Geometrical progression) के नियम से बढ़ने लगीं। निष्ठुर जिहोवा के साथ जगत् का सामंजस्य स्थापित करने में जो कठिनाई होती थी, उससे भी अधिक कठिनाई ईश्वर सम्बन्धी नवीन धारणा के साथ जगत् का सामंजस्य स्थापित करने में होने लगी। सर्वशक्तिमान और प्रेममय ईश्वर के राज्य में ऐसी पैशाचिक घटनाएँ क्यों घटती हैं? सुख की अपेक्षा दुःख इतना अधिक क्यों है? साधु-भाव जितना है, असाधु-भाव उससे इतना अधिक क्यों है? संसार में कुछ भी खराबी नहीं है ऐसा समझकर भले ही हम आँखें बन्द करके बैठे रहें, पर उससे संसार की बीभत्सता में कुछ भी अन्तर नहीं आता। बहुत हुआ तो यह संसार बस टैण्टालस के नरक* के समान है; उससे यह किसी अंश में अच्छा नहीं। यहाँ हम हैं प्रबल प्रवृत्तियाँ लिए और इन्द्रियों को चरितार्थ करने की प्रबलतर वासनाएँ लिए, पर उनकी पूर्ति का कोई उपाय नहीं! अपनी इच्छा के विरुद्ध हममें एक तरंग उठती है, जो हमें आगे बढ़ने को बाध्य करती है, परन्तु जैसे ही हम एक पाँव आगे

* ग्रीक लोगों की एक पौराणिक कथा है कि टैण्टालस नामक राजा पाताल के एक तालाब में गिर पड़ा था। तालाब का पानी उसके ओठों तक आता था, परन्तु जैसे ही वह अपनी प्यास बुझाने का प्रयत्न करता, वैसे ही पानी कम हो जाता था। उसके सिर के ऊपर नाना प्रकार के फल लटकते थे, और जैसे ही वह उन्हें पकड़ने जाता कि वे गायब हो जाते थे।

भड़ाते हैं, वैसे ही एक धक्का लगता है। हम सभी टैन्टालस की भाँति इस जगत् में जीवित रहने और मरने को मानो विधि-विधान से अभिशप्त हैं! पंचेन्द्रिय द्वारा सीमाबद्ध जगत् से अतीत के आदर्श हमारे मस्तिष्क में आते हैं, पर बहुत प्रयत्न करने पर भी हम देखते हैं कि उन्हें हम कभी भी कार्य-रूप में परिणत नहीं कर सकते। प्रत्युत हम अपने चारों ओर की परिस्थिति के चक्र में पिसकर चूर-चूर हो परमाणुओं में परिणत हो जाते हैं। और दूसरी ओर, यदि मैं आदर्श-प्राप्ति की चेष्टा का परित्याग कर केवल सांसारिक भाव को लेकर रहना चाहूँ, तो भी मुझे पशु-जीवन बिताना पड़ता है और मेरी अवनति हो जाती है। अतएव किसी भी ओर सुख नहीं। जो लोग इस संसार में जिस अवस्था में उत्पन्न हुए हैं उसी अवस्था में रहना चाहते हैं, तो उनके भाग्य में भी दुःख है। और जो लोग सत्य के लिए—इस पाशविक जीवन से कुछ उन्नत जीवन के लिए—प्राण देने को आगे बढ़ते हैं, उनके लिए तो और भी सहस्रगुना दुःख है। यही वस्तुस्थिति है, पर इसकी कोई व्याख्या नहीं। और व्याख्या हो भी नहीं सकती। पर वेदान्त इससे बाहर निकलने का मार्ग बतलाता है। ये सब भाषण देते समय शायद मुझे कुछ ऐसी भी बातें कहनी पड़ें, जिनसे आप भयभीत हो जायँ, पर जो कुछ मैं कह रहा हूँ, उसे यदि आप याद रखें, भलीभाँति हजम कर लें और उसके सम्बन्ध में दिन-रात चिन्तन करें, तो वह आपके अन्दर बैठ जायगी, आपकी उन्नति करेगी और सत्य को समझने तथा सत्य में प्रतिष्ठित होने में आपको समर्थ करेगी।

अब, यह एक सत्य बात है, कोई मतविशेष नहीं, कि यह संसार टैन्टालस का नरक है, और यह भी सत्य है कि हम इस

जगत् के बारे में कुछ भी नहीं जानते; पर साथ ही हम यह भी तो नहीं कह सकते कि हम नहीं जानते। जब मैं सोचता हूँ कि मैं इस जगत्-शृंखला के बारे में नहीं जानता, तो मैं यह नहीं कह सकता कि इसका अस्तित्व है। यह मेरे मस्तिष्क का पूर्ण भ्रम हो सकता है। हो सकता है, मैं केवल स्वप्न देख रहा हूँ। मैं स्वप्न देख रहा हूँ कि मैं आपसे बातें कर रहा हूँ और आप मेरी बात सुन रहे हैं। कोई भी यह सिद्ध नहीं कर सकता कि यह स्वप्न नहीं है। 'मेरा मस्तिष्क' भी तो एक स्वप्न हो सकता है, और सचमुच, अपना मस्तिष्क देखा किसने है? वह तो हमने केवल मान लिया है। सभी विषयों के सम्बन्ध में यही बात है। अपने शरीर को भी तो हम मान ही लेते हैं। फिर यह भी नहीं कह सकते कि हम नहीं जानते। ज्ञान और अज्ञान के बीच की यह अवस्था, यह रहस्यमय पहेली, यह सत्य और मिथ्या का मिश्रण—कहाँ जाकर इनका मिलन हुआ है, कौन जाने? हम स्वप्न में विचरण कर रहे हैं—अर्धनिद्रित, अर्धजाग्रत्—जीवन-भर एक पहेली में आवद्ध, हममें से प्रत्येक की बस यही दशा है! सारे इन्द्रिय-ज्ञान की यही दशा है। सारे दर्शनों की, सारे विज्ञान की, सब प्रकार के मानवीय ज्ञान की—जिनको लेकर हमें इतना अहंकार है—सबकी बस यही दशा है—यही परिणाम है। बस यही ब्रह्माण्ड है।

चाहे पदार्थ कहो, चाहे मन, चाहे आत्मा, चाहे किसी भी नाम से क्यों न पुकारो, बात एक ही है—हम यह नहीं कह सकते कि ये सब हैं, और यह भी नहीं कह सकते कि ये सब नहीं हैं। हम इन सबको एक भी नहीं कह सकते और अनेक भी नहीं। यह प्रकाश और अन्धकार का दुर्बलता,

यह अविविक्त अपृथक् और अविभाज्य मिश्रण, जिसमें सारी घटनाएँ कभी सत्य मालूम होती हैं, कभी मिथ्या—सदा से चल रहा है। इसके कारण कभी लगता है कि हम जाग्रत् हैं, कभी लगता है कि सोए हुए हैं। बस यही माया है, यही वस्तुस्थिति है। इसी माया में हमारा जन्म हुआ है, इसी में हम जीवित हैं; इसी में सोच-विचार करते हैं, इसी में स्वप्न देखते हैं। इसी में हम दार्शनिक हैं, इसी में साधु हैं; यही नहीं, हम इस माया में ही कभी दानव और कभी देवता हो जाते हैं। विचार के रथ पर चढ़कर चाहे जितनी दूर जाओ, अपनी धारणा को ऊँचे-से-ऊँचा बनाओ, उसे अनन्त या जो इच्छा हो नाम दो, पर तो भी यह सब माया के ही भीतर है। इसके विपरीत हो ही नहीं सकता; और मनुष्य का जो कुछ ज्ञान है, वह बस इस माया का ही साधारण भाव है। इस माया के दिखनेवाले रूप का ज्ञान ही सारे मानवी ज्ञान की सीमा है। यह माया नाम-रूप का कार्य है। जिस किसी वस्तु का रूप है, जो भी कुछ तुम्हारे मन में किसी प्रकार के भाव का उद्दीपन कर देता है, वह सब माया के ही अन्तर्गत है। जर्मन दार्शनिक भी कहते हैं—सब कुछ देश-काल-निमित्त के अधीन है, और वही माया है।

अब हम पुनः यह विचार करेंगे कि उस ईश्वर-धारणा के सम्बन्ध में क्या हुआ। इसके पहले संसार की अवस्था का जो चित्र खींचा गया है, उससे सहज ही समझ में आ जाता है कि पूर्वोक्त ईश्वर की धारणा ठहर ही नहीं सकती। अर्थात् ऐसा कभी नहीं हो सकता कि कोई एक ईश्वर अनन्त काल से हमें प्यार कर रहे हैं, वे अनन्त, सर्वशक्तिमान और निःस्वार्थ पुरुष हैं और इस विश्व का

शासन कर रहे हैं। दार्शनिक साहस के साथ इस सगुण ईश्वर-धारणा के विरुद्ध खड़ा होता है। वह पूछता है—तुम्हारा न्यायशील, दयालु ईश्वर कहाँ है? क्या वह अपनी मनुष्य और पशु रूप लाखों सन्तानों का विनाश नहीं देखता? कारण, ऐसा कौन है, जो एक क्षण भी दूसरों की हिंसा किए बिना जीवन धारण कर सकता है? क्या आप सहस्रों जीवन का संहार किए बिना एक साँस भी ले सकते हैं? लाखों जीव मर रहे हैं, इसी से आप जीवित हैं। आपके जीवन का प्रत्येक क्षण, आपका प्रत्येक निःश्वास सहस्रों जीवों के लिए मृत्यु है; आपकी प्रत्येक हलचल लाखों जीवों का काल है। वे क्यों मरें? इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त प्राचीन, अयुक्तिपूर्ण दलील दी जाती है—"वे तो अति क्षुद्र जीव हैं।" पर यह तो एक सन्दिग्ध विषय है। कौन कह सकता है कि चींटी मनुष्य से श्रेष्ठ है, अथवा मनुष्य चींटी से? कौन सिद्ध कर सकता है कि यह ठीक है अथवा वह? यदि कहो कि मनुष्य घर बना सकता है, यन्त्र बना सकता है, इसलिए वह श्रेष्ठ है; तो यह भी तो कहा जा सकता है कि चींटी घर नहीं बना सकती, यन्त्र नहीं बना सकती, इसलिए वही श्रेष्ठ है। जिस प्रकार इस पक्ष में कोई युक्ति नहीं है, उसी प्रकार उस पक्ष में भी कोई युक्ति नहीं। अस्तु।

अच्छा, यदि मान भी लिया कि वे अति क्षुद्र जीव हैं, फिर भी वे मरें क्यों? यदि वे क्षुद्र हैं, तो उनको बचे रहने का तो और भी अधिकार है। वे क्यों न बचें? उनका जीवन इन्द्रियों में ही अधिक आवद्ध है, अतः वे हमारी-तुम्हारी अपेक्षा सहस्रगुना अधिक दुःख-सुख का बोध करते हैं। कुत्ता या भेड़िया जिस

साथ के साथ भोजन करता है, उस तरह कौन मनुष्य कर सकता है ? इसका कारण यह है कि हमारी समस्त कार्य-प्रवृत्ति इन्द्रियों में नहीं है—यह बुद्धि में है, आत्मा में है। पर कुत्ते के प्राण इन्द्रियों में ही पड़े रहते हैं, वह इन्द्रिय-सुख के लिए पागल हो जाता है; वह जितने आनन्द के साथ इन्द्रिय-सुख का उपभोग करता है, हम मनुष्य उस प्रकार नहीं कर सकते। पर उसका दुःख भी सुख के ही समान तीव्र होता है।

जितना सुख है, उतना ही दुःख है। यदि मनुष्येतर प्राणी इतनी तीव्रता से सुख की अनुभूति करते हैं, तो यह भी सत्य है कि उनकी दुःख की अनुभूति भी उतनी ही अधिक तीव्र होती है—मनुष्य की अपेक्षा सहस्रगुनी तीव्र होती है। अतएव मनुष्य को मरने में जो कष्ट होता है, उसकी अपेक्षा सहस्रगुना अधिक कष्ट उन प्राणियों को मरने में होता है। फिर भी हम उनके कष्ट की कोई चिन्ता न करते हुए उन्हें मार डालते हैं। यही माया है। और यदि हम मान लें कि हमारे ही समान एक सगुण ईश्वर है, जिसने यह सृष्टि रची, तो ये सब सिद्धान्त और व्याख्याएँ, जो यह सिद्ध करने का प्रयत्न करती हैं कि बुराई से ही भलाई होती है, पर्याप्त नहीं हैं। उपकार चाहे सैकड़ों हों, पर वे अपकार से क्यों हों ? इस सिद्धान्त के अनुसार तो मैं अपनी इन्द्रियों के सुख के लिए दूसरों का गला काट सकता हूँ! अतएव यह कोई युक्ति नहीं। बुराई में से भलाई क्यों निकले ? इस प्रश्न का उत्तर देना होगा। पर इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं। यह बात भारतीय दर्शन को बाध्य होकर माननी पड़ी।

वेदान्त अन्य सभी धर्म-सम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक साहस के साथ सत्य का अन्वेषण करने में अग्रसर हुआ है।

वेदान्त बीच में ही कहीं रुक नहीं गया। उसको अग्रसर होने में एक सुविधा भी थी। वह यह कि वेदान्त-धर्म के विकास के समय पुरोहित-सम्प्रदाय ने सत्यान्वेषियों का मुँह बन्द करने का प्रयत्न नहीं किया। धर्म में पूर्ण स्वाधीनता थी। उन लोगों की संकीर्णता थी सामाजिक-प्रणाली में। यहाँ (इँगलैण्ड में) समाज खूब स्वाधीन है। भारतवर्ष में सामाजिक स्वाधीनता नहीं थी, थी धार्मिक स्वाधीनता। इस देश में कोई चाहे जैसी पोशाक पहने, अथवा जो इच्छा हो करे, कोई कुछ न कहेगा; पर गिरजाघर में यदि कोई एक दिन न जाय, तो तरह-तरह की बातें उठ खड़ी होंगी। सत्य का विचार करते समय उसे हजार बार सोचना पड़ता है कि समाज क्या कहेगा। दूसरी ओर, भारतवर्ष में यदि कोई व्यक्ति दूसरी जाति के हाथ का खाना खा ले, तो समाज उसे तुरन्त जातिच्युत कर देगा। पुरखे जैसी पोशाक पहनते थे, उससे थोड़ासा भी भिन्न रूप से पोशाक पहनते ही बस, उसका सर्वनाश ही समझो। मैंने तो यहाँ तक सुना है कि एक व्यक्ति पहली बार रेलगाड़ी देखने गया, इसलिए उसे जातिच्युत कर दिया गया! माना, यह बात सत्य न भी हो, परन्तु हमारे समाज की गति ही ऐसी है। किन्तु धर्म के विषय में देखता हूँ कि नास्तिक, बौद्ध, जड़वादी, सब प्रकार के धर्म, सब प्रकार के सम्प्रदाय, अद्भुत और बड़े भयानक-भयानक मत-मतान्तर बाजू-बाजू से रह रहे हैं। सभी सम्प्रदायों के प्रचारक उपदेश देते फिरते हैं और सबको अनुयायी भी मिलते जाते हैं। और तो और, देवमन्दिरों के द्वार पर ही ब्राह्मण लोग जड़वादियों द्वारा उनके मत का प्रचार और अपने देवताओं की निन्दा तक सुनते हैं। यह बात उनके धर्म की उदारता और महत्ता की ही परिचायक है।

भगवान बुद्ध ने पकी वृद्धावस्था में शरीर त्यागा था। मेरे एक अमेरिकन वैज्ञानिक मित्र बुद्धदेव का चरित्र पढ़ना बड़ा पसन्द करते थे, पर बुद्धदेव की मृत्यु उन्हें अच्छी नहीं लगती थी, क्योंकि उन्हें सूली पर नहीं चढ़ाया गया था। कैसी भ्रमात्मक धारणा है यह! बड़ा आदमी होने की कसौटी क्या?— उसकी हत्या! भारतवर्ष में इस प्रकार की धारणा कभी प्रचलित न थी। बुद्धदेव ने भारतीय देवताओं तथा जगत् का शासन करनेवाले ईश्वर तक को अस्वीकार करते हुए भारतवर्ष-भर में भ्रमण किया, पर तो भी वे पकी वृद्धावस्था तक जीवित रहे। वे पचासी वर्ष तक जीवित रहे और देश के आधे भाग को उन्होंने अपने धर्म का अनुयायी बना डाला।

चार्वाकों ने बड़े भयानक मतों का प्रचार किया, जैसा कि आज उन्नीसवीं शताब्दी में भी लोग इस प्रकार खुल्लम-खुल्ला जड़वाद का प्रचार करने का साहस नहीं करते। ये चार्वाक लोग मन्दिरों और नगरों में प्रचार करते फिरते थे कि धर्म मिथ्या है, वह केवल पुरोहितों की स्वार्थपूर्ति का एक उपाय है, वेद केवल पाखण्डी, धूर्त निशाचरों की रचना है—न कोई ईश्वर है, न आत्मा। यदि आत्मा है, तो वह स्त्री-पुत्र आदि के प्रेम से आकृष्ट होकर लौट क्यों नहीं आती? इन लोगों की यह धारणा थी कि यदि आत्मा होती, तो मृत्यु के बाद भी उसमें प्रेम आदि की भावनाएँ रहतीं और वह अच्छा खाना और अच्छा पहनना चाहती। ऐसा होने पर भी किसी ने चार्वाकों पर अत्याचार नहीं किया।

भारतवर्ष में धार्मिक स्वाधीनता का यह उदात्त भाव सदा से ही रहा है, और आप यह अवश्य स्मरण रखें कि विकास की

पहली शर्त है—स्वाधीनता। जिसे आप बन्धन-मुक्त नहीं करेंगे, वह कभी आगे नहीं बढ़ सकता। अपने लिए शिक्षक की स्वाधीनता रखते हुए यदि कोई सोचे कि वह दूसरों को उन्नत कर सकता है, उनकी उन्नति में सहायता दे सकता है और उनका पथ-प्रदर्शन कर सकता है, तो यह एक अर्थहीन विचार है, एक भयानक चीज है, जिसने लाखों मनुष्यों के विकास में अड़ंगे डाले हैं। तोड़ डालो मानव के बन्धन, उन्हें स्वाधीनता के प्रकाश में आने दो। बस यही विकास की एकमात्र शर्त है।

हमने धर्म के विषय में स्वाधीनता दी थी, और उसके फलस्वरूप आज भी धर्मजगत् में हमारे भीतर महान् शक्ति विद्यमान है। आप लोगों ने सामाजिक स्वतन्त्रता दी थी, इसी लिए आपकी सामाजिक प्रणाली इतनी सुन्दर है। हमने सामाजिक बातों में बिलकुल स्वतन्त्रता नहीं दी, इसलिए हमारे समाज में संकीर्णता है। आपके देश में धार्मिक स्वतन्त्रता नहीं दी गई, अतः धर्म के विषय में प्रचलित मत का उल्लंघन करते ही तलवारें खिंच जाती थीं, बन्दूकें उठ जाती थीं! उसी का फल यह है कि आज योरप में धार्मिक भाव इतना संकीर्ण है। भारतवर्ष में समाज की बेड़ी को तोड़ना होगा, और योरप में धर्म की बेड़ी को। तभी उन्नति होगी। यदि हम लोग इस आध्यात्मिक, नैतिक या सामाजिक उन्नति में निहित एकत्व को पकड़ सकें, यदि हम जान लें कि वे सब एक ही पदार्थ के विभिन्न विकास मात्र हैं, तो धर्म हमारे समाज के भीतर प्रवेश कर जायगा, हमारे जीवन का प्रति मुहूर्त धर्म-भाव से परिपूर्ण हो जायगा। धर्म हमारे जीवन के प्रत्येक कार्य में प्रवेश कर जायगा, और वह, अपने पूरे अर्थ में, हमारे जीवन में अपने प्रभाव का विस्तार करेगा।

वेदान्त के प्रकाश में आप समझेंगे कि सारा विज्ञान धर्म की ही विभिन्न अभिव्यक्ति है; जगत् की सारी वस्तुएँ भी इसी प्रकार हैं।

तो हमने देखा कि स्वाधीनता से ही योरप में इन सब विज्ञानों की उत्पत्ति और उन्नति हुई है; और हम एक आश्चर्य की बात यह देखते हैं कि सभी समाजों में दो प्रकार के दल हैं—एक संहार करनेवाला और दूसरा संगठन करनेवाला। मान लो, समाज में कोई दोष है, तो आप देखेंगे कि फौरन् ही एक दल उठकर गाली-गलौज करने लगता है। कभी-कभी तो ये लोग बड़े मतान्ध और कट्टर हो उठते हैं। सभी समाजों में आप ऐसे लोग पायेंगे; और अधिकतर स्त्रियाँ ही इस आवाज में भाग लेती हैं, क्योंकि वे स्वभाव से भावुक होती हैं। जो व्यक्ति खड़ा होकर किसी विषय के विरुद्ध लेक्चरबाजी कर सकता है, उसके दल की वृद्धि होगी ही। तोड़ना सहज है; पागल आदमी जो चाहे तोड़-फोड़ सकता है, पर किसी वस्तु को गढ़ना उसके लिए बड़ा कठिन है।

सभी देशों में, इस प्रकार के असत् विषयों के प्रतिवादी किसी-न-किसी रूप में पाए जाते हैं, और वे सोचते हैं कि केवल गाली-गलौज और दोषों को प्रकाश में लाने से ही लोगों का उपकार हो जायगा। उनकी दृष्टि से देखने पर ऐसा अवश्य लगता है कि वे कुछ उपकार कर रहे हैं, पर वास्तव में वे अनिष्ट ही अधिक करते हैं। एक दिन में तो कोई काम हो नहीं जाता। समाज एक ही दिन में तो नहीं बन जाता। परिवर्तन का अर्थ है, कारणों को दूर कर देना। मान लो कि कोई दोष है, तो केवल गाली-गलौज से तो कुछ होगा नहीं; हमें उसकी जड़ तक

जाना पड़ेगा। पहले तो यह जानो कि दोष का कारण क्या है, फिर उस कारण को दूर करो। इससे दोष अपने आप ही चला जायगा। चिल्लाने से कोई लाभ नहीं होता, वरन् उससे हानि की ही अधिक सम्भावना रहती है।

पर पूर्वोक्त दूसरे दल के हृदय में सहानुभूति थी। वे समझ गए थे कि दोषों को दूर करने के लिए उनके कारणों में पहुँचना होगा। यह दल बड़े-बड़े साधु-महात्माओं से गठित था। एक बात आपको याद रखनी चाहिए कि जगत् के सभी बड़े-बड़े आचार्य कह गए हैं—'हम नाश करने नहीं आए, पहले जो था, उसी को पूर्ण करने आए हैं।' बहुधा लोग, आचार्यों का यह महान् उद्देश्य न समझकर, कहते हैं कि वे साधारण मनुष्यों के मत से चले, लोगों की हाँ में हाँ मिलाई और इस प्रकार अपने को शोभा न देनेवाला कार्य किया। आज भी बहुतसे लोग कहते हैं कि वे आचार्यगण जिस बात को सत्य समझते थे, उसे प्रकट रूप से कहने का साहस नहीं करते थे और वे कुछ अंश में कायर थे। पर बात यह नहीं थी। ये एकतरफी दृष्टिवाले लोग उन सब महापुरुषों के हृदय में स्थित प्रेम की अनन्त शक्ति को नहीं समझ सकते। वे महापुरुष संसार के समस्त नर-नारियों को अपनी सन्तान के समान देखते थे। वे ही यथार्थ पिता थे, वे ही यथार्थ देवता थे, उनके हृदय में प्रत्येक के लिए अनन्त सहानुभूति और क्षमा थी—वे सदा ही सहने और क्षमा करने को उद्यत रहते थे। वे जानते थे कि किस प्रकार मानव-समाज संगठित हो सकता है; अतएव वे अत्यन्त धैर्य के साथ, अत्यन्त सहिष्णुता के साथ अपनी संजीवनी औषध का प्रयोग करने लगे। उन्होंने किसी को गालियाँ नहीं दीं, भय नहीं दिखलाया,

पर बड़े धैर्य के साथ वे लोगों को एक-एक सोपान ऊपर उठाते गए। और ये ही उपनिषदों के रचयिता थे। वे अच्छी तरह जानते थे कि ईश्वर सम्बन्धी प्राचीन धारणाएँ अन्य सब उन्नत, नीति-संगत धारणाओं के साथ मेल नहीं खातीं। वे पूरी तरह जानते थे कि इन सब खण्डन करनेवालों के भीतर ही अधिक सत्य है—बौद्ध और नास्तिक लोग जो कुछ प्रचार करते हैं, उसमें अनेक महान् सत्य हैं; पर साथ ही उन्हें यह भी ज्ञात था कि जो लोग पहले के मतों से कोई सरोकार न रखकर एक नया मत स्थापित करना चाहते हैं, जिस सूत्र में माला गुँथी हुई है उसी को तोड़ डालना चाहते हैं और शून्य पर नए समाज का गठन करना चाहते हैं, वे बुरी तरह असफल होंगे।

हम कभी भी किसी नई वस्तु का निर्माण नहीं कर सकते, केवल पुरानी वस्तुओं का स्थान मात्र परिवर्तन कर दे सकते हैं। बीज ही वृक्ष के रूप में परिणत होता है। अतः हमें धैर्य के साथ, शान्तिपूर्वक, लोगों की सत्य की खोज में लगी हुई शक्ति को ठीक ढंग से चलाना होगा; जो सत्य पहले से ही ज्ञात है, उसी को सम्पूर्ण रूप से जानना होगा। अतएव प्राचीन काल की इन ईश्वर सम्बन्धी धारणाओं को वर्तमान काल के लिए अनुपयुक्त कहकर एकदम उड़ाए बिना ही, वे लोग उनमें जो कुछ सत्य है, उसका अन्वेषण करने लगे;—उसका फल है वेदान्त-दर्शन। वे समस्त प्राचीन देवताओं और जगत् के शासनकर्ता एक ईश्वर के भाव से भी उच्चतर भावों का आविष्कार करने लगे। इस प्रकार उन्होंने जिस उच्चतम सत्य का आविष्कार किया, उसी को निर्गुण, पूर्णब्रह्म कहते हैं, और इस निर्गुण ब्रह्म की धारणा में उन्होंने जगत् के बीच एक अखण्ड सत्ता को देखा।

"जो इस बहुत्वपूर्ण जगत् में उस एक अखण्डस्वरूप को देखते हैं, जो इस मर्त्य जगत् में उस एक अनन्त जीवन को देखते हैं, जो इस जड़ता और अज्ञान से पूर्ण जगत् में उस एकस्वरूप को देखते हैं, उन्हीं को चिरशान्ति मिलती है, अन्य किसी को नहीं।"

माया और मुक्ति

कवि कहता है, "हम जगत् में प्रवेश करते समय अपने पीछे मानो एक हिरण्मय मेघजाल लेकर प्रवेश करते हैं।" पर सच पूछो, तो हममें से सभी इस प्रकार महिमामण्डित होकर संसार में प्रवेश नहीं करते; हममें से बहुत से तो अपने पीछे कुहरे की कालिमा लेकर ही जगत् में प्रवेश करते हैं; इसमें कोई सन्देह नहीं। हम लोग—हममें से सभी—मानो युद्ध करने के लिए युद्धक्षेत्र में भेजे गए हैं। रोते-रोते हमें इस जगत् में प्रवेश करना पड़ता है, यथासाध्य प्रयत्न करके अपना मार्ग बना लेना पड़ता है—इस अनन्त जीवन-समुद्र में पीछे की ओर कोई चिह्न तक न छोड़ते हुए मार्ग बनाना पड़ता है। सम्मुख की ओर हम अग्रसर होते रहते हैं और पीछे पड़े रहते हैं अनन्त युग एवं सामने भी अनन्त। इसी प्रकार हम चलते रहते हैं और अन्त में मृत्यु आकर हमें इस क्षेत्र से उठा ले जाती है—विजयी अथवा पराजित, कुछ भी निश्चित नहीं। और यही माया है!

बालक के हृदय में आशा बड़ी बलवती होती है। बालकों के विस्फारित नयनों के समक्ष समस्त जगत् मानो एक सुनहले चित्र के समान मालूम पड़ता है; वह समझता है कि मेरी जो इच्छा होगी, वही होगा। किन्तु जैसे वह आगे बढ़ता है, वैसे ही प्रत्येक पद पर प्रकृति वज्रदृढ़ प्राचीर के रूप में उसका गतिरोध करके खड़ी हो जाती है। उस प्राचीर को भंग करने के लिए वह भले ही बारम्बार वेग के साथ उस पर टक्कर मारता रहे। सारे जीवन भर वह जैसे-जैसे अग्रसर होता जाता है, वैसे-वैसे उसका आदर्श उससे दूर होता जाता है—अन्त में मृत्यु

जा जाती है, और सारा खेल समाप्त हो जाता है। यही माया है!

एक वैज्ञानिक उठता है, महाज्ञान की पिपासा लिए। उसके लिए ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसका वह त्याग न कर सकता हो, कोई भी चीज उसे निरुत्साह नहीं कर सकती। वह लगातार आगे बढ़ता हुआ प्रकृति के एक के बाद एक गुप्त तत्त्वों का आविष्कार करता जाता है—प्रकृति के अन्तस्तल में से आभ्यन्तरिक गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करता जाता है, पर इस सबका उद्देश्य क्या है? यह सब करने का हेतु क्या है? हम इन वैज्ञानिकों को क्यों मान दें? उन्हें कीर्ति क्यों मिले? मनुष्य जितना जान सकता है, प्रकृति क्या उससे अनन्तगुना अधिक नहीं जान सकती? और प्रकृति तो जड़ है, अचेतन है। तो फिर जड़ के अनुकरण में कौनसा गौरव है? प्रकृति कितनी भी विद्युत्शक्ति-सम्पन्न वज्र को चाहे जितनी दूर फेंक दे सकती है। यदि कोई मनुष्य उसका शतांश भी कर दे, तो हम उसे आसमान पर चढ़ा देते हैं! यह सब क्यों? प्रकृति के अनुकरण के लिए, मृत्यु के, जड़त्व के, अचेतन के अनुकरण के लिए हम उसकी प्रशंसा क्यों करें?

गुरुत्वाकर्षण-शक्ति भारी-से-भारी पदार्थ को क्षण भर में टुकड़े-टुकड़े कर फेंक दे सकती है, फिर भी वह एक जड़शक्ति है। जड़ के अनुकरण से क्या लाभ? फिर भी हम सारा जीवन उसी के लिए चेष्टा करते रहते हैं। यही माया है!

इन्द्रियाँ मनुष्य की आत्मा को बाहर खींच लाती हैं। मनुष्य ऐसे स्थानों में सुख और आनन्द की खोज कर रहा है, जहाँ वह उन्हें कभी नहीं पा सकता। युगों से हम यह शिक्षा

पाते आ रहे हैं कि यह निरर्थक और व्यर्थ है; यहाँ हमें सुख नहीं मिल सकता। परन्तु हम सीख नहीं सकते! अपने अनुभव के अतिरिक्त और किसी उपाय से हम सीख नहीं सकते। हम प्रयत्न करते हैं और हमें एक धक्का लगता है; फिर भी क्या हम सीखते हैं? नहीं, फिर भी नहीं सीखते। पतिंगे जिस प्रकार दीपक की लौ पर टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार हम इन्द्रियों में सुख पाने की आशा से अपने को बार-बार झोंकते रहते हैं। पुनः-पुनः लौटकर हम फिर से नए उत्साह के साथ लग जाते हैं। बस इसी प्रकार चलता रहता है और अन्त में लूले-लँगड़े होकर, धोखा खाकर हम मर जाते हैं। यही माया है!

यही बात हमारी बुद्धि के सम्बन्ध में भी है। हम जगत् के रहस्य की मीमांसा करने की चेष्टा करते हैं—हम इस जिज्ञासा, इस अनुसन्धान की प्रवृत्ति को बन्द नहीं रख सकते। ऐसा लगता है कि यह सब हमें अवश्य जान लेना चाहिए और हम यह विश्वास ही नहीं कर सकते कि ज्ञान कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं है। हम कुछ कदम आगे जाते हैं कि अनादि, अनन्त कालरूपी प्राचीर बीच में व्यवधान के रूप में आ खड़ा होता है, जिसे हम लाँघ नहीं सकते। कुछ दूर बढ़ते ही असीम देश का व्यवधान आकर खड़ा हो जाता है, जिसके अतिक्रमण करने की हममें शक्ति नहीं। सभी कुछ कार्य-कारणरूपी दीवार द्वारा सीमाबद्ध है। हम इस दीवार को नहीं लाँघ सकते। तो भी हम प्रयत्न करते रहते हैं। हमें प्रयत्न करना ही पड़ता है। यही माया है!

प्रत्येक साँस के साथ, हृदय की प्रत्येक धड़कन के साथ, अपनी प्रत्येक हलचल के साथ हम समझते हैं कि हम स्वतन्त्र हैं,

और उसी क्षण हम देखते हैं कि हम स्वतन्त्र नहीं हैं। क्रीत दास—हम प्रकृति के क्रीत दास हैं! शरीर, मन, सर्वविध विचारों एवं समस्त भावों में हम प्रकृति के क्रीत दास हैं! यही माया है!

ऐसी एक भी माता नहीं है, जो अपनी सन्तान को अद्भुत प्रतिभासम्पन्न महापुरुष नहीं समझती। वह उस बालक को लेकर पागल-सी हो जाती है, उस बालक में ही उसके प्राण पड़े रहते हैं। बालक बड़ा होता है—शायद घोर शराबी और पशुतुल्य हो जाता है, जननी के प्रति दुष्ट व्यवहार तक करने लगता है। जितना ही उसका दुर्व्यवहार बढ़ता है, उतना ही जननी का प्रेम भी बढ़ता है। लोग इसे जननी का निःस्वार्थ प्रेम कहकर खूब प्रशंसा करते हैं! उनके मन में यह प्रश्न तक नहीं उठता कि वह माता जन्म-भर के लिए केवल एक क्रीत दासी के समान है—वह प्रेम किए बिना रह ही नहीं सकती। *हजारों बार उसकी इच्छा होती है कि वह इस मोह का त्याग* कर दे, पर वह कर नहीं सकती। अतः वह इसके ऊपर पुष्पों का ढेर रख, उसी को अद्भुत प्रेम कहती है। यही माया है!

हम सबका भी बस यही हाल है। नारद ने एक दिन श्रीकृष्ण से पूछा, "प्रभो, आपकी माया कैसी है, मैं देखना चाहता हूँ।" एक दिन श्रीकृष्ण नारद को लेकर एक मरुस्थल की ओर चले। बहुत दूर जाने के बाद श्रीकृष्ण नारद से बोले, "नारद, मुझे बड़ी प्यास लगी है। क्या कहीं से थोड़ासा जल ला सकते हो?" नारद बोले, "प्रभो, ठहरिए, मैं अभी जल लिए आया।" यह कहकर नारद चले गए। कुछ दूर पर एक गाँव था, नारद वहीं जल की खोज में गए।

एक मकान में जाकर उन्होंने दरवाजा खटखटाया। द्वार खु
और एक परम सुन्दरी कन्या उनके सम्मुख आकर खड़ी हुई
उसे देखते ही नारद सब कुछ भूल गए। भगवान मेरी प्रतीक्ष
कर रहे होंगे, वे प्यासे होंगे, हो सकता है प्यास से उनके प्राण भ
निकल जायें—ये सारी बातें नारद भूल गए। सब कुछ भूलक
वे उस कन्या के साथ बातचीत करने लगे। उस दिन वे अप
प्रभु के पास लौटे ही नहीं। दूसरे दिन वे फिर से उस लड़की
के घर आ उपस्थित हुए और उससे बातचीत करने लगे। धीरे
धीरे बातचीत ने प्रणय का रूप धारण कर लिया। तब नारद
उस कन्या के पिता के पास जाकर उस कन्या के साथ विवाह
करने की अनुमति माँगने लगे। विवाह हो गया। नवदम्पती
उसी गाँव में रहने लगे। धीरे-धीरे उनके सन्तानें भी हुई। इस
प्रकार बारह वर्ष बीत गए। इस बीच नारद के ससुर मर गए
और वे उनकी सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हो गए। पुत्र-कलत्र,
भूमि, पशु, सम्पत्ति, गृह आदि को लेकर नारद बड़े सुख-चैन से
दिन बिताने लगे। कम-से-कम उन्हें तो यही लगने लगा कि वे
बड़े सुखी हैं। इतने में उस देश में बाढ़ आई। रात के समय
नदी दोनों कगारों को तोड़कर बहने लगी और सारा गाँव डूब
गया। मकान गिरने लगे; मनुष्य और पशु बह-बहकर डूबने
लगे, नदी की धार में सब कुछ बहने लगा। नारद को भी
भागना पड़ा। एक हाथ से उन्होंने स्त्री को पकड़ा, दूसरे हाथ
से दो बच्चों को, और एक बालक को कन्धे पर बिठाकर वे
उस भयंकर पूर में से बचने का प्रयत्न करने लगे।

कुछ ही दूर जाने के बाद उन्हें लहरों का वेग अत्यन्त
तीव्र प्रतीत होने लगा। कन्धे पर बैठे हुए [illegible] नारद किसी

प्रकार रक्षा न कर सके; वह गिरकर तरंगों में बह गया। उसकी रक्षा करने के प्रयास में एक और बालक, जिसका हाथ वे पकड़े हुए थे, छूटकर डूब गया। निराशा और दुःख से नारद आर्तनाद करने लगे। अपनी पत्नी को वे अपने शरीर की सारी शक्ति लगाकर पकड़े हुए थे, अन्त में तरंगों के वेग से पत्नी भी उनके हाथ से छूट गई और वे स्वयं तट पर जा गिरे एवं मिट्टी में लोट-पोट हो बड़े कातर स्वर से विलाप करने लगे। इसी समय मानो किसी ने उनकी पीठ पर कोमल हाथ रखा और कहा, "वत्स, जल कहाँ है? तुम जल लेने गए थे न, मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में खड़ा हूँ। तुम्हें गए आधा घण्टा बीत चुका।" आधा घण्टा! नारद के लिए तो बारह वर्ष बीत चुके थे। और आध घण्टे के भीतर ही ये सब दृश्य उनके मन में से होकर निकल गए! यही माया है! किसी-न-किसी रूप में हम सभी इस माया के भीतर हैं। यह बात समझना बड़ा कठिन है—विषय भी बड़ा जटिल है। इसका तात्पर्य क्या? यही कि यह बात बड़ी भयानक है—सभी देशों में महापुरुषों ने इस तत्त्व का प्रचार किया है, सभी देश के लोगों ने इसकी शिक्षा प्राप्त की है, पर बहुत कम लोगों ने इस पर विश्वास किया है। इसका कारण यही है कि स्वयं बिना भोगे, स्वयं बिना ठोकर खाए हम इस पर विश्वास नहीं कर सकते। सच पूछिए तो सभी वृथा है, सभी मिथ्या है।

सर्व-संहारक काल आकर सबको ग्रास कर लेता है, कुछ भी नहीं छोड़ता। वह पाप को खा जाता है, पापी को खा जाता है, राजा, प्रजा, सुन्दर, कुत्सित—सभी को खा डालता है, किसी को नहीं छोड़ता। सब कुछ उस चरम गति—विनाश—की ही

ओर अग्रसर हो रहा है। हमारा ज्ञान, शिल्प, विज्ञान—सब कुछ उसी एक अनिवार्य गति—मृत्यु—की ओर अग्रसर हो रहा है। कोई भी इस तरंग की गति को नहीं रोक सकता, कोई भी इस विनाशाभिमुखी गति को एक क्षण के लिए भी रोककर नहीं रख सकता। हम भले ही उसे भूले रहने की चेष्टा करें, जैसे किसी देश में महामारी फैलने पर लोग शराब, नाच, गान आदि व्यर्थ की चेष्टाओं में रत रहकर सब कुछ भूलने का प्रयत्न करते हुए, लकवा मारे हुए मनुष्य की भाँति हलचल-रहित हो जाते हैं। हम लोग भी इसी प्रकार इस मृत्यु की चिन्ता को भूलने का कठोर प्रयत्न कर रहे हैं—सब प्रकार के इन्द्रिय-सुखों में रत रहकर उसे भूल जाने की चेष्टा कर रहे हैं, किन्तु इससे उसकी निवृत्ति नहीं होती।

लोगों के सामने दो मार्ग हैं। इनमें से एक को तो सभी जानते हैं। वह यह है—"जगत् में दुःख है, कष्ट है—सब सत्य है, पर इस सम्बन्ध में बिलकुल मत सोचो। 'यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।' दुःख है अवश्य, पर उधर नजर मत डालो। जो कुछ थोड़ा-बहुत सुख मिले, उसका भोग कर लो, इस संसार-चित्र के अन्धकारमय भाग को मत देखो—केवल प्रकाशमय भाग की ओर दृष्टि रखो।" इस मत में कुछ सत्य तो अवश्य है, पर साथ ही भयानक विपत्ति की आशंका भी है। इसमें सत्य इतना ही है कि यह हमें कार्य में प्रवृत्त रखता है। आशा एवं इसी प्रकार का एक प्रत्यक्ष आदर्श हमें कार्य में प्रवृत्त और उत्साहित करता है अवश्य, पर इसमें विपत्ति यह है कि अन्त में हमें हताश [illegible] सब [illegible] छोड़ देनी पड़ती हैं। यही हाल होता है उन लोगों [illegible] जो कहते हैं—"संसार को जैसा देखते हो, वैसा ही ग्रहण

करो; जितना स्वच्छन्द रह सकते हो, रहो; दुःख, कष्ट आने पर भी सन्तुष्ट रहो; आघात होने पर भी कहो कि यह आघात नहीं, पुष्प-वृष्टि है; दास के समान दुतकारे जाने पर भी कहो—'मैं मुक्त हूँ, स्वाधीन हूँ'; दूसरों तथा अपनी आत्मा के सम्मुख दिन-रात मिथ्या बोलो, क्योंकि संसार में रहने का, जीवित रहने का यही एकमात्र उपाय है।" इसी को पक्का सांसारिक ज्ञान कहते हैं, और इस उन्नीसवीं शताब्दी में इसका जितना प्रभाव है, उतना और कभी नहीं रहा; क्योंकि लोग इस समय जो चोटें खा रहे हैं, वैसी उन्होंने पहले कभी नहीं खाईं; प्रतिद्वन्द्विता भी इतनी तीव्र पहले कभी नहीं थी; मनुष्य अपने भाइयों के प्रति आज जितना निष्ठुर है, उतना पहले कभी नहीं था, और इसी लिए आजकल यह सान्त्वना दी जाती है। आजकल इस उपदेश का ही जोर है, पर अब उससे कोई फल नहीं होता—कभी होता भी नहीं। सड़े-गले मुर्दे को फूलों से ढककर नहीं रखा जा सकता—यह असम्भव है। ऐसा अधिक दिन नहीं चलता। एक दिन ये सब फूल सूख जायँगे, और तब वह शव पहले से भी अधिक बीभत्स दिखाई देगा। हमारा सारा जीवन भी ऐसा ही है। हम भले ही अपने पुराने, सड़े घाव को स्वर्ण के वस्त्र से ढक रखने की चेष्टा करें, पर एक दिन ऐसा आयगा, जब वह स्वर्णवस्त्र खिसक पड़ेगा और वह घाव अत्यन्त बीभत्स रूप में आँखों के सामने प्रकट हो जायगा।

तब क्या कोई आशा नहीं है? यह सत्य है कि हम सभी माया के दास हैं, हम सभी माया के अन्दर ही जन्म लेते हैं और माया में ही जीवित रहते हैं। तब क्या कोई उपाय नहीं है? कोई आशा नहीं है? ये सब बातें तो सैकड़ों युगों से लोगों को

ओर अग्रसर हो रहा है। हमारा ज्ञान, शिल्प, विज्ञान—सब कु
उसी एक अनिवार्य गति—मृत्यु—की ओर अग्रसर हो रहा है
कोई भी इस तरंग की गति को नहीं रोक सकता, कोई भी इ
विनाशाभिमुखी गति को एक क्षण के लिए भी रोककर नह
रख सकता। हम भले ही उसे भूले रहने की चेष्टा करें, जैं
किसी देश में महामारी फैलने पर लोग शराब, नाच, गान आ
व्यर्थ की चेष्टाओं में रत रहकर सब कुछ भूलने का प्रयत्न करते
हुए, लकवा मारे हुए मनुष्य की भाँति हलचल-रहित ह
जाते हैं। हम लोग भी इसी प्रकार इस मृत्यु की चिन्ता के
भूलने का कठोर प्रयत्न कर रहे हैं—सब प्रकार के इन्द्रिय-सुख
में रत रहकर उसे भूल जाने की चेष्टा कर रहे हैं, किन्तु इससे
उसकी निवृत्ति नहीं होती।

लोगों के सामने दो मार्ग हैं। इनमें से एक को तो सभी
जानते हैं। वह यह है—"जगत् में दुःख है, कष्ट है—सब सत्य है,
पर इस सम्बन्ध में बिलकुल मत सोचो। 'यावज्जीवेत्सुखं जीवेत्
ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।' दुःख है अवश्य, पर उधर नजर मत
डालो। जो कुछ थोड़ा-बहुत सुख मिले, उसका भोग कर लो, इस
संसार-चित्र के अन्धकारमय भाग को मत देखो—केवल प्रकाशमय
भाग की ओर दृष्टि रखो।" इस मत में कुछ सत्य तो अवश्य है,
पर साथ ही भयानक विपत्ति की आशंका भी है। इसमें सत्य
इतना ही है कि यह हमें कार्य में प्रवृत्त रखता है। आशा एवं इसी
प्रकार का एक प्रत्यक्ष आदर्श हमें कार्य में प्रवृत्त और उत्साहित
करता है अवश्य, पर इसमें विपत्ति यह है कि अन्त में हमें हताश
होकर सब चेष्टाएँ छोड़ देनी पड़ती हैं। यही हाल होता है उन लोगों
का, जो कहते हैं—"संसार को जैसा देखते हो, वैसा ही ग्रहण

करो; जितना स्वच्छन्द रह सकते हो, रहो; दुःख, कष्ट आने पर भी सन्तुष्ट रहो; आघात होने पर भी कहो कि यह आघात नहीं, पुष्प-वृष्टि है; दास के समान दुतकारे जाने पर भी कहो—'मैं मुक्त हूँ, स्वाधीन हूँ'; दूसरों तथा अपनी आत्मा के सम्मुख दिन-रात मिथ्या बोलो, क्योंकि संसार में रहने का, जीवित रहने का यही एकमात्र उपाय है।" इसी को पक्का सांसारिक ज्ञान कहते हैं, और इस उन्नीसवीं शताब्दी में इसका जितना प्रभाव है, उतना और कभी नहीं रहा; क्योंकि लोग इस समय जो चोटें खा रहे हैं, वैसी उन्होंने पहले कभी नहीं खाईं; प्रतिद्वन्द्विता भी इतनी तीव्र पहले कभी नहीं थी; मनुष्य अपने भाइयों के प्रति आज जितना निष्ठुर है, उतना पहले कभी नहीं था, और इसी लिए आजकल यह सान्त्वना दी जाती है। आजकल इस उपदेश का ही जोर है, पर अब उससे कोई फल नहीं होता—कभी होता भी नहीं। सड़े-गले मुर्दे को फूलों से ढककर नहीं रखा जा सकता—यह असम्भव है। ऐसा अधिक दिन नहीं चलता। एक दिन ये सब फूल सूख जायँगे, और तब वह शव पहले से भी अधिक बीभत्स दिखाई देगा। हमारा सारा जीवन भी ऐसा ही है। हम भले ही अपने पुराने, सड़े घाव को स्वर्ण के वस्त्र से ढक रखने की चेष्टा करें, पर एक दिन ऐसा आयगा, जब वह स्वर्णवस्त्र खिसक पड़ेगा और वह घाव अत्यन्त बीभत्स रूप में आँखों के सामने प्रकट हो जायगा।

तब क्या कोई आशा नहीं है? यह सत्य है कि हम सभी माया के दास हैं, हम सभी माया के अन्दर ही जन्म लेते हैं और माया में ही जीवित रहते हैं। तब क्या कोई उपाय नहीं है? कोई आशा नहीं है? ये सब बातें तो सैकड़ों युगों से लोगों को

मालूम है कि हम सब अतीव दुर्दशा में पड़े हैं, यह जगत् वास्तव में एक कारागार है, हमारी पूर्वप्राप्त महिमा की छटा भी एक कारागार है, हमारी बुद्धि और मन भी एक कारागार के समान है। मनुष्य चाहे जो कुछ कहे, पर ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है, जो किसी-न-किसी समय इस बात को हृदय से अनुभव न करता हो। बुड्ढे लोग इसको और भी तीव्रता के साथ अनुभव करते हैं, क्योंकि उनकी जीवन-भर की संचित अभिज्ञता रहती है। प्रकृति की मिथ्या भाषा उन्हें और अधिक नहीं ठग सकती। इस बन्धन को तोड़ने का क्या उपाय है? क्या कोई उपाय नहीं है? हम देखते हैं कि इस भयंकर व्यापार के बावजूद भी, हमारे सामने, पीछे, चारों ओर यह बन्धन रहने पर भी, इस दुःख और कष्ट के बीच, इस जगत् में ही, जहाँ जीवन और मृत्यु समानार्थी हैं, एक महावाणी समस्त युगों, समस्त देशों और समस्त व्यक्तियों के हृदय में गूँज रही है—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥"

"मेरी यह दैवी, त्रिगुणमयी माया बड़ी मुश्किल से पार की जाती है। जो मेरी शरण में आते हैं, वे इस माया से पार हो जाते हैं।" "हे थके-मांदे, भार से लदे मनुष्यो, आओ, मैं तुम्हें आश्रय दूँगा।" यह वाणी ही हम सबको बराबर अग्रसर कर रही है। मनुष्य ने इस वाणी को सुना है, और अनन्त युगों से सुनता आ रहा है। जब मनुष्य को लगता है कि उसका सब कुछ चला जा रहा है, जब उसकी आशा टूटने लगती है, जब अपने बल में उसका विश्वास हटने लगता है, जब सब कुछ मानो उसकी उँगलियों में से खिसककर भागने लगता है और

जीवन केवल एक भग्नावशेष में परिणत हो जाता है, तब वह इस वाणी को सुन पाता है,—और यही धर्म है।

अतएव, एक ओर तो यह अभय वाणी है कि यह समस्त कुछ नहीं, केवल माया है, और साथ ही यह आशाप्रद वाक्य है कि माया के बाहर जाने का मार्ग भी है। और दूसरी ओर, हमारे सांसारिक लोग कहते हैं, "धर्म, दर्शन ये सब व्यर्थ की वस्तुएँ लेकर दिमाग खराब मत करो। दुनिया में रहो; माना, यह दुनिया बड़ी खराब है, पर जितना हो सके, इसका मजा ले लो।" सीधेसादे शब्दों में इसका अर्थ यही है कि दिन-रात पाखण्डपूर्ण जीवन व्यतीत करो—अपने घाव को जब तक हो सके, ढके रखो। एक के बाद दूसरी जोड़-गाँठ करते जाओ, यहाँ तक कि सब कुछ नष्ट हो जाय और तुम केवल जोड़-गाँठ का एक समूह मात्र रह जाओ। इसी को कहते हैं सांसारिक जीवन। जो इस जोड़-गाँठ से सन्तुष्ट हैं, वे कभी भी धर्मलाभ नहीं कर सकते। जब जीवन की वर्तमान अवस्था में भयानक अशान्ति उत्पन्न हो जाती है, जब अपने जीवन के प्रति भी ममता नहीं रह जाती, जब इस जोड़-गाँठ पर अपार घृणा उत्पन्न हो जाती है, जब मिथ्या और पाखण्ड के प्रति प्रबल वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है, तब धर्म का प्रारम्भ होता है। बुद्धदेव ने बोधि-वृक्ष के नीचे बैठ होकर दृढ़ स्वर से जो बात कही थी, उसे जो अपने रोम-रोम से बोल सकता है, वही वास्तविक धार्मिक होने योग्य है। संसारी होने की इच्छा उनके भी हृदय में एक बार उत्पन्न हुई थी। पर वे स्पष्ट रूप से देख रहे थे कि उनकी यह अवस्था, यह सांसरिक जीवन एकदम भूल है; पर इसके बाहर जाने का उन्हें कोई मार्ग नहीं मिल रहा था। प्रलोभन एक बार

उनके निकट आया और कहने लगा—छोड़ो भी सत्य की खोज, चलो, संसार में लौट चलो, और पहले-जैसा पाखण्डपूर्ण जीवन बिताओ, सब वस्तुओं को उनके गलत नामों से पुकारो, अपने निकट और सबके निकट दिन-रात मिथ्या बोलते रहो। यह प्रलोभन उनके पास पुनः आया था, पर उस महावीर ने अपने अतुल पराक्रम से उसे उसी क्षण परास्त कर दिया। उन्होंने कहा, "अज्ञानपूर्वक केवल खा-पीकर जीने की अपेक्षा मरना ही अच्छा है; पराजित होकर जीने की अपेक्षा युद्ध-क्षेत्र में मरना श्रेयस्कर है।" यही धर्म की भित्ति है। जब मनुष्य इस भित्ति पर खड़ा होता है, तब समझना चाहिए कि वह सत्य की प्राप्ति के पथ पर, ईश्वर की प्राप्ति के पथ पर चल रहा है। धार्मिक होने के लिए भी पहले यह दृढ़ प्रतिज्ञा आवश्यक है मैं अपना रास्ता स्वयं ढूँढ़ लूँगा। सत्य को जानूँगा अथवा इस प्रयत्न में प्राण दे दूँगा। कारण, संसार की ओर से तो और कुछ पाने की आशा है ही नहीं, यह तो शून्यस्वरूप है—दिन-रात उड़ता जा रहा है। आज का सुन्दर, आशापूर्ण दिन कल का घूरा है। आशा, आनन्द, सुख—ये सब मुकुलों की भाँति कल के शिशिर-पात से नष्ट हो जायेंगे। यह हुई इस ओर की बात; और दूसरी ओर है विजय का प्रलोभन—जीवन के समस्त अशुभों पर विजय-प्राप्ति की सम्भावना। और तो और, स्वयं जीवन और जगत् पर भी विजय-प्राप्ति की सम्भावना है। इसी उपाय से मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है। अतएव जो लोग इस विजय-प्राप्ति के लिए, सत्य के लिए, धर्म के लिए चेष्टा कर रहे हैं, वे ही सत्य पथ पर हैं, और सारे वेद भी यही प्रचार करते हैं, "निराश मत होओ; मार्ग बड़ा कठिन है—छुरे की

धार पर चलने के समान दुर्गम; फिर भी निराश मत होओ; उठो, जागो और अपने चरम आदर्श को प्राप्त करो।"

सारे विभिन्न धर्मों की, चाहे वे किसी भी रूप में मनुष्य के निकट अपनी अभिव्यक्ति करते हों, यही एक भित्ति है। सभी धर्म संसार के बाहर जाने का अर्थात् मुक्ति का उपदेश देते हैं। इन सब धर्मों का उद्देश्य संसार और धर्म के बीच सुलह कराना नहीं, पर धर्म को अपने आदर्श में दृढ़-प्रतिष्ठित करना है, संसार के साथ सुलह करके उस आदर्श को नीचे लाना नहीं है। प्रत्येक धर्म इसका प्रचार करता है और वेदान्त का कर्तव्य है—विभिन्न धर्मभावों का सामंजस्य स्थापित करना, जैसा हमने अभी देखा कि इस मुक्ति-तत्त्व में ही संसार के सारे उच्चतम और निम्नतम धर्मों में सामंजस्य पाया जाता है। हम जिसको अत्यन्त घृणित कुसंस्कार कहते हैं, और जो सर्वोच्च दर्शन है, सबों की यही एक साधारण भित्ति है कि वे सभी इस एक प्रकार के संकट से निस्तार पाने का मार्ग दिखाते हैं, और इन सब धर्मों में से अधिकांश में प्रपंचातीत पुरुषविशेष की सहायता से अर्थात् प्राकृतिक नियमों से आबद्ध न रहनेवाले नित्यमुक्त पुरुषविशेष की सहायता से इस मुक्ति की प्राप्ति करनी पड़ती है। इस मुक्त पुरुष के स्वरूप के सम्बन्ध में नाना प्रकार की कठिनाइयाँ और मतभेद होने पर भी—वह ब्रह्म सगुण है या निर्गुण, मनुष्य की भाँति ज्ञानसम्पन्न है अथवा नहीं, वह पुरुष है, स्त्री, या नपुंसक—इस प्रकार के अनन्त विचार तथा विभिन्न मतों के प्रबल विरोध होने पर भी, हम इन सबके भीतर उनको पिरोए रखनेवाले एकत्व का सुवर्ण-सूत्र देखते हैं। अतः यह सब विभिन्नता या विरोध हमारे अन्दर भय उत्पन्न नहीं करता।

और इस वेदान्त-दर्शन में ही यह सुवर्ण-सूत्र आविष्कृत हुआ है, हमारी दृष्टि के सामने थोड़ा-थोड़ा करके प्रकाशित हुआ है, और इसमें सबसे पहले यही तत्त्व प्राप्त होता है कि हम सभी विभिन्न पथों के द्वारा मुक्ति की ही ओर अग्रसर हो रहे हैं। सभी धर्मों का यही एक साधारण भाव है।

अपने सुख, दुःख, विपत्ति और कष्ट—सभी अवस्थाओं में हम यह आश्चर्य की बात देखते हैं कि हम सभी धीरे-धीरे मुक्ति की ओर अग्रसर हो रहे हैं। प्रश्न उठा—यह जगत् वास्तव में क्या है? कहाँ से इसकी उत्पत्ति हुई और कहाँ इसका लय है? और इसका उत्तर था—मुक्ति से ही इसकी उत्पत्ति है, मुक्ति में यह विश्राम करता है और अन्त में मुक्ति में ही इसका लय हो जाता है। यह जो मुक्ति की भावना है कि वास्तव में हम मुक्त हैं, इस आश्चर्यजनक भावना के बिना हम एक क्षण भी नहीं चल सकते, इस भाव के बिना तुम्हारे सभी कार्य, यहाँ तक कि तुम्हारा जीवन तक व्यर्थ है। प्रति क्षण प्रकृति यह सिद्ध किए दे रही है कि हम दास हैं, पर उसके साथ ही यह दूसरा भाव भी हमारे मन में उत्पन्न होता रहता है कि हम मुक्त हैं। प्रति क्षण हम माया से आहत होकर बद्ध-से प्रतीत होते हैं, पर उसी क्षण, उस आघात के साथ ही—'हम बद्ध हैं' इस भाव के साथ ही—और भी एक भाव हममें आता है कि हम मुक्त हैं। मानो हमारे अन्दर से कोई कहे दे रहा है कि हम मुक्त हैं। पर इस मुक्ति की हृदय से उपलब्धि करने में, अपने मुक्त-स्वभाव को प्रकट करने में जो सब बाधाएँ उपस्थित होती हैं, वे भी तो एक प्रकार से अनतिक्रमणीय हैं। तो भी अन्दर से, हमारे हृदय के अन्तस्तल से मानो कोई सर्वदा कह रहा है—

में मुक्त हूँ, मैं मुक्त हूँ। और यदि तुम संसार के विभिन्न धर्मों की आलोचना करो, तो देखोगे, उनमें से सभी में किसी-न-किसी रूप में यह भाव प्रकाशित हुआ है। केवल धर्म नहीं, धर्म शब्द को आप संकीर्ण अर्थ में मत लीजिए, वरन् सारा सामाजिक जीवन इसी एक मुक्त भाव की अभिव्यक्ति है। सभी प्रकार की सामाजिक गतियाँ उसी एक मुक्त भाव की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। मानो सभी ने, जाने-अनजाने, उस स्वर को सुना है, जो दिन-रात कह रहा है, "हे थके-मांदे और बोझ से लदे हुए मनुष्यो! मेरे पास आओ!" मुक्ति के लिए आह्वान करने-वाली यह वाणी भले ही एक ही प्रकार की भाषा अथवा एक ही ढंग से प्रकाशित न होती हो, पर किसी-न-किसी रूप में वह हमारे साथ सदैव वर्तमान है। हमारा यहाँ जो जन्म हुआ है, वह भी इसी वाणी के कारण; हमारी प्रत्येक गति इसी के लिए है। हम जानें या न जानें, पर हम सभी मुक्ति की ओर चल रहे हैं, उसी वाणी का अनुसरण कर रहे हैं। जिस प्रकार कृष्णगतप्राण गोपियाँ मोहन की मधुर मुरली-ध्वनि सुनते ही खिंची-सी छूट पड़ती थी, उसी प्रकार हम भी, बिना जाने ही, उस मधुर वाणी का अनुसरण कर रहे हैं।

जब हम उस वाणी का अनुसरण करते हैं, तभी हम नीति-परायण होते हैं। केवल जीवात्मा नहीं, वरन् छोटे-से-छोटे जड़ परमाणु से लेकर ऊँचे-से-ऊँचे मनुष्यों तक सभी ने वह स्वर सुना है, और सब उसी की दिशा में दौड़े जा रहे हैं। और इस चेष्टा में या तो हम परस्पर मिल जाते हैं या एक दूसरे को धक्का देते रहते हैं। इसी से प्रतिद्वन्द्विता, हर्ष, संघर्ष, जीवन, सुख और मृत्यु उत्पन्न होते हैं। उस वाणी तक पहुँचने के लिए यह जो

संघर्ष चल रहा है, यह सारा जगत् बस उसी का परिणाम मात्र है । हम यही करते आ रहे हैं । यही समस्त प्रकृति का परिचय है।

इस वाणी के सुनने से क्या होता है ? इससे हमारे सामने का दृश्य परिवर्तित होने लगता है । जैसे ही तुम इस स्वर को सुनते हो और समझते हो कि यह क्या है, वैसे ही तुम्हारे सामने का सारा दृश्य बदल जाता है । यही जगत्, जो पहले माया का वीभत्स युद्धक्षेत्र था, अब और कुछ—अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर—हो जाता है । तब फिर हमें प्रकृति को कोसने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती । संसार बड़ा वीभत्स है अथवा यह सब वृथा है, यह कहने की भी आवश्यकता नहीं रह जाती; रोने-चिल्लाने का भी प्रयोजन नहीं रह जाता । जैसे ही तुम इस स्वर को सुनते हो, वैसे ही तुम्हारी समझ में आ जाता है कि इस सब चेष्टा, इस युद्ध, इस प्रतिद्वन्द्विता, गड़बड़, निष्ठुरता, इन सब छोटे-छोटे सुख आदि का प्रयोजन क्या है ! तब यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि यह सब प्रकृति के स्वभाव से ही होता है; हम सब, जाने-अनजाने, उसी स्वर की ओर अग्रसर हो रहे हैं, इसी लिए यह सब हो रहा है । अतएव समस्त मानव-जीवन, समस्त प्रकृति उसी मुक्तभाव को अभिव्यक्त करने की चेष्टा कर रही है, बस; सूर्य भी उसी ओर जा रहा है, पृथ्वी भी इसी लिए सूर्य के चारों ओर भ्रमण कर रही है, चन्द्र भी इसी लिए पृथ्वी के चारों ओर घूम रहा है । उस स्थान पर पहुँचने के लिए ही समस्त ग्रह-नक्षत्र भ्रमण कर रहे हैं और वायु बह रही है । उस मुक्ति के लिए ही बिजली तीव्र घोष करती है और मृत्यु भी उसी के लिए चारों ओर घूम-फिर रही है । सब कोई उसी दिशा में जाने का प्रयत्न कर रहे हैं। साधु भी

उसी ओर जा रहे हैं, बिना गए वे रह ही नहीं सकते, उनके लिए यह कोई प्रशंसा की बात नहीं। पापियों की भी यही दशा है। बड़ा दानी व्यक्ति भी उसी को लक्ष्य बनाकर सरल भाव से चला जा रहा है, बिना गए वह रह ही नहीं सकता; और एक भयानक कंजूस भी उसी को लक्ष्य बनाकर चल रहा है। जो बड़े सत्कर्मशील है, उन्होंने भी उसी वाणी को सुना है, वे सत्कर्म किए बिना रह नहीं सकते, और एक घोर आलसी व्यक्ति का भी यही हाल है। हो सकता है, एक व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा अधिक ठोकरें खाए। जो व्यक्ति अधिक ठोकरें खाता है, उसे हम दुर्बल कहते हैं और जो कम, उसे सज्जन या सत् कहते हैं। अच्छा और बुरा ये दो भिन्न चीजें नहीं हैं, दोनों एक ही हैं; उनके बीच का भेद प्रकारगत नहीं, परिमाणगत है।

अब देखिए, यदि यह मुक्तभावरूपी शक्ति वास्तव में समस्त जगत् में कार्य कर रही है, तो अपने विशेष आलोच्य विषय धर्म में उसका प्रयोग करने पर हम देखते हैं कि सभी धर्म इस एक भाव के ही द्वारा नियमित हुए हैं। अत्यन्त निम्न कोटि के धर्म को लीजिए, जिसमें किसी मृत पूर्वज अथवा निष्ठुर देवताओं की उपासना होती है। इन उपास्य देवताओं अथवा मृत पूर्वजों के बारे में क्या धारणा है? यही कि वे प्रकृति से उन्नत हैं, इस माया के द्वारा वे बद्ध नहीं हैं। पर हाँ, प्रकृति के बारे में उपासक की धारणा अवश्य बिलकुल सामान्य है। उपासक एक मूर्ख, अज्ञानी व्यक्ति है, उसकी बिलकुल स्थूल धारणा है, वह घर की दीवार को भेदकर नहीं जा सकता अथवा आकाश में विचरण नहीं कर सकता। अतः इन सब बाधाओं का अतिक्रमण करना—बस इसके अतिरिक्त उसकी शक्ति की कोई उच्चतर

धारणा है ही नहीं; अतएव वह ऐसे देवता की उपासना करता है, जो दीवार भेदकर अथवा आकाश में से होकर आ-जा सकते हैं, अथवा जो अपना रूप परिवर्तित कर सकते हैं। दार्शनिक भाव से देखने पर इस प्रकार की देवोपासना में कौनसा रहस्य है? यह कि यहाँ भी यह मुक्ति का भाव मौजूद है, उसकी देवता सम्बन्धी धारणा प्रकृति सम्बन्धी अपनी धारणा से उन्नत है। और जो लोग तदपेक्षा उन्नत देवों के उपासक हैं, उनकी भी उस एक ही मुक्ति की दूसरे प्रकार की धारणा है। जैसे-जैसे प्रकृति के सम्बन्ध में हमारी धारणा उन्नत होती जाती है, वैसे-ही-वैसे प्रकृति के प्रभु आत्मा के सम्बन्ध में भी हमारी धारणा उन्नत होती जाती है; अन्त में हम एकेश्वरवाद में पहुँच जाते हैं। यह है माया या प्रकृति, और इस माया के एक प्रभु हैं—यही हमारी आशा का स्थल है।

जहाँ सर्वप्रथम इस एकेश्वरवाद-सूचक भाव का आरम्भ होता है, बस वहीं वेदान्त का भी आरम्भ हो जाता है। वेदान्त इससे भी अधिक गम्भीर अन्वेषण करना चाहता है। वह कहता है कि इस माया-प्रपंच के पीछे जो एक आत्मा मौजूद है, जो माया का स्वामी है पर जो माया के अधीन नहीं है, वह हमें अपनी ओर आकर्षित कर रहा है और हम सब भी धीरे-धीरे उसी की ओर जा रहे हैं—यह धारणा है तो ठीक, पर अभी भी यह धारणा शायद स्पष्ट नहीं हुई है, अब भी यह दर्शन मानो अस्पष्ट और अस्फुट है, यद्यपि वह स्पष्ट रूप से युक्ति-विरोधी नहीं है। जिस प्रकार आपके यहाँ प्रार्थना में कहा जाता है—'[illegible]र, तेरे अति निकट' (Nearer, my God, to Thee), [illegible] ऐसी ही प्रार्थना करता है, केवल एक शब्द

बदलकर—'मेरे ईश्वर, मेरे अति निकट' (Nearer, my God, to Me)। हमारा चरम लक्ष्य बहुत दूर है, बहुत दूर—प्रकृति से अतीत प्रदेश में, और हम उसके निकट धीरे-धीरे अग्रसर हो रहे हैं—यह जो दूरी का भाव है, उसे धीरे-धीरे हमें और भी अपने निकट लाना होगा; पर हाँ, आदर्श की पवित्रता और उच्चता को अक्षुण्ण रखते हुए। मानो यह आदर्श क्रमशः हमारे निकटतर होता जाता है—अन्त में स्वर्ग का ईश्वर मानो प्रकृतिस्थ ईश्वर बन जाता है, फिर प्रकृति में और ईश्वर में कोई भेद नहीं रह जाता, वही मानो इस देह-मन्दिर के अधिष्ठातृ-देवता के रूप में, और अन्त में इसी देह-मन्दिर के रूप में जाना जाता है और वही मानो अन्त में जीवात्मा और मनुष्य के रूप में परिज्ञात होता है। बस यही वेदान्त की शिक्षा का अन्त है। जिसको ऋषिगण विभिन्न स्थानों में खोजा करते थे, वह हमारे अन्दर ही है। वेदान्त कहता है—तुमने जो वाणी सुनी थी, वह ठीक सुनी थी, पर उसे सुनकर तुम ठीक मार्ग पर चले नहीं। जिस मुक्ति के महान् आदर्श का तुमने अनुभव किया था, वह सत्य है, पर उसे बाहर की ओर खोजकर तुमने भूल की। इसी भाव को अपने निकट और निकटतर लाते चलो, जब तक कि तुम यह न जान लो कि यह मुक्ति, यह स्वाधीनता तुम्हारे अन्दर ही है, वह तुम्हारी आत्मा की अन्तरात्मा है। यह मुक्ति बराबर तुम्हारा स्वरूप ही थी, और माया ने तुम्हें कभी भी बद्ध नहीं किया। तुम पर अपना अधिकार जमाने की सामर्थ्य प्रकृति में कभी नहीं थी। डरे हुए बालक के समान तुम स्वप्न देख रहे थे कि प्रकृति तुम्हारा गला दबा रही है। इस भय से मुक्त होना ही लक्ष्य है। केवल इसे बुद्धि से जानना ही नहीं,

ब्रह्म और जगत्

अद्वैत वेदान्त की इस एक बात को धारणा करना अत्यन्त कठिन है कि जो ब्रह्म अनन्त है, वह सान्त अथवा ससीम किस प्रकार हुआ। यह प्रश्न मनुष्य सर्वदा करता रहेगा, पर जीवन-भर इस प्रश्न पर विचार करते रहने पर भी उसके हृदय से यह प्रश्न कभी दूर न होगा और वह बारम्बार पूछेगा—जो असीम है, वह सीमित कैसे हुआ? मैं अब इसी प्रश्न को लेकर आलोचना करूँगा। इसको ठीक प्रकार से समझाने के लिए मैं नीचे दिए हुए चित्र की सहायता लूँगा।

(क) ब्रह्म
(ग) देश काल निमित्त
(ख) जगत्

इस चित्र में (क) ब्रह्म है और (ख) है जगत्। ब्रह्म ही जगत् हो गया है। यहाँ पर जगत् शब्द से केवल जड़जगत् ही नहीं, किन्तु सूक्ष्म तथा आध्यात्मिक जगत् भी उसके साथ लेना होगा—स्वर्ग, नरक, और वास्तव में जो कुछ भी है, सबको इस जगत् के अन्तर्गत लेना होगा। मन एक प्रकार के परिणाम का नाम है, शरीर एक दूसरे प्रकार के परिणाम का—इत्यादि, इत्यादि। इन सबको लेकर अपना यह जगत् है। यह ब्रह्म (क) देश-काल-निमित्त (ग) में से होकर आने से जगत् (ख) बन गया है। यही अद्वैतवाद की मूल बात है। हम देश-काल-निमित्तरूपी काँच में से ब्रह्म को देख रहे हैं, और इस प्रकार नीचे की ओर से देखने पर ब्रह्म हमें जगत् के रूप में दीखता है। इससे यह स्पष्ट है कि जहाँ ब्रह्म है, वहाँ देश-काल-निमित्त नहीं है। काल वहाँ रह नहीं सकता, क्योंकि वहाँ न मन है, न विचार। देश भी वहाँ नहीं रह सकता, क्योंकि वहाँ

कोई परिणाम नहीं है। गति एवं निमित्त अथवा कार्य-कारण भाव भी वहाँ नहीं रह सकता, जहाँ सत्ता केवल एक है। यह बात समझना और इसको अच्छी तरह धारणा कर लेना हमारे लिए अत्यावश्यक है कि जिसको हम कार्य-कारण-भाव कहते हैं वह तो (यदि हम इन शब्दों का प्रयोग कर सकें) ब्रह्म के प्रपंच रूप में अवनत होने के बाद ही होता है, उससे पहले नहीं; और हमारी इच्छा, वासना आदि जो कुछ है, वह सब उसके बाद ही आरम्भ होती है। मेरी राय में शोपेनहावर (Schopenhauer) वेदान्त के समझने में यहीं पर भ्रम में पड़ गए हैं कि उन्होंने इस 'इच्छा' को ही सर्वस्व मान लिया है। वे ब्रह्म के स्थान में इस 'इच्छा' को ही बैठाना चाहते हैं। किन्तु पूर्ण ब्रह्म को कभी भी 'इच्छा' (Will) नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इच्छा जगत्प्रपंच के अन्तर्गत है और इसलिए परिणामशील है, पर ब्रह्म में ('ग' के ऊपर अर्थात् देश-काल-निमित्त के ऊपर) किसी प्रकार की गति नहीं है, किसी प्रकार का परिणाम नहीं है। इस (ग) के नीचे ही गति है—बाह्य और आभ्यन्तर सभी प्रकार की गति का आरम्भ इसके नीचे ही होता है, और इस आभ्यन्तरिक गति को ही विचार कहते हैं। अतः (ग) के ऊपर किसी प्रकार की इच्छा रह ही नहीं सकती। अतएव 'इच्छा' जगत् का कारण नहीं हो सकती। और भी निकट आकर देखो; हमारे शरीर की सभी गतियाँ इच्छा से प्रेरित नहीं होतीं। मैं इस कुर्सी को उठाता हूँ। यहाँ पर अवश्य इच्छा ही उठाने का कारण है। यह इच्छा ही पेशियों की शक्ति के रूप में परिणत हो गई है। यह बात ठीक है। पर जो शक्ति कुर्सी उठाने का कारण है, वही तो फेफड़ों को भी चला रही है,

पर 'इच्छा' के रूप में नहीं। इन दोनों शक्तियों को एक मान लेने पर भी, जिस समय वह ज्ञान की भूमि में आती है, उसी समय 'इच्छा' कहलाती है, पर इस भूमि में आरोहण करने के पहले उसे 'इच्छा' नाम से पुकारना भूल होगी। इसी से शोपेनहावर के दर्शन में बड़ी गड़बड़ी हो गई है। इसके बदले यदि हम 'प्रज्ञा' और 'संवित्' शब्दों का प्रयोग करें, तो अधिक उपयुक्त होगा। ये दो शब्द मन की सभी प्रकार की अवस्थाओं के सम्बन्ध में व्यवहृत हो सकते हैं। प्रज्ञा और संवित् ठीक ज्ञान की अवस्था अथवा ज्ञान के पूर्व की अवस्था नहीं हैं, पर इन्हें मानसिक परिणामों का एक साधारण भाव कहा जा सकता है।

जो हो, अब हम यह विचार करेंगे कि हम प्रश्न क्यों करते हैं? एक पत्थर गिरा और हमने प्रश्न किया—इसके गिरने का क्या कारण है? इस प्रश्न का औचित्य अथवा इसकी सम्भावना इस अनुमान अथवा धारणा पर निर्भर है कि जो कुछ होता है, उसके पूर्व और कुछ हो चुका है। मेरा अनुरोध है कि इस धारणा को आप अपने मन में खूब स्पष्ट रखिए, क्योंकि जब हम प्रश्न करते हैं कि यह घटना क्यों हुई, तब हम यह मान लेते हैं कि सभी वस्तुओं का, सभी घटनाओं का एक 'क्यों' रहता ही है। अर्थात् उसके घटने के पहले और कुछ अवश्य हुआ होगा। इस पूर्ववर्तिता और परवर्तिता को ही 'निमित्त' अथवा 'कार्य-कारण-भाव' कहते हैं। जो कुछ हम देखते, सुनते और अनुभव करते हैं, संक्षेप में, जगत् का सभी कुछ, एक बार कारण बनता है और फिर कार्य। एक वस्तु अपने बाद आनेवाली वस्तु का कारण बनती है और ... किसी अन्य

वस्तु का कार्य भी है। इसी को कार्य-कारण का नियम कहते हैं। यह हमारा स्थिर विश्वास है कि जगत् के प्रत्येक परमाणु का, वह फिर चाहे जो हो, अन्य सभी वस्तुओं के साथ कोई-न-कोई सम्बन्ध रहता ही है। हमारी यह धारणा किस प्रकार आई, इस बात को लेकर बहुत वाद-विवाद हो चुके हैं। योरप में अनेक सहज-प्राज्ञ (Intuitive) दार्शनिक हैं, जिनका विश्वास है कि यह धारणा मानव-जाति के स्वभाव में है, और बहुतों का विचार है कि वह अनुभवजनित है; पर इस प्रश्न की मीमांसा अभी तक हो नहीं पाई। वेदान्त इसकी क्या मीमांसा करता है, यह हम बाद में देखेंगे। पहले तो हमें यह समझना है कि यह 'क्यों' का प्रश्न ही इस धारणा पर निर्भर रहता है कि इसके पूर्व कुछ हो चुका है और इसके बाद भी कुछ होगा। इस प्रश्न में यह विश्वास भी निहित है कि जगत् का कोई भी पदार्थ स्वतंत्र नहीं, प्रत्येक पदार्थ पर उसके बाहर स्थित अन्य कोई भी पदार्थ कार्य कर सकता है। जगत् के सभी पदार्थ इस प्रकार परस्पर-सापेक्ष हैं—एक दूसरे के आधीन हैं—कोई भी स्वतंत्र नहीं है। जब हम पूछते हैं, "ब्रह्म पर किस शक्ति ने कार्य किया?" तो हम ब्रह्म को जगत् के अन्तर्गत किसी वस्तु के समान मान लेने की भूल कर बैठते हैं। यह प्रश्न करते ही हमें यह अनुमान करना पड़ेगा कि वह ब्रह्म भी अन्य किसी के आधीन है—वह निरपेक्ष ब्रह्मसत्ता भी अन्य किसी के द्वारा बद्ध है। अर्थात् 'ब्रह्म' अथवा 'निरपेक्ष सत्ता' शब्द को हम जगत् के समान समझते हैं—हम उसे जगत् के स्तर पर नीचे खींच लाते हैं। परन्तु पहली रेखा के ऊपर देश-काल-निमित्त हैं ही नहीं; क्योंकि वह ब्रह्म एकमेवाद्वितीय है—मन के भी अतीत है। जो केवल निरपेक्ष सत्तास्वरूप है, जो एकमात्र,

एकमेवाद्वितीय है, उसका कोई कारण हो ही नहीं सकता। जो मुक्तस्वभाव है, स्वतंत्र है, उसका कोई कारण नहीं हो सकता, अन्यथा वह मुक्त नहीं रहेगा, बद्ध हो जायगा। जिसमें सापेक्ष-भाव है, वह कभी मुक्तस्वभाव नहीं हो सकता। अतः हम देखते हैं कि अनन्त सान्त कैसे हुआ, यह प्रश्न ही भ्रमात्मक और स्वविरोधी है।

यह सब सूक्ष्म विचार छोड़कर सीधेसादे ढंग से भी हम इस विषय को समझा सकते हैं। मान लो, हमने समझ लिया कि ब्रह्म किस प्रकार जगत् हो गया, अनन्त किस प्रकार सान्त हो गया; तब क्या ब्रह्म ब्रह्म ही रह जायगा—अनन्त क्या अनन्त ही रह जायगा? ऐसा होने पर तो अनन्त सान्त ही हो गया। साधारण रूप से हम ज्ञान किसे कहते हैं? जो कोई विषय हमारे मन के विषयीभूत हो जाता है अर्थात् मन के द्वारा सीमाबद्ध हो जाता है, हम उसी को जान सकते हैं, और जब वह हमारे मन के बाहर रहता है अर्थात् मन का विषय नहीं रहता, तब हम उसे नहीं जान सकते। अतः यह स्पष्ट है कि यदि यह अनन्त ब्रह्म मन के द्वारा सीमाबद्ध हो गया, तो फिर वह अनन्त नहीं रह जायगा, वह सान्त हो जायगा। मन के द्वारा जो कुछ सीमा-बद्ध है, वह सभी ससीम है। अतएव, 'ब्रह्म को जानना' यह बात भी स्वविरोधी ही है। इसी लिए इस प्रश्न का उत्तर अब तक नहीं मिला; क्योंकि यदि उत्तर मिल जाय, तो वह असीम नहीं रहेगा; यदि ईश्वर 'ज्ञात' हो जाय, तो उसका ईश्वरत्व फिर नहीं रहेगा—वह हमारे ही समान एक व्यक्ति हो जायगा, इस कुर्सी के समान एक वस्तु बन जायगा। उसको जाना नहीं जा सकता, वह सर्वदा ही अज्ञेय है। पर अद्वैतवादी

कहते हैं कि वह केवल 'ज्ञेय' ही नहीं, उससे भी अधिक और कुछ है। अब हमें इस बात को समझ लेना होगा। आप अज्ञेयवादियों के समान यह धारणा न बना लें कि ईश्वर अज्ञेय है। दृष्टान्तस्वरूप देखिए—सामने यह कुर्सी है, इसे मैं जानता हूँ, यह मेरा ज्ञात पदार्थ है। और आकाशतत्त्व के बाहर क्या है, वहाँ कोई लोग रहते हैं या नहीं, यह बात शायद बिलकुल अज्ञेय है। पर ईश्वर इन दोनों पदार्थों की भाँति ज्ञात भी नहीं है और अज्ञेय भी नहीं। प्रत्युत वह तो 'ज्ञात' से और भी कुछ अधिक है। ईश्वर को अज्ञात या अज्ञेय कहने का बस यही तात्पर्य है। उसका वह अर्थ नहीं, जिस अर्थ में लोग कुछ प्रश्नों को अज्ञात या अज्ञेय कहते हैं। ईश्वर ज्ञात से और भी कुछ अधिक है। यह कुर्सी हमारे लिए ज्ञात है, पर ईश्वर तो इससे भी अधिक ज्ञात है, क्योंकि पहले उसे जानकर—उसी के भीतर से—हमें कुर्सी का ज्ञान प्राप्त करना होता है। वह साक्षीस्वरूप है, समस्त ज्ञान का वह अनन्त साक्षीस्वरूप है। हम जो कुछ जानते हैं, वह सब पहले उसे जानकर—उसी के भीतर से—जानते हैं। वही हमारी आत्मा का सारसत्तास्वरूप है। वही वास्तविक 'अहं' है, और वह 'अहं' ही हमारे इस 'अहं' का सारसत्तास्वरूप है; हम उस 'अहं' के भीतर से जाने बिना कुछ भी नहीं जान सकते, अतएव सभी कुछ हमें ब्रह्म के भीतर से ही जानना पड़ेगा। इस कुर्सी को जानना हो, तो उसे ब्रह्म के भीतर से ही जानना होगा। इस प्रकार ब्रह्म कुर्सी की अपेक्षा हमारे अधिक निकट है, पर तो भी वह हमसे बहुत दूर है। वह ज्ञात भी नहीं, अज्ञात भी नहीं, पर दोनों की अपेक्षा अनन्तगुना ऊँचा है। वह आत्मा आत्मस्वरूप है। कौन इस जगत्

में एक क्षण भी जीवन धारण कर सकता, एक क्षण भी साँस ले सकता, यदि वह आनन्दस्वरूप इसके परमाणु-परमाणु में विराजमान न रहता ? कारण, उसी की शक्ति से हम श्वास-प्रश्वास ले रहे हैं, उसी के अस्तित्व से हमारा अस्तित्व है। ऐसी बात नहीं कि वह कोई एक विशेष स्थान पर बैठकर हमारा रक्त-संचालन कर रहा है। तात्पर्य यह है कि वही समुदय जगत् का सत्तास्वरूप है—हमारी आत्मा की आत्मा है; आप किसी प्रकार यह नहीं कह सकते कि आप उसे जानते हैं, क्योंकि तब तो उसे बहुत नीचे गिराना हो जाता है। आप अपने से बाहर नहीं आ सकते, अतएव उसे जान भी नहीं सकते। ज्ञान शब्द का अर्थ है—'विषयीकरण' (objectification)—वस्तु को बाहर लाकर विषय की भाँति (ज्ञेय वस्तु की भाँति) प्रत्यक्ष करना। उदाहरणस्वरूप देखिए, स्मरण करने में आप बहुतसी वस्तुओं को 'विषयीकृत' करते हैं—मानो उन्हें आप अपने स्वरूप से बाहर प्रक्षेप करते हैं! सभी प्रकार की स्मृति—जो कुछ मैंने देखा है और जो कुछ मैं जानता हूँ, सभी—मेरे मन में अवस्थित है। इन सभी वस्तुओं की छाप या चित्र मेरे भीतर मौजूद हैं। जब मैं उनके विषय में सोचने की इच्छा करता हूँ, उनको जानना चाहता हूँ, तो पहले इन सबको मानो बाहर प्रक्षेप करना पड़ता है। ईश्वर के सम्बन्ध में ऐसा करना असम्भव है, क्योंकि वह हमारी आत्मा की आत्मा है, हम उसे बाहर प्रक्षेप नहीं कर सकते। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है—'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो,' जिसका अर्थ है, 'वह सूक्ष्म-स्वरूप जगत् का कारण है, सकल वस्तुओं की आत्मा है, वही सत्य-

स्वरूप है, हे श्वेतकेतो, तुम वही हो।' यह 'तत्त्वमसि' वाक्य वेदान्त में सबसे अधिक पवित्र वाक्य—महावाक्य—कहलाता है, और इस उपर्युक्त वाक्यांश के द्वारा 'तत्त्वमसि' का वास्तविक अर्थ क्या है, यह भी स्पष्ट हो गया। 'तुम्हीं वह हो' इसके अतिरिक्त और किसी भी भाषा द्वारा आप ईश्वर का वर्णन नहीं कर सकते। भगवान को माता, पिता, भाई या प्रिय मित्र कहने से उसको 'विषयीकृत' करना पड़ता है—उसको बाहर लाकर देखना पड़ता है। पर ऐसा तो कभी हो नहीं सकता। वह तो सब विषयों का अनन्त विषयी है। जिस प्रकार मैं जब इस कुर्सी को देखता हूँ, तो मैं कुर्सी का द्रष्टा हूँ—मैं उसका विषयी हूँ, उसी प्रकार ईश्वर मेरी आत्मा का नित्यद्रष्टा है—नित्य-ज्ञाता है—नित्यविषयी है। किस प्रकार आप उसको—अपनी आत्मा की अन्तरात्मा को—सब वस्तुओं की सारसत्ता को 'विषयीकृत' करेंगे, बाहर लाकर देखेंगे? इसी लिए मैं आपसे फिर कहता हूँ कि ईश्वर ज्ञेय भी नहीं है और अज्ञेय भी नहीं, वह ज्ञेय और अज्ञेय दोनों से अनन्तगुना ऊँचा है—वह हमारे साथ अभिन्न है। और जो हमारे साथ एक है, वह हमारे लिए न ज्ञेय हो सकता है, न अज्ञेय, जैसी कि हमारी अपनी आत्मा। आप अपनी आत्मा को नहीं जान सकते, आप उसे बाहर नहीं ला सकते और न उसे 'विषय' करके दृष्टिगोचर कर सकते हैं, क्योंकि आप स्वयं वही हैं, आप अपने को उससे पृथक् नहीं कर सकते। आप उसको अज्ञेय भी नहीं कह सकते, क्योंकि अज्ञेय कहने से भी पहले उसे 'विषय' बनाना पड़ेगा—और यह हो नहीं सकता। आप अपने निकट स्वयं जितने परिचित या ज्ञात हैं, उससे अधिक कौनसी वस्तु आपको ज्ञात है? वास्तव

में वह हमारे ज्ञान का केन्द्र है। ठीक इसी अर्थ में यह कहा जाता है कि ईश्वर ज्ञात भी नहीं है, अज्ञात भी नहीं, वह इन दोनों की अपेक्षा अनन्तगुना ऊँचा है, क्योंकि वही हमारी आत्मा की अन्तरात्मा है।

अतएव हमने देखा कि पहले तो यह प्रश्न ही स्वविरोधी है कि पूर्ण-ब्रह्मसत्ता से जगत् किस प्रकार उत्पन्न हुआ; और दूसरे, हम देखते हैं कि अद्वैतवाद में ईश्वर की धारणा इसी एकत्व की धारणा है—अतः हम उसको 'विषयीकृत' नहीं कर सकते, क्योंकि जाने-अनजाने हम सदैव उसी में जीवित हैं और उसी में रहकर समस्त कार्यकलाप करते हैं। हम जो कुछ करते हैं, सब उसके भीतर से ही करते हैं। अब प्रश्न यह है कि देश-काल-निमित्त क्या है? अद्वैतवाद का मर्म तो यह है कि वस्तु एक ही है, दो नहीं। पर यहाँ पर तो यह कहा जा रहा है कि वह अनन्त-ब्रह्म देश-काल-निमित्त के आवरण में से नाना रूपों में प्रकाशित हो रहा है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ दो वस्तुएँ हैं, एक तो वह अनन्त ब्रह्म और दूसरी, देश-काल-निमित्त की समष्टि अर्थात् माया। ऊपर से तो यही प्रतीत होता है कि ये दो वस्तुएँ हैं। अद्वैतवादी इसका उत्तर देते हैं कि वास्तव में इस प्रकार दो नहीं हो सकते। यदि दो वस्तुएँ मानेंगे, तो ब्रह्म की भाँति, जिस पर कोई निमित्त कार्य नहीं कर सकता, दो स्वतन्त्र सत्ताएँ माननी पड़ेंगी। पहले तो, यह नहीं कहा जा सकता कि काल, देश और निमित्त ये तीनों स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं। हमारे मन के प्रत्येक परिवर्तन के साथ काल का भी परिवर्तन होता रहता है, अतः उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। कभी-कभी हम स्वप्न में देखते हैं कि हम कई

वर्ष जीवित रहे और कभी-कभी ऐसा बोध होता है कि का मास एक ही क्षण में गुजर गए।

अतएव हमने देखा कि काल हमारे मन की अवस्था पर सम्पूर्ण रूप से निर्भर रहता है। दूसरे, काल का ज्ञान कभी-कभी बिलकुल नहीं रहता, बाद में फिर आ जाता है। देश के सम्बन्ध में भी यही बात है। हम देश का स्वरूप नहीं जान सकते। उसका कोई निर्दिष्ट लक्षण करना असम्भव होने पर भी, 'वह है' इस बात को अस्वीकार करने का कोई उपाय नहीं है। फिर, वह अन्य किसी पदार्थ से पृथक् होकर नहीं रह सकता। निमित्त अथवा कार्य-कारण-भाव के सम्बन्ध में भी यही बात है। इन देश, काल और निमित्त में हम यही एक विशेषता देखते हैं कि ये अन्यान्य वस्तुओं से पृथक् होकर नहीं रह सकते। आप शुद्ध 'देश' की कल्पना कीजिए, जिसमें न कोई रंग है, न सीमा, चारों ओर की किसी भी वस्तु से जिसका कोई संसर्ग नहीं है। तो आप देखेंगे कि आप इसकी कल्पना कर ही नहीं सकते। देश सम्बन्धी विचार करते ही आपको दो सीमाओं के बीच अथवा तीन वस्तुओं के बीच स्थित देश की कल्पना करनी होगी। अतः हमने देखा कि देश का अस्तित्व अन्य किसी वस्तु पर निर्भर रहता है। काल के सम्बन्ध में भी यही बात है। शुद्ध काल के सम्बन्ध में आप कोई धारणा नहीं कर सकते। काल की धारणा करने के लिए आपको एक पूर्ववर्ती और एक परवर्ती घटना लेनी पड़ेगी और काल की धारणा के द्वारा उन दोनों को मिलाना होगा। जिस प्रकार देश बाहर की दो वस्तुओं पर निर्भर रहता है, उसी प्रकार दो घटनाओं पर निर्भर रहता है। और 'निमित्त'

अथवा 'कार्य-कारण-भाव' की धारणा इन देश और काल पर निर्भर रहती है। 'देश-काल-निमित्त' के भीतर विशेषत्व यही है कि इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इस कुर्सी अथवा उस दीवार का जैसा अस्तित्व है, उनका वैसा भी नहीं है। वे जैसे सभी वस्तुओं के पीछे लगी हुई छाया के समान हैं, आप किसी भी प्रकार उन्हें पकड़ नहीं सकते। उनकी कोई सत्ता नहीं है—हम देख चुके हैं कि सचमुच उनका अस्तित्व ही नहीं है—अधिक-से-अधिक, वे छाया के समान हैं। फिर, वे कुछ भी नहीं है यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उन्हीं में से जगत् का प्रकाश हो रहा है—ये तीनों मानो स्वभावतः मिलकर नाना रूपों की उत्पत्ति कर रहे हैं। अतएव, पहले हमने देखा कि देश-काल-निमित्त की समष्टि का अस्तित्व भी नहीं है, फिर वे बिलकुल असत् (अस्तित्व-शून्य) भी नहीं हैं। दूसरे, ये कभी-कभी बिलकुल अन्तर्हित हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, समुद्र की तरंगों को लीजिए। तरंग अवश्य समुद्र के साथ अभिन्न है, फिर भी हम उसको तरंग कहकर समुद्र से पृथक् रूप में जानते हैं। इस विभिन्नता का कारण क्या है?—नाम और रूप। नाम अर्थात् उस वस्तु के सम्बन्ध में हमारे मन में जो एक धारणा रहती है वह, और रूप अर्थात् आकार। पर क्या हम तरंग को समुद्र से बिलकुल पृथक् रूप में सोच सकते हैं? नहीं, कभी नहीं। वह तो सदैव इस समुद्र की धारणा पर ही निर्भर रहती है। यदि यह तरंग चली जाय, तो रूप भी अन्तर्हित हो जायगा। फिर भी ऐसी बात नहीं कि यह रूप बिलकुल भ्रमात्मक था। जब तक यह तरंग थी, तब तक यह रूप भी था और आपको बाध्य होकर यह रूप देखना पड़ता था। यही माया है!

अतएव यह समुदय जगत् मानो उस ब्रह्म का एक विशेष रूप है। ब्रह्म ही वह समुद्र है और तुम और मैं, सूर्य, तारे सभी उस समुद्र में विभिन्न तरंग मात्र हैं। तरंगों को समुद्र से पृथक् कौन करता है ?—यह रूप। और यह रूप है केवल देश-काल-निमित्त। ये देश-काल-निमित्त भी सम्पूर्ण रूप से इन तरंगों पर निर्भर रहते हैं। ज्योंही तरंगें चली जाती हैं, त्योंही ये भी अन्तर्हित हो जाते हैं। जीवात्मा ज्योंही इस माया का परित्याग कर देता है, त्योंही वह उसके लिए अन्तर्हित हो जाती है और वह मुक्त हो जाता है। हमारी सारी चेष्टाएँ इस देश-काल-निमित्त के चंगुल से बाहर होने के लिए होनी चाहिए। ये सर्वदा हमारी उन्नति के मार्ग में बाधा डाल रहे हैं और हम सदैव इनका ग्रास बनने से अपने को बचा रहे हैं। विद्वान् लोग 'क्रमविकासवाद' (Theory of Evolution) किसको कहते हैं ? इसके भीतर दो बातें हैं। एक तो यह कि एक प्रबल अन्तर्निहित गूढ़ शक्ति अपने को प्रकट करने की चेष्टा कर रही है और बाहर की अनेक घटनाएँ उसमें बाधा पहुँचाती हैं—आस-पास की परिस्थितियाँ उसको प्रकाशित नहीं होने दे रही हैं। अतः इन परिस्थितियों से युद्ध करने के लिए यह शक्ति नए-नए शरीर धारण कर रही है। एक क्षुद्रतम कीटाणु इस उन्नत होने की चेष्टा में एक और शरीर धारण करता है और कुछ बाधाओं पर जय-लाभ करता है, और इस प्रकार भिन्न-भिन्न शरीर धारण करते हुए अन्त में मनुष्य-रूप में परिणत हो जाता है। अब यदि इसी तत्त्व को उसके स्वाभाविक चरम सिद्धान्त पर ले जाया जाय, तो यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि एक समय ऐसा आयगा, जब कीटाणु के भीतर क्रीड़ा करनेवाली शक्ति, जो अन्त में मनुष्य-

रूप में परिणत हो गई, सारी बाधाओं को पार कर जायगी—बाहर की घटनाएँ उसको फिर बाधा नहीं पहुँचा सकेंगी। इसी बात को दार्शनिक भाषा में इस प्रकार कहना होगा—प्रत्येक कार्य के दो अंश होते हैं; एक विषयी और दूसरा विषय। मान लो, एक व्यक्ति ने मेरा तिरस्कार किया और मैंने अपने को दुःखी अनुभव किया—तो यहाँ भी ये ही दो बातें हैं। तो फिर सारा जीवन मेरी क्या चेष्टा रहेगी? यही कि अपने मन को इतना सबल कर लेना, जिससे बाहर की परिस्थितियों पर मैं अपना आधिपत्य स्थापित कर सकूँ, अर्थात् उनके द्वारा मेरा तिरस्कार होने पर भी मैं किसी कष्ट का अनुभव न करूँ। बस इसी प्रकार हम प्रकृति को पराजित करने की चेष्टा कर रहे हैं। नीति का क्या अर्थ है? 'अपने' को दृढ़ करना—उसे क्रमशः सभी प्रकार की परिस्थितियों के सहन करने योग्य बनाना, जैसा कि आपका विज्ञान कहता है कि कालान्तर में मनुष्य-शरीर सभी अवस्थाओं को सहन करने में समर्थ हो जायगा। और यदि विज्ञान की यह बात सत्य हो, तब तो हमारे दर्शन का यह सिद्धान्त कि एक समय ऐसा आयगा, जब हम सभी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर लेंगे, अकाट्य युक्ति पर स्थापित हो गया; क्योंकि प्रकृति सीमित है।

हमें यह बात भी समझनी होगी कि प्रकृति ससीम है। यह कैसे जाना कि प्रकृति ससीम है?—दर्शन के द्वारा। प्रकृति उस अनन्त का ही सीमाबद्ध भाव मात्र है। अतः वह सीमित है। अतएव एक समय ऐसा आयगा, जब हम बाहर की परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर लेंगे। उनको पराजित करने का उपाय क्या है? वास्तव में हम बाहर के विषयों में किसी प्रकार का

परिवर्तन उत्पन्न करके उन पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते छोटीसी मछली जल में रहनेवाले अपने शत्रुओं से अपनी रक्षा करना चाहती है। वह किस प्रकार यह कार्य करती है? आकाश में उड़कर, पक्षी बनकर। मछली ने जल अथवा वायु में कोई परिवर्तन नहीं किया—जो कुछ परिवर्तन हुआ, वह उसके अपने ही अन्दर हुआ। परिवर्तन सदा 'अपने' ही अन्दर होता है। समस्त क्रमविकास में परिवर्तन 'अपने' ही अन्दर होते हैं और इस प्रकार हमें प्रकृति पर विजय प्राप्त होती रहती है। इस तत्त्व का प्रयोग धर्म और नीति में करो, तो देखोगे, यहाँ भी 'अशुभ-जय' 'अपने' भीतर परिवर्तन के द्वारा ही साधित हो रही है। सब कुछ 'अपने' ऊपर निर्भर रहता है। इस 'अपने' पर जोर देना ही अद्वैतवाद की वास्तविक दृढ़ भूमि है। 'अशुभ, दुःख' यह सब कहना ही भूल है, क्योंकि बहिर्जगत् में इनका कोई अस्तित्व नहीं है। इन सब घटनाओं में स्थिर भाव से रहने का यदि मुझे अभ्यास हो जाय, तो फिर क्रोधोत्पादक सैकड़ों कारण सामने आने पर भी मुझमें क्रोध का उद्रेक न होगा। इसी प्रकार, लोग मुझसे चाहे जितनी घृणा करें, पर यदि मैं उससे प्रभावित न होऊँ, तो मुझमें उनके प्रति घृणा-भाव उत्पन्न ही न होगा।

बस इसी प्रकार, 'अपनी' उन्नति का साधन करके 'अशुभ-जय' करना पड़ता है। अतएव आप देखते हैं कि अद्वैतवाद ही एकमात्र ऐसा धर्म है, जो आधुनिक वैज्ञानिकों

आधुनिक वैज्ञानिकों को इतना भाता है। वे देखते हैं कि प्राचीन द्वैतवादी धर्म उनके लिए पर्याप्त नहीं है, उनसे उनकी ज्ञान की भूख नहीं मिटती। किन्तु इस अद्वैतवाद में उनकी ज्ञान की भूख मिट जाती है। केवल विश्वास रहने से ही मनुष्य का काम नहीं चलेगा। ऐसा विश्वास होना चाहिए, जिससे उसकी ज्ञान-वृत्ति चरितार्थ हो। यदि मनुष्य से, जो कुछ वह देखे उसी पर विश्वास कर लेने को कहा जाय, तो वह शीघ्र ही पागलखाने में चला जायगा। एक बार एक महिला ने मेरे पास एक पुस्तक भेजी। उसमें लिखा था, सभी बातों पर विश्वास करना चाहिए। उसमें यह भी लिखा था कि मनुष्य की आत्मा अथवा इस प्रकार की अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है; पर स्वर्ग में देवी-देवता हैं और एक प्रकाश का सूत्र हममें से प्रत्येक के मस्तक के साथ स्वर्ग का संयोग कर दे रहा है। लेखिका को इन सब बातों का पता कैसे लगा? उन्होंने अन्तःप्रेरित होकर इन सब तत्त्वों को जाना था और उन्होंने मुझसे भी इन पर विश्वास करने को कहा था! जब मैंने उनकी इन सब बातों पर विश्वास करना अस्वीकार कर दिया, तब उन्होंने कहा, "तुम अवश्य बड़े दुराचारी हो—तुम्हारे लिए अब कोई आशा नहीं!" जो भी हो, इस उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में भी अनेक स्थानों में इस प्रकार की धारणा है कि हमारे बाप-दादों से आया हुआ धर्म ही एकमात्र सत्य है और अन्य स्थानों में जिन सब दूसरे धर्मों का प्रचार हो रहा है, वे सभी मिथ्या हैं। इससे यही प्रमाणित होता है कि हमारे भीतर अभी भी दुर्बलताएँ हैं। हमें ये दुर्बलताएँ दूर करनी होंगी। मैं यह नहीं कहता कि यह दुर्बलता केवल इसी देश में (इंगलैण्ड में) है—नहीं, यह सभी

देशों में है, और जैसी मेरे देश में है, वैसी तो कहीं भी नहीं। यहाँ यह बहुत ही भयानक रूप में है। वहाँ अद्वैतवाद का प्रचार साधारण लोगों में कभी होने नहीं दिया गया। संन्यासी लोग ही अरण्य में उसकी साधना करते थे, इसी कारण वेदान्त का एक नाम 'आरण्यक' भी हो गया। अन्त में भगवान की कृपा से बुद्धदेव ने आकर सर्व-साधारण के बीच इसका प्रचार किया, और सारा देश बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गया। फिर बहुत समय बाद जब नास्तिकों ने सारे देश को ध्वंस करने की चेष्टा की, तब ज्ञानियों ने भारत के इस नास्तिकता के अन्धकार को दूर करने के लिए इस धर्म को ही एकमात्र उपाय पाया। इस प्रकार दो बार इसने नास्तिकता से भारत की रक्षा की है। पहले, बुद्धदेव के आने के पूर्व, नास्तिकता अति प्रबल हो उठी थी,—योरप, अमेरिका के विद्वानों में आजकल जैसी नास्तिकता है, वैसी नहीं, वरन् वह तो इससे भी भयंकर थी। मैं एक प्रकार का नास्तिक हूँ; क्योंकि मेरा विश्वास है कि केवल एक ही वस्तु का अस्तित्व है। आधुनिक वैज्ञानिक नास्तिक भी यही कहते हैं, पर वे उसे 'जड़' के नाम से पुकारते हैं और मैं उसे 'ब्रह्म' कहता हूँ। ये 'जड़वादी' नास्तिक कहते हैं कि इस 'जड़' से ही मनुष्य की आशा, भरोसा, धर्म सभी कुछ आया है। और मैं कहता हूँ, 'ब्रह्म' से ही सब कुछ हुआ है। पर बुद्ध के आविर्भाव के पूर्व इस प्रकार की नास्तिकता नहीं थी, उस समय तो चार्वाकों का मत अपना प्रभाव जमाए हुए था—खाओ, पिओ और मौज उड़ाओ; ईश्वर, आत्मा या स्वर्ग कुछ भी नहीं है; धर्म कुछ धूर्त, दुष्ट पुरोहितों की कपोल-कल्पना मात्र है—'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।' और यह

नास्तिकता उस समय इतनी बढ़ गई थी कि उसका एक नाम ही हो गया 'लोकायत दर्शन'। इस प्रकार की अवस्था में बुद्धदेव ने आकर जन-साधारण में वेदान्त का प्रचार करके भारतवर्ष की रक्षा की। बुद्धदेव के तिरोभाव के ठीक एक हज़ार वर्ष पश्चात् फिर इसी प्रकार की बात हुई। चाण्डाल भी बौद्ध होने लगे। नाना-विध जातियाँ बौद्ध होने लगीं। अनेक लोग, अति नीच जाति के होते हुए भी, बौद्ध धर्म ग्रहण करके बड़े सदाचारी बन गए। किन्तु इनमें नाना प्रकार के कुसंस्कार थे—नाना प्रकार के टोने-टोटके, मंत्र-तंत्र और भूत-देवताओं मे विश्वास था। बौद्ध धर्म के प्रभाव से ये बातें कुछ दिनों तक दबी तो रहीं, किन्तु वे फिर प्रकट हो पड़ीं। अन्त में भारतवर्ष में बौद्ध धर्म नाना प्रकार के विषयों की खिचड़ी-सा हो गया। तब फिर से नास्तिकता के बादलों से भारत का आकाश ढक गया—अच्छे परिवार के लोग स्वेच्छाचारी और साधारण लोग कुसंस्कारी हो गए। ऐसे समय में शंकराचार्य ने उठकर फिर से वेदान्त की ज्योति को जगाया। उन्होंने उसका एक युक्ति-संगत, विचारपूर्ण दर्शन के रूप में प्रचार किया। उपनिषदों में विचार-भाग बड़ा ही अस्फुट है। बुद्धदेव ने उपनिषदों के नीति-भाग पर खूब जोर दिया था, शंकराचार्य ने उनके ज्ञान-भाग पर अधिक जोर दिया। उन्होने उपनिषदों के सिद्धान्त युक्ति और विचार की कसौटी पर कसकर, प्रणालीबद्ध रूप में लोगों के समक्ष रखे। योरप में भी आजकल ठीक वही अवस्था उपस्थित हुई है। इन नास्तिकों की मुक्ति के लिए—उनमें विश्वास उत्पन्न करने के लिए भले ही आप सारे संसार को इकट्ठा करके प्रार्थना करें, पर वे विश्वास नहीं करने के; वे चाहते हैं

मुक्ति। आज भारत की मुक्ति इस समय इसी सिद्धान्त प(र)
अद्वैतवाद पर निर्भर है; और एकमात्र यह अद्वैतवाद ही, (स)
निर्गुण ब्रह्म का भाव ही विश्वों पर प्रभाव डाल सकता है।
जब कभी धर्म लुप्त होने लगता है और अधर्म का अभ्युत्थान
होता है, तभी इसका आविर्भाव होता है। इसी लिए योरप
और अमेरिका में प्रवेश प्राप्त कर यह पुष्पित होता ज(ा)
रहा है।

इसमें मेरा एक बात और जोड़ देनी होगी। प्राची(न)
उपनिषद् बड़े उच्च कवित्व से पूर्ण हैं। उपनिषदों के वक्ता
ऋषि लोग महाकवि थे। आपको अवश्य याद होगा कि प्लेटो (ने)
कहा है—कवित्व के द्वारा जगत् में अलौकिक सत्य क(ा)
प्रकाश होता है। मानो कवित्व के माध्यम से उच्चतम सत्य(ों)
को जगत् को देने के लिए ही विधाता ने, साधारण मनुष्यों (से)
बहुत ऊँची पदवी पर आरूढ़ कवियों के रूप में उपनिषदों (के)
ऋषियों की सृष्टि की थी। वे न तो प्रचार करते थे, (न)
दार्शनिक ऊहापोह करते थे, और न कभी लिखते ही थे। उनके
हृदय-निर्झर से संगीत का फुहारा बहता था। उसके बाद बुद्धदे(व)
में हम देखते हैं—हृदय, महान् विश्वव्यापी हृदय और अनन्त
धैर्य। उन्होंने धर्म को सर्व-साधारणोपयोगी बनाकर प्रचा(र)
किया। असाधारण धी-शक्तिसम्पन्न शंकराचार्य ने उसको ज्ञान के
प्रखर आलोक में उद्भासित किया। हमको अब चाहिए कि
इस प्रखर ज्ञान-सूर्य के साथ बुद्धदेव के इस अद्भुत हृदय—इस
अद्भुत प्रेम और दया को सम्मिलित करें। अत्यन्त ऊँचे
दार्शनिक भाव भी उसमें रहें, वह विचार से शुद्ध किया हुआ
हो, और साथ-ही-साथ उसमें उच्च हृदय, प्रबल प्रेम और

या का योग भी रहे। तभी मणि-कांचन-योग होगा, तभी
ज्ञान और धर्म एक दूसरे का आलिंगन करेंगे। यही
भविष्य का धर्म होगा। और यदि हम ऐसा ठीक-ठीक कर ले
कें, तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह सभी काल
और सभी अवस्थाओं के लिए उपयोगी होगा। यदि आप
र जाकर स्थिर भाव से विचार करें, तो देखेंगे कि सभी
विज्ञानों में कुछ-न-कुछ त्रुटि है। किन्तु ऐसा होने पर भी यह
निश्चय जानिए कि आधुनिक विज्ञान को इसी एक मार्ग पर
आना पड़ेगा। बल्कि वह तो अभी भी इस ओर काफी आ
गया है। जब कोई बड़ा वैज्ञानिक कहता है कि सब कुछ उस
एक शक्ति का ही विकास है, तब क्या आपके मन में यह नहीं
आता कि उस समय वह उपनिषदों में वर्णित उस ब्रह्म की ही
महिमा का कीर्तन कर रहा है?—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
—कठोपनिषद्, २।२।९

"जिस प्रकार एक ही अग्नि जगत् में प्रविष्ट होकर नाना
रूपों में प्रकट होती है, उसी प्रकार सारे जीवों की अन्तरात्मा
वह एक ब्रह्म नाना रूपों में प्रकाशित हो रहा है, फिर वह
जगत् के बाहर भी है।" विज्ञान किस ओर जा रहा है, यह
क्या आप नहीं देखते? हिन्दू जाति मनस्तत्त्व की आलोचना
करते-करते, दर्शन के द्वारा, आगे बढ़ी थी। योरपीय जातियाँ
बाह्य प्रकृति की आलोचना करते-करते अग्रसर हुईं। अब दोनों
एक स्थान पर पहुँच रही हैं। मनस्तत्त्व में से होकर हम उसी
एक अनन्त सार्वभौमिक सत्ता में पहुँच रहे हैं, जो सब वस्तुओं

की अन्तरात्मास्वरूप है, जो सबका सार और सभी वस्तुओं
सत्यस्वरूप है, जो नित्यमुक्त, नित्यानन्द और नित्यसत्तास्व
है। बाह्य विज्ञान के द्वारा भी हम उसी एक तत्त्व पर प
रहे हैं। यह जगत्प्रपंच उसी एक का विकास है—जगत्
जो कुछ भी है, उस सबका वह समष्टिस्वरूप है। और सा
मानवजाति मुक्ति की ओर अग्रसर हो रही है, बन्धन की ओ
वह कभी जा ही नहीं सकती। मनुष्य नीतिपरायण क्यों हो
इसलिए कि नीति ही मुक्ति का मार्ग है और दुर्नीति बन्धन का

अद्वैतवाद का एक और विशेषत्व यह है कि अद्वैत सिद्धा
अपने आरम्भ काल से ही अन्य धर्मों या मतों को तोड़-फोड़क
फेंक देने की चेष्टा नहीं करता। वह यह प्रचार करने क
साहस रखता है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥
—गीता, ३।२

"ज्ञानियों को चाहिए कि वे अज्ञानी, कर्म में आसक्त
व्यक्तियों में बुद्धिभेद उत्पन्न न करें; विद्वान् व्यक्ति को स्वय
युक्त रहकर उन लोगों को सब प्रकार के कर्मों में नियुक्त
करना चाहिए।"

अद्वैतवाद यही कहता है—किसी की मति को विचलित मत
करो, किन्तु सभी को उच्च से उच्चतर मार्ग पर जाने में सहायता
दो। अद्वैतवाद जिस ईश्वर का प्रचार करता है, वह समस्त
जगत् का समष्टिस्वरूप है; यह मत यदि सत्य हो, तो वह
अवश्य सब मतों को अपने विशाल अंक में भर लेगा। यदि ऐसा
कोई सार्वजनीन धर्म है, जिसका लक्ष्य सबको ग्रहण करना हो, तो

उसे ईश्वर के ऐसे किसी भावविशेष का प्रचार नहीं करना चाहिए, जो केवल कुछ लोगों के ग्रहण करने योग्य हो, वरन् उसे तो सब भावों की समष्टि होना चाहिए। अन्य किसी मत में यह समष्टि का भाव उतना परिस्फुट नहीं है, फिर भी वे सभी उस समष्टि की ही प्राप्ति की चेष्टा कर रहे हैं। विशेष-विशेष भावों का अस्तित्व केवल इसलिए है कि वे सदैव समष्टि बनने की चेष्टा करते रहते हैं। इसी लिए अद्वैतवाद के साथ भारतवर्ष के किसी भी सम्प्रदाय का पहले से कोई विरोध नहीं था। भारत में आज अनेक द्वैतवादी हैं, उनकी संख्या भी अत्यधिक है। इसका कारण यह है कि अशिक्षित लोगों के मन में स्वभावतः द्वैतवाद का उदय होता है। द्वैतवादी कहते हैं कि यह द्वैतवाद जगत् की एक बिलकुल स्वाभाविक व्याख्या है। पर इन द्वैतवादियों के साथ अद्वैतवादियों का कोई विवाद नहीं। द्वैतवादी कहते हैं, ईश्वर जगत् के बाहर है, वह स्वर्ग के बीच एक विशेष स्थान में रहता है। और अद्वैतवादी कहते हैं, जगत् का ईश्वर हमारा अपना ही अन्तरात्मास्वरूप है, उसे दूर-वर्ती कहना ही नास्तिकता है। तुम कैसे कहते हो कि वह स्वर्ग में अथवा अन्य किसी दूरवर्ती प्रदेश में अवस्थित है? उससे पृथक् होने का भाव मन में लाना भी भयानक है! वह तो अन्यान्य समस्त वस्तुओं से हमारे अधिक निकट है। 'तुम्हीं वह हो'—इस एकत्व-सूचक वाक्य को छोड़ किसी भी भाषा में ऐसा कोई शब्द नहीं है, जिसके द्वारा उसकी यह निकटता व्यक्त की जा सके। जिस प्रकार द्वैतवादी अद्वैतवादियों की बातों से डरते हैं और उसे नास्तिकता कहते हैं, अद्वैतवादी भी उसी प्रकार द्वैतवादियों की बातों से डरते हैं और कहते हैं कि मनुष्य किस

प्रकार उसको (ईश्वर को) अपनी ज्ञेय वस्तु के समान म
का साहस करता है ? ऐसा होने पर भी, वे जानते हैं कि
जगत् में द्वैतवाद का स्थान कहाँ पर है—वे जानते हैं कि द्वैत
अपने दृष्टिकोण से ठीक ही बात कहते हैं, अतः उनसे उनका
विवाद नहीं। जब तक वे समष्टिभाव से न देखकर व्य
भाव से देखते हैं, तब तक उन्हें अवश्य 'अनेक' देखना पड़े
व्यष्टिभाव से देखने पर उन्हें अवश्य भगवान को बाहर देख
पड़ेगा—इसके विपरीत हो ही नहीं सकता। वे कहते है
'अच्छा, उनको अपने मत में ही रहने दो।' फिर भी अद्वैतव
जानते हैं कि द्वैतवादियों के मत में चाहे कितनी ही अपूर्ण
क्यों न हो, वे सब उसी एक लक्ष्य की ओर जा रहे हैं। इ
स्थान पर उनका द्वैतवादियों के साथ सम्पूर्ण प्रभेद है। संसार
सभी द्वैतवादी स्वभावतः ही एक ऐसे सगुण ईश्वर में विश्वा
करते हैं, जो एक उच्च शक्तिसम्पन्न मनुष्य मात्र है; और जि
प्रकार मनुष्य के कुछ प्रिय पात्र होते हैं तथा कुछ अप्रिय पात्र
उसी प्रकार द्वैतवादियों के ईश्वर के भी होते हैं। वह बिना किस
कारण ही किसी से सन्तुष्ट है और किसी से विरक्त। आप देखें
कि सभी जातियों में ऐसे लोग हैं, जो कहते हैं, 'हमीं ईश्वर
के अन्तरंग प्रिय पात्र हैं, और कोई नहीं; यदि अनुतप्त-हृदय
से हमारी शरण में आओ, तभी हमारा ईश्वर तुम पर कृपा
करेगा।' और कितने ही द्वैतवादी तो ऐसे हैं, जिनका मत और
भी भयानक है। वे कहते हैं, "ईश्वर जिनके प्रति दयालु है,
जो उसके अन्तरंग हैं, वे पहले से ही ईश्वर द्वारा 'निर्दिष्ट'
हैं—और चाहे कोई सिर पटककर भी मर जाय, तो भी वह इस
अन्तरंग दल में प्रवेश नहीं पा सकता।" आप मुझे एक तो ऐसा

द्वैतवादात्मक धर्म बता दीजिए, जिसके भीतर यह संकीर्णता न हो। यही कारण है कि ये सब धर्म सदैव परस्पर युद्ध करते रहेंगे, और कर भी तो रहे हैं। फिर, यह द्वैतवादियों का धर्म सर्वदा लोकप्रिय होता है, क्योंकि अशिक्षितों के भाव सदा ही लोकप्रिय होते हैं। द्वैतवादी समझते हैं कि एक दण्डधारी ईश्वर के बिना किसी प्रकार की नीति ठहर ही नहीं सकती। मान लो, छकड़े का घोड़ा व्याख्यान देने लगा। तो वह कहेगा, "लन्दन के लोग बड़े खराब हैं; क्योंकि उन पर रोज कोड़े नहीं बरसते।" वह स्वयं चाबुक खाने का आदी हो गया है। इससे अधिक वह और क्या समझ सकता है? किन्तु वास्तव में चाबुक की मार से तो लोग और भी खराब हो जाते हैं। गम्भीर विचार करने में असमर्थ साधारण लोग सभी देशों में द्वैतवादी हो जाते हैं। बेचारे गरीबों पर सदा ही अत्याचार होता रहा है। अतः उनकी मुक्ति की धारणा है दण्ड से छुटकारा पाना। दूसरी ओर, हम यह भी जानते हैं कि सभी देशों के चिन्तनशील महापुरुषों ने इस निर्गुण ब्रह्मभाव को लेकर ही कार्य किया है। इस भाव से अनुप्राणित होकर ही ईसामसीह ने कहा है—'मैं और मेरे पिता एक हैं।' इसी प्रकार का व्यक्ति लाखों व्यक्तियों में शक्तिसंचार करने में समर्थ होता है। और यह शक्ति सहस्रों वर्ष तक मनुष्यों के प्राणों में परित्राण देनेवाली शुभ-शक्ति का संचार करती रहती है। हम यह भी जानते हैं कि ये महापुरुष अद्वैतवादी थे, इसी लिए दूसरों के प्रति दयाशील थे। उन्होंने सर्व-साधारण को 'हमारा स्वर्गस्थ पिता' की शिक्षा दी थी। सगुण ईश्वर से उच्चतर अन्य किसी भाव की धारणा न कर सकनेवाले साधारण लोगों को उन्होंने स्वर्ग में रहनेवाले पिता

से प्रार्थना करना सिखाया। पर यह भी कहा कि जब समय आयगा, तब तुम देखोगे, 'मैं तुममें हूँ, और तुम मुझमें हो।' तुम सभी मानो उस पिता के साथ एक हो सको, जिस प्रकार 'मैं और मेरे पिता अभिन्न हैं।' बुद्धदेव देवता, ईश्वर आदि विशेष नहीं मानते थे। साधारण लोग उनको नास्तिक कहते थे, पर वे एक साधारण बकरी तक के लिए प्राण देने को प्रस्तुत थे! उन्होंने मानव-जाति में सर्वोच्च नीति का प्रचार किया। जहाँ कहीं आप किसी प्रकार का नीति-विधान पायेंगे, वहीं देखेंगे कि उनका प्रभाव, उनका प्रकाश जगमगा रहा है। जगत् के इन सब उच्च-हृदय व्यक्तियों को आप किसी संकीर्ण दायरे में बाँधकर नहीं रख सकते, विशेषतः आज, जबकि मनुष्य-जाति के इतिहास में एक ऐसा समय आ गया है और सब प्रकार के ज्ञान की ऐसी उन्नति हुई है, जिसकी किसी ने सौ वर्ष पूर्व स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी, यहाँ तक कि पचास वर्ष पूर्व जो किसी ने स्वप्न में भी नहीं सोचा था, ऐसे वैज्ञानिक ज्ञान का स्रोत बह चला है। ऐसे समय में क्या लोगों को अब भी इस प्रकार के संकीर्ण भावों में आबद्ध करके रखा जा सकता है? हाँ, लोग यदि बिलकुल पशुतुल्य, विचारहीन जड़पदार्थ के समान हो जायँ, तो भले ही यह सम्भव हो। इस समय आवश्यकता है उच्चतम ज्ञान के साथ उच्चतम हृदय के, अनन्त ज्ञान के साथ अनन्त प्रेम के योग की। अतएव वेदान्ती कहते हैं, उस अनन्त सत्ता के साथ एकीभूत होना ही एकमात्र धर्म है। वे भगवान के बस ये ही गुण बतलाते हैं—अनन्त सत्ता, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द; और वे कहते हैं कि ये तीनों एक हैं। ज्ञान और आनन्द के बिना सत्ता कभी रह ही नहीं सकती। ज्ञान

भी बिना आनन्द या प्रेम के नहीं रह सकता और आनन्द भी कभी ज्ञान बिना नहीं रह सकता। हमें चाहिए बस यही सम्मिलन —इस अनन्त सत्ता, ज्ञान और आनन्द की चरम उन्नति— एकदेशीय उन्नति नहीं। हमें चाहिए—सभी बातों की समान उन्नति। बुद्धदेव के समान महान् हृदय के साथ महान् ज्ञान का योग होना सम्भव है। मैं आशा करता हूँ, हम सभी उस लक्ष्य पर पहुँचने की प्राणपण से चेष्टा करेंगे।

जगत्

बहिर्जगत्

सुन्दर पुष्पराशि चारों ओर सुगन्ध फैला रही है, प्रभात
का सूर्य सुन्दर रक्तवर्ण हो उदित हो रहा है, प्रकृति नाना
प्रकार के विचित्र रंगों से सजकर शोभायमान हो रही है।
समस्त जगत्ब्रह्माण्ड सुन्दर है और मनुष्य जब से पृथ्वी पर
आया है, तभी से इस सौन्दर्य का उपभोग कर रहा है। पर्वत-
मालाएँ गम्भीर भावव्यंजक एवं भय उत्पन्न करनेवाली हैं, प्रबल
ग से समुद्र की ओर बहनेवाली नदियाँ, पदचिह्नों से रहित
रु देश, अनन्त असीम सागर, तारों से भरा आकाश—ये सभी
म्भीर भावों से पूर्ण और भयोद्दीपक हैं, फिर भी मनोहर हैं;
प्रकृति' शब्द से कही जानेवाली सभी सत्ताएँ अति-प्राचीन,
मृति-पथ के अतीत काल से मनुष्य के मन पर कार्य कर रही हैं,
मनुष्य की विचारधारा पर क्रमशः प्रभाव फैला रही हैं और इस
भाव की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप मनुष्य के हृदय में लगातार
प्रश्न उठ रहा है कि यह सब क्या है और इसकी उत्पत्ति
हाँ से हुई? अति प्राचीन मानव-रचना वेद के प्राचीन भाग
भी इसी प्रश्न की जिज्ञासा हम देखते हैं। यह सब कहाँ से
आ? जिस समय अस्ति, नास्ति कुछ भी नहीं था, जब
कार अन्धकार से ढका हुआ था, तब किसने इस जगत् का
न किया? कैसे किया? कौन इस रहस्य को जानता है?
तक यही प्रश्न चला आ रहा है। लाखों बार इसके
र देने की चेष्टा की गई है, किन्तु फिर भी लाखों बार
फिर से उत्तर देना पड़ेगा। ऐसी बात नहीं कि ये सभी

उत्तर भ्रमपूर्ण हों। प्रत्येक उत्तर में कुछ-न-कुछ सत्य है—काल-चक्र के साथ-साथ यह सत्य भी क्रमशः बल संग्रह करता जायगा। मैंने भारत के प्राचीन दार्शनिकों के पास से इस प्रश्न का जो उत्तर संग्रह किया है, उसको, वर्तमान मानव-ज्ञान के साथ मिलाकर, आपके सामने रखने की चेष्टा करूँगा।

हम देखते हैं कि इस प्राचीनतम प्रश्न के कई विषय पहले से ही विदित थे। प्रथम तो,—"जब अस्ति, नास्ति कुछ भी नहीं था," इस प्राचीन वैदिक वाक्य से प्रमाणित होता है कि एक समय ऐसा था, जब जगत् नहीं था, जब ये ग्रह-नक्षत्र, हमारी धरतीमाता, सागर, महासागर, नदी, शैलमाला, नगर, ग्राम, मानवजाति, अन्य प्राणी, उद्भिद्, पक्षी, यह अनन्त प्रकार की सृष्टि, यह सब कुछ भी नहीं था—यह बात पहले से ही मालूम थी। क्या हम इस विषय में निःसन्देह हैं? यह सिद्धान्त किस प्रकार प्राप्त हुआ यह समझने की हम चेष्टा करेंगे। मनुष्य अपने चारों ओर क्या देखता है? एक छोटे से उद्भिद् को ही लीजिए। मनुष्य देखता है कि उद्भिद् धीरे-धीरे मिट्टी को फोड़कर उठता है, अन्त में बढ़ते-बढ़ते एक विशाल वृक्ष हो जाता है, फिर वह मर जाता है—केवल बीज छोड़ जाता है। वह मानो घूम-फिरकर एक वृत्त पूरा करता है। बीज से ही वह निकलता है, फिर वृक्ष हो जाता है और उसके बाद फिर बीज में ही परिणत हो जाता है। पक्षी को देखिए, किस प्रकार वह अण्डे में से निकलता है, सुन्दर पक्षी का रूप धारण करता है, कुछ दिन जीवित रहता है, अन्त में मर जाता है, और छोड़ जाता है अन्य कई अण्डे अर्थात् भावी पक्षियों के बीज। तिर्यग्जातियों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार होता है और मनुष्य

के सम्बन्ध में भी। प्रत्येक पदार्थ मानो किसी बीज से, किसी मूल उपादान से, किसी सूक्ष्म आकार से आरम्भ होता है और स्थूल से स्थूलतर होता जाता है। कुछ समय तक ऐसा ही चलता है, और अन्त में फिर से उसी सूक्ष्म रूप में उसका लय हो जाता है। वृष्टि की एक बूंद, जिसमें अभी सुन्दर सूर्य-किरणें खेल रही हैं, वायु के सहारे बहुत दूर जाकर पर्वत पर पहुँचती है, वहाँ बर्फ में परिणत हो जाती है, फिर पानी बन जाती है और सैंकड़ों मील की यात्रा करके पुनः अपने उत्पत्ति-स्थान समुद्र में आ पहुँचती है। हमारे चारों ओर स्थित प्रकृति की सारी वस्तुओं के सम्बन्ध में भी यही नियम है। हम जानते हैं कि आज बर्फ की चट्टानें और नदियाँ बड़े-बड़े पर्वतों पर कार्य कर रही हैं और उन्हें धीरे-धीरे, परन्तु निश्चित रूप से, चूर-चूर कर रही हैं, चूर-चूरकर उन्हें बालू कर रही हैं। फिर वही बालू बहकर समुद्र में जाती है—समुद्र में स्तर-पर-स्तर जमती जाती है और अन्त में पहाड़ की भाँति कड़ी होकर भविष्य में पर्वत बन जाती है। वह पर्वत फिर से पिसकर बालू बन जायगा—बस यही क्रम है। बालुका से इन पर्वतमालाओं की उत्पत्ति है और बालुका में ही इनकी परिणति है। बड़े-बड़े नक्षत्रों के सम्बन्ध में भी यही बात है। हमारी यह पृथ्वी भी नीहारिका-रूप एक विशेष पदार्थ (Nebulae) से प्रारम्भ होकर क्रमशः शीतल होती गई और अन्त में हमारी निवासभूमि इस विशेष आकारवाली धरणी में परिणत हो गई। भविष्य में यह और भी शीतल होते-होते नष्ट हो जायगी, खण्ड-खण्ड हो जायगी, चूर-चूर हो जायगी, और फिर उसी मूल नीहारिकामय सूक्ष्म रूप में परिणत हो जायगी। प्रतिदिन हमारी आँखों के सामने

ा हो रहा है, स्मृति के अतीत काल से ही ऐसा हो रहा है।
ो मनुष्य का, प्रकृति का, जीवन का पूरा इतिहास है।

यदि यह सत्य हो कि प्रकृति अपने सभी कार्यों में सम-
ानीबद्ध (uniform) है; यदि यह सत्य हो—और आज
ह किसी ने इसका खण्डन नहीं किया—कि एक छोटासा बालू
ा कण जिस प्रणाली और नियम से सृष्ट होता है, प्रकाण्ड
र्य, तारे, यहाँ तक कि सम्पूर्ण जगत्-ब्रह्माण्ड की सृष्टि में भी
ही प्रणाली, वही एक नियम है; यदि यह सत्य हो कि एक
रमाणु जिस ढंग से बनता है, सारा जगत् भी उसी ढंग से
नता है; यदि यह सत्य हो कि एक ही नियम समस्त जगत् में
याप्त है, तो प्राचीन वैदिक भाषा में हम कह सकते हैं,
एक ढेला मिट्टी को जान लेने पर हम जगत्-ब्रह्माण्ड में जितनी
ट्टी है, उस सबको जान सकते हैं।" एक छोटे से उद्भिद् को
कर उसके जीवन-चरित की आलोचना करके हम जगत्-ब्रह्माण्ड
ा स्वरूप जान सकते हैं। बालू के एक कण की गति का
र्यवेक्षण करके हम समस्त जगत् का रहस्य जान लेंगे। अतएव
गत्-ब्रह्माण्ड पर अपनी पूर्व आलोचना के फल का प्रयोग करने
र हम यही देखते हैं कि सभी वस्तुओं का आदि और अन्त
ायः एक-सा होता है। पर्वत की उत्पत्ति बालुका से है और
ालुका में ही उसका अन्त है; वाष्प से नदी बनती है और
दी फिर वाष्प हो जाती है; बीज से उद्भिद् होता है और
द्भिद् फिर बीज बन जाता है; मानव-जीवन मनुष्य के
ीवाणुरूपी बीज से आता है और फिर से जीवाणु में ही चला
जाता है। नक्षत्रपुंज, नदी, ग्रह, उपग्रह—सब कुछ नीहारिकामय
अवस्था से आते हैं और फिर से उसी अवस्था में लौट जाते

हैं। इससे हम क्या सीखते हैं? यही कि ध्वंस अर्थात् स्थूल अवस्था कार्य है और सूक्ष्म भाव उसका कारण है। समस्त दर्शनों के जनकस्वरूप महर्षि कपिल बहुत काल पहले से प्रमाणित कर चुके हैं, "नाशः कारणलयः।"

यदि इस मेज का नाश हो जाय, तो यह केवल अपने कारण-रूप में लौट जायगी—फिर वह सूक्ष्म रूप भी उन परमाणुओं में बदल जायगा, जिनके मिश्रण से यह मेज नामक पदार्थ बना था। मनुष्य जब मर जाता है, तो जिन पंचभूतों से उसके शरीर का निर्माण हुआ था, उन्हीं में उसका लय हो जाता है। इस पृथ्वी का जब ध्वंस हो जायगा, तब जिन भूतों के मेल से इसका निर्माण हुआ था, उन्हीं में वह फिर परिणत हो जायगी। इसी को नाश अर्थात् कारणलय कहते हैं। अतएव हमने सीखा कि कार्य और कारण अभिन्न हैं—भिन्न नहीं; कारण ही एक विशेष रूप धारण करने पर कार्य कहलाता है। जिन उपादानों से इस मेज की उत्पत्ति हुई, वे कारण हैं और मेज कार्य; और वे ही कारण यहाँ पर मेज के रूप में वर्तमान हैं। ह गिलास एक कार्य है—इसके कुछ कारण थे, वे ही कारण भी इस कार्य में वर्तमान हैं। 'गिलास' (काँच) नामक छ पदार्थ और, उसके साथ-साथ, बनानेवाले के हाथों की शक्ति, न दो निमित्त और उपादान कारणों के मेल से गिलास मक यह आकार बना है। इसमें ये दोनों कारण वर्तमान । जो शक्ति किसी यंत्र के चक्र में थी, वह संयोजक (adhesive) क्ति के रूप में वर्तमान है—उसके न रहने पर गिलास के टे-छोटे खण्ड पृथक् होकर बिखर जायेंगे। फिर यह 'गिलास'-प उपादान भी वर्तमान है। 'गिलास केवल इन सूक्ष्म कारणों

की एक भिन्न रूप में परिणति मात्र है। यह गिलास यदि तोड़कर फेंक दिया जाय, तो जो शक्ति संहति (Adhesive Power) के रूप में इसमें वर्तमान थी, वह लौटकर फिर अपने उपादान में मिल जायगी, और गिलास के छोटे-छोटे टुकड़े पुनः अपना पूर्व रूप धारण कर लेंगे, और तब तक उसी रूप में रहेंगे, जब तक वे पुनः एक नया रूप धारण नहीं कर लेते।

अतएव हमने देखा कि कार्य कभी कारण से भिन्न नहीं होता। वह तो उसी कारण का पुनः आविर्भाव मात्र है। उसके बाद हमने सीखा कि ये सब छोटे-छोटे रूप, जिन्हें हम उद्भिद् अथवा तिर्यग्जाति अथवा मानव-जाति कहते हैं, अनन्त काल से उठते-गिरते, घूमते-फिरते आ रहे हैं। बीज से वृक्ष होता है और वृक्ष पुनः बीज में चला जाता है—बस इसी प्रकार चल रहा है, इसका कहीं अन्त नहीं है। जल की बूँदें पहाड़ पर गिरकर समुद्र में जाती हैं, फिर वाष्प होकर उठती हैं—पहाड़ पर पहुँचती हैं और नदी में लौट आती हैं। बस इस प्रकार उठते-गिरते हुए युग-चक्र चल रहा है। समस्त जीवन का यही नियम है—समस्त अस्तित्व जो हम देखते, सोचते, सुनते और कल्पना करते हैं, जो कुछ हमारे ज्ञान की सीमा के भीतर है, वह सब इसी प्रकार चल रहा है, ठीक जैसे मनुष्य के शरीर में श्वास-प्रश्वास। अतएव समस्त सृष्टि इसी प्रकार चल रही है। एक तरंग उठती है, एक गिरती है, फिर उठकर पुनः गिरती है। प्रत्येक उठती हुई तरंग के साथ एक पतन है, प्रत्येक पतन के साथ एक उठती हुई तरंग है। समस्त ब्रह्माण्ड समप्रणालीक होने के कारण, सर्वत्र एक ही नियम लागू होगा। अतएव हम देखते हैं कि समस्त ब्रह्माण्ड एक समय अपने कारण में लय

होने को बाध्य है; सूर्य, चन्द्र, ग्रह, तारे, पृथ्वी, मन, शरीर, जो कुछ इस ब्रह्माण्ड में है, सब-का-सब अपने सूक्ष्म कारण में लीन अथवा तिरोभूत हो जायगा, आपाततः विनष्ट हो जायगा। पर वास्तव में वे सब अपने कारण में सूक्ष्म रूप से रहेंगे। वे पुनः उससे बाहर निकलेंगे और पुनः पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, यहाँ तक कि समस्त जगत् की सृष्टि होगी।

इस उत्थान और पतन के सम्बन्ध में और भी एक विषय जानने का है। वृक्ष से बीज होता है। किन्तु वह उसी समय फिर वृक्ष नहीं हो जाता। उसको कुछ विश्राम अथवा अति सूक्ष्म अव्यक्त कार्य के समय की आवश्यकता होती है। बीज को कुछ दिन तक मिट्टी के नीचे रहकर कार्य करना पड़ता है। उसे अपने आपको खण्ड-खण्ड कर देना होता है, मानो अपने को कुछ अवनत करना पड़ता है और इसी अवनति से उसकी फिर उन्नति होती है। इसी प्रकार इस समस्त ब्रह्माण्ड को भी कुछ समय तक अदृश्य, अव्यक्त भाव से, सूक्ष्म रूप से कार्य करना होता है, जिसे प्रलय अथवा सृष्टि के पूर्व की अवस्था कहते हैं, उसके बाद फिर से सृष्टि होती है। जगत्-प्रवाह के एक बार प्रकाशित होने को—अर्थात् उसकी सूक्ष्म रूप में परिणति, कुछ दिन तक उसी अवस्था में स्थिति और फिर से उसके आविर्भाव को एक कल्प कहते हैं। समस्त ब्रह्माण्ड इसी प्रकार कल्पों से चला आ रहा है। बृहत्तम ब्रह्माण्ड से लेकर उसके अन्तर्गत प्रत्येक परमाणु तक सभी वस्तुएँ इसी प्रकार तरंगाकार में चलती रहती हैं।

अब एक जटिल प्रश्न उपस्थित होता है—विशेषतः वर्तमान काल के लिए। हम देखते हैं कि सूक्ष्मतर रूप धीरे-धीरे

व्यक्त हो रहे हैं, क्रमशः स्थूल से स्थूलतर होते जा रहे हैं। हम देख चुके हैं कि कारण और कार्य अभिन्न हैं—कार्य केवल कारण का रूपान्तर मात्र है। अतएव यह समुदय ब्रह्माण्ड शून्य में से उत्पन्न नहीं हो सकता। बिना किसी कारण के वह नहीं आ सकता; इतना ही नहीं, कारण ही कार्य के भीतर सूक्ष्म रूप से वर्तमान है। तब यह ब्रह्माण्ड किस वस्तु से उत्पन्न हुआ है? पूर्ववर्ती सूक्ष्म ब्रह्माण्ड से। मनुष्य किस वस्तु से उत्पन्न हुआ है? पूर्ववर्ती सूक्ष्म रूप से। वृक्ष कहाँ से आया? बीज से। समूचा वृक्ष बीज में वर्तमान था—वह केवल व्यक्त हो गया है। अतएव यह जगत्-ब्रह्माण्ड अपनी ही सूक्ष्मावस्था से उत्पन्न हुआ है। अब वह व्यक्त मात्र हो गया है। वह फिर से अपने सूक्ष्म रूप में चला जायगा, फिर से व्यक्त होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूक्ष्म रूप व्यक्त होकर स्थूल से स्थूलतर होता जाता है, जब तक कि वह स्थूलता की चरम सीमा तक नहीं पहुँच जाता; चरम सीमा पर पहुँचकर वह फिर उलटकर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होने लगता है। यह सूक्ष्म से आविर्भाव, क्रमशः स्थूल से स्थूलतर में परिणति—मानो केवल उसके अंशों का अवस्था-परिवर्तन है। बस इसी को आजकल 'क्रमविकासवाद' कहते हैं। यह बिलकुल सत्य है—सम्पूर्ण रूप से सत्य है; हम अपने जीवन में यह देख रहे हैं। इन क्रमविकासवादियों के साथ किसी भी विचारशील व्यक्ति के विवाद की सम्भावना नहीं। पर हमें और भी एक बात जाननी पड़ेगी—वह यह कि प्रत्येक क्रमविकास के पूर्व एक क्रमसंकोच की प्रक्रिया वर्तमान रहती है। बीज वृक्ष का जनक अवश्य है, परन्तु एक और वृक्ष उस बीज का जनक है। बीज ही वह सूक्ष्म रूप है, जिसमें से

बृहत् वृक्ष निकलता है, और एक दूसरा प्रकाण्ड वृक्ष था, जो इ
बीज में क्रमसंकुचित रूप में वर्तमान है। सम्पूर्ण वृक्ष इसी बीज
में विद्यमान है। शून्य में से कोई वृक्ष उत्पन्न नहीं हो सकता
हम देखते हैं कि वृक्ष बीज से उत्पन्न होता है और विशे
प्रकार के बीज से विशेष प्रकार का ही वृक्ष उत्पन्न होता है
दूसरा वृक्ष नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि उस वृक्ष का
कारण यह बीज है—केवल यही बीज; और इस बीज में सम्पूर्ण
वृक्ष रहता है। समूचा मनुष्य इस एक जीवाणु के भीतर है,
और यह जीवाणु धीरे-धीरे अभिव्यक्त होकर मानवाकार में
परिणत हो जाता है। सारा ब्रह्माण्ड सूक्ष्म ब्रह्माण्ड में रहता
है। सभी कुछ अपने कारण में, अपने सूक्ष्म रूप में रहता
है। अतएव 'क्रमविकास'-वाद—स्थूल से स्थूलतर रूप में
क्रमाभिव्यक्ति—बिलकुल सत्य है। पर इसके साथ ही यह भी
समझना होगा कि प्रत्येक क्रमविकास के पूर्व क्रमसंकोच की एक
प्रक्रिया रहती है; अतएव जो क्षुद्र अणु बाद में महापुरुष हुआ,
वह वास्तव में उसी महापुरुष की क्रमसंकुचित अवस्था है, वही
बाद में महापुरुष-रूप में क्रमविकसित हो जाता है। यदि यह
सत्य हो, तो फिर क्रमविकासवादियों (Followers of Darwin's
Evolution) के साथ हमारा कोई विवाद नहीं, क्योंकि हम
क्रमशः देखेंगे कि यदि वे लोग इस क्रमसंकोच की प्रक्रिया को
स्वीकार कर लें, तो वे धर्म के नाशक न हो उसके प्रबल सहायक
हो जायँगे।

अब तक हमने देखा कि शून्य से किसी भी वस्तु की
उत्पत्ति नहीं हो सकती। सभी वस्तुएँ अनन्त काल से हैं और
अनन्त काल तक रहेंगी। केवल तरंगों की भाँति वे एक बार

उठती है, फिर गिरती है। एक बार सूक्ष्म, अव्यक्त रूप में जाना, फिर स्थूल, व्यक्त रूप में आना—सारी प्रकृति में यह क्रमसंकोच और क्रमविकास की क्रिया चल रही है। अतएव समस्त ब्रह्माण्ड प्रकाशित होने के पूर्व अवश्य क्रमसंकुचित अथवा अव्यक्त अवस्था में था, अब वह विभिन्न रूपों में व्यक्त हुआ है—और पुनः क्रमसंकुचित होकर अव्यक्त रूप धारण कर लेगा। उदाहरणार्थ, एक क्षुद्र उद्भिद् का जीवन लीजिए। हम देखते हैं कि दो वस्तुएँ मिलकर इसको एक अखण्ड वस्तु के रूप में प्रतीत कराती हैं—उसकी उत्पत्ति और विकास, तथा उसका क्षय और विनाश। ये दोनों मिलकर उद्भिद्-जीवन नामक इस एकत्व का निर्माण करते हैं। इस उद्भिद्-जीवन को प्राण-शृंखला की एक कड़ी मानकर हम सभी वस्तुओं की एक प्राण-प्रवाह के रूप में कल्पना कर सकते हैं, जिसका आरम्भ जीवाणु से है और अन्त पूर्ण-मानव में। मनुष्य इस शृंखला की एक कड़ी है; और जैसा कि क्रमविकासवादी लोग कहते हैं, नाना प्रकार के वानर, अन्य छोटे-छोटे प्राणी एवं उद्भिद् इस प्राण-शृंखला की अन्यान्य कड़ियाँ हैं। अब जिस क्षुद्रतम खण्ड से हमने आरम्भ किया था, उससे लेकर उच्चतम—पूर्ण मानव—तक को एक प्राण-प्रवाह के रूप में लो, और प्रत्येक क्रमविकास के पूर्व क्रमसंकोच की क्रिया रहती है इस नियम को यहाँ पर लगाओ, तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि अति क्षुद्र जन्तु से लेकर सर्वोच्च पूर्णतम मनुष्य पर्यन्त सम्पूर्ण श्रेणी अवश्य किसी अन्य वस्तु का क्रमसंकोच होगी। किसका क्रमसंकोच होगी? यही प्रश्न है। कौन-सा पदार्थ क्रमसंकुचित हुआ था? क्रमविकासवादी लोग कहेंगे कि तुम्हारी ईश्वर सम्बन्धी धारणा भूल है। कारण, तुम लोग कहते

हो कि चैतन्य ही जगत् का स्रष्टा है, पर हम तो प्रतिदिन देखते हैं कि चैतन्य बहुत बाद में आता है। मनुष्य अथवा उच्चतर जन्तुओं में ही हम चैतन्य देखते हैं, पर इस चैतन्य का जन्म होने से पूर्व इस जगत् में लाखों वर्ष बीत चुके हैं। जो भी हो, आप इन क्रमविकासवादियों की बातों से डरिए मत, आपने अभी जो नियम आविष्कृत किया है, उसका प्रयोग करके देखिए—क्या सिद्धान्त निकलता है? आपने देखा है कि बीज से ही वृक्ष का उद्भव है और बीज में ही उसकी परिणति। इसलिए आरम्भ और अन्त समान हुए। पृथ्वी की उत्पत्ति उसके कारण से है और उस कारण में ही उसका विलय है। सभी वस्तुओं के सम्बन्ध में यही बात है—हम देखते हैं कि आदि और अन्त दोनों समान हैं। इस शृंखला का अन्त कहाँ है? हम जानते हैं कि आरम्भ जान लेने पर हम अन्त भी जान सकते हैं। इसी प्रकार अन्त जान लेने पर आदि भी जाना जा सकता है। इस समस्त 'क्रमविकासशील' जीव-प्रवाह को, जिसका एक छोर जीवाणु है और दूसरा पूर्ण-मानव, एक ही वस्तु के रूप में लो। इस श्रेणी के अन्त में हम पूर्ण-मानव को देखते हैं, अतएव आदि में भी वह होगा ही—यह निश्चित है। अतएव यह जीवाणु अवश्य उच्चतम चैतन्य की क्रमसंकुचित अवस्था है। आप इसको स्पष्ट रूप से भले ही न देख सकें, पर वास्तव में यह क्रमसंकुचित चैतन्य ही अपने को अभिव्यक्त कर रहा है और इसी प्रकार अपने को अभिव्यक्त करता रहेगा, जब तक वह पूर्णतम मानव के रूप में अभिव्यक्त न हो जायगा।

यह तत्त्व गणित के द्वारा निश्चित रूप से प्रमाणित किया जा सकता है। यदि शक्तिसातत्य का नियम (Law of Conser-

ration of Energy) सत्य हो, तो यह अवश्य मानना पड़ेगा
के यदि तुम किसी यंत्र में पहले से कोई शक्ति न डालो, तो
ससे तुम कोई काम प्राप्त न कर सकोगे। एंजिन में पानी व
ोयले के रूप में जितनी शक्ति डालोगे, ठीक उसी परिमाण में
म्हें उसमें से शक्ति मिल सकती है, उससे थोड़ीसी भी कम या
धिक नहीं। मैंने अपनी देह में वायु, खाद्य और अन्यान्य पदार्थों
रूप में जितनी शक्ति का प्रयोग किया है, बस उतने ही
रिमाण में मैं कार्य करने में समर्थ होऊँगा। ये शक्तियाँ अपना
प मात्र बदल लेती हैं। इस विश्व-ब्रह्माण्ड में हम जड़ का एक
रमाणु या शक्ति का एक क्षुद्र अंश भी घटा-बढ़ा नहीं सकते।
दि ऐसा हो, तो फिर यह चैतन्य है क्या चीज? यदि वह
ोवाणु में वर्तमान न हो, तो यह मानना पड़ेगा कि उसकी
पत्ति अवश्य आकस्मिक है—तब तो, साथ ही, हमें यह भी
ीकार करना होगा कि असत् (कुछ नहीं) से सत् (कुछ)
 उत्पत्ति होती है। पर यह बिलकुल असम्भव है। अतएव यह
त निस्सन्दिग्ध रूप से प्रमाणित होती है कि—जैसा हम
यान्य विषयों में देखते हैं—जहाँ से आरम्भ होता है, अन्त भी
ही होता है; पर हाँ, कभी वह अव्यक्त रहता है और कभी
क्त। बस इसी प्रकार वह पूर्ण-मानव, मुक्त पुरुष, देव-मानव—
प्रकृति के नियमों से बाहर चला गया है, जो सबके अतीत
गया है, जिसे इस जन्म-मृत्यु के चक्र में पुनः नहीं पड़ना
ता, जिसे ईसाई ईसा-मानव, बौद्ध बुद्ध-मानव और योगी
त पुरुष कहते हैं—इस श्रृंखला का एक छोर है और वही
संकुचित होकर उसके दूसरे छोर में जीवाणु के रूप में
ाशित है।

अब यह आलोचना की जाय कि इस ब्रह्माण्ड के कारण के सम्बन्ध में क्या सिद्धान्त है। इस जगत् का अन्तिम परिणाम क्या है?—चैतन्य। संसार की सबसे आखिरी वस्तु है चैतन्य। और जब क्रमविकासवादियों के मतानुसार यह चैतन्य सृष्टि की अन्तिम वस्तु हुई, तो फिर चैतन्य ही सृष्टि का नियन्ता—सृष्टि का कारण—होगा। जगत् के विषय में मानव की चरम धारणा क्या हो सकती है? यही कि जगत् का एक भाग दूसरे भाग से सम्बन्धित है और प्रत्येक जागतिक वस्तु में ज्ञान की क्रिया का विकास है। प्राचीन 'उद्देश्यवाद' (Design Theory) इसी धारणा का अस्फुट आभास है। हम जड़वादियों के साथ यह मानने को तैयार हैं कि चैतन्य ही जगत् की अन्तिम वस्तु है—सृष्टि-क्रम में यही अन्तिम विकास है, पर साथ ही हम यह भी कहते हैं कि यदि यह अन्तिम विकास हो, तो आरम्भ में भी यही वर्तमान था। जड़वादी कह सकते हैं, 'अच्छा, ठीक है, पर मनुष्य के जन्म के पहले तो लाखों वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, उस समय तो ज्ञान का कोई अस्तित्व न था।' इस पर हमारा उत्तर है—हाँ, व्यक्त रूप में चैतन्य नहीं था, लेकिन अव्यक्त रूप में यह अवश्य विद्यमान था, और यह तो एक मानी हुई बात है कि पूर्णमानव-रूप में प्रकाशित चैतन्य ही सृष्टि का अन्त है। तो फिर आदि क्या होगा? आदि भी चैतन्य ही होगा। पहले वह चैतन्य क्रमसंकुचित होता है, अन्त में वही फिर क्रमविकसित होता है। अतएव इस जगत्-ब्रह्माण्ड में जो सब ज्ञानराशि अब अभिव्यक्त हो रही है, उसकी समष्टि अवश्य उस क्रमसंकुचित, सर्वव्यापी चैतन्य की ही अभिव्यक्ति है। इसी सर्वव्यापी, विश्वजनीन ५ का नाम है ईश्वर। उसको फिर किसी भी नाम से

ों न पुकारो, इतना तो निश्चित है कि आदि में वही अनन्त त्व्यापी चैतन्य था। वह विश्वजनीन चैतन्य क्रमसंकुचित ा था, और वही अपने को क्रमशः अभिव्यक्त कर रहा है, ' तक कि वह पूर्ण-मानव या ईसा-मानव या बुद्ध-मानव में णत नहीं हो जाता। तब वह फिर से अपने उत्पत्ति-स्थान लौट जायगा। इसी लिए सभी शास्त्र कहते हैं, "हम उनमें वेत हैं, उनमें ही रहकर चलते हैं, उन्हीं में हमारी सत्ता " इसी लिए सभी शास्त्र घोषणा करते हैं, "हम ईश्वर से (है, फिर उन्हीं में लौट जायँगे।" विभिन्न परिभाषाओं रत डरिए, यदि परिभाषा से ही डरने लगे, तो फिर आप ानिक न बन सकेंगे। ब्रह्मवादी इस विश्वव्यापी चैतन्य को ईश्वर कहते हैं।

कइयों ने मुझसे अनेक बार पूछा है, "आप क्यों इस ने 'ईश्वर' (God) शब्द का व्यवहार करते हैं?" तो ा उत्तर यह है कि पूर्वोक्त विश्वव्यापी चैतन्य को समझाने लेए जितने शब्दों का व्यवहार किया जा सकता है, उनमें सर्वोत्तम है। इससे अच्छा और कोई शब्द नहीं मिल ता, क्योंकि मनुष्य की सारी आशाएँ और सुख इसी एक ं में केन्द्रित हैं। अब इस शब्द को बदलना असम्भव है। प्रकार के शब्द पहले-पहल बड़े-बड़े साधु-महात्माओं द्वारा गए थे और वे इन शब्दों का तात्पर्य अच्छी तरह समझते धीरे-धीरे जब समाज में उन शब्दों का प्रचार होने लगा, अज्ञ लोग भी उन शब्दों का व्यवहार करने लगे। इसका णाम यह हुआ कि शब्दों की महिमा घटने लगी। स्मरणातीत ः से 'ईश्वर' शब्द का व्यवहार होता आया है। सर्वव्यापी

चैतन्य का भाव तथा जो कुछ महान् और पवित्र है, सब इसी शब्द में निहित है। यदि कोई मूर्ख इस शब्द का व्यवहार करने में आपत्ति करता हो, तो क्या इसी लिए हमें इस शब्द को त्याग देना होगा? एक दूसरा व्यक्ति भी आकर कह सकता है—'मेरे इस शब्द को लो।' फिर तीसरा भी अपना एक शब्द लेकर आयगा। यदि यही क्रम चलता रहा, तो ऐसे व्यर्थ शब्दों का कोई अन्त न होगा। इसी लिए मैं कहता हूँ कि उस पुराने शब्द का ही व्यवहार करो; मन से कुसंस्कारों को दूर कर, इस महान् प्राचीन शब्द के अर्थ को ठीक तरह से समझकर, उसका और भी उत्तम रूप से व्यवहार करो। यदि आप लोग समझते हों कि भाव-साहचर्य-विधान (Law of Association of Ideas) किसे कहते हैं, तो आपको पता चलेगा कि इस शब्द के साथ कितने ही महान् ओजस्वी भावों का संयोग है, लाखों मनुष्यों ने इस शब्द का व्यवहार किया है, करोड़ों आदमियों ने इस शब्द की पूजा की है और जो कुछ सर्वोच्च व सुन्दरतम है, जो कुछ युक्तियुक्त, प्रेमास्पद और मानवी भावों में महान् व सुन्दर है, यह समस्त इस शब्द से सम्बन्धित है। अतएव यह इन सब भावनाओं को उद्दीपना करा देनेवाला कारण है, इसलिए इसका त्याग नहीं किया जा सकता। जो भी हो, यदि मैं आप लोगों को केवल यह कहकर समझाने की चेष्टा करता कि ईश्वर ने जगत् की सृष्टि की है, तो आप लोगों के निकट उसका कोई अर्थ न होता। फिर भी इस सब विचार आदि के बाद हम उस प्राचीन पुरुष के ही पास पहुँचे।

तो हमने अब क्या देखा? यही कि जड़, शक्ति, मन, चैतन्य या अन्य दूसरे नामों से परिचित विभिन्न जागतिक शक्तियाँ

उस विश्वव्यापी चैतन्य की ही अभिव्यक्ति हैं। जो कुछ आप देखते हैं, सुनते हैं या अनुभव करते हैं, सब उसी की सृष्टि है—ठीक कहें, तो उसी का परिणाम है; और भी ठीक कहें, तो सब कुछ स्वयं प्रभु ही है। सूर्य और ताराओं के रूप में वही उज्ज्वल भाव से विराज रहा है, वही धरतीमाता है, वही समुद्र है। वही बादलों के रूप में बरसता है, वही मृदु पवन है जिससे हम साँस लेते हैं, वही शक्ति बनकर हमारे शरीर में कार्य कर रहा है। वही भाषण है, भाषणदाता है, फिर सुननेवाला भी वही है। वही यह मंच है, जिस पर मैं खड़ा हूँ, वही यह आलोक है, जिससे मैं तुम्हें देख पा रहा हूँ; यह समस्त वह ही है। वह जगत् का उपादान और निमित्त कारण है, क्रमसंकुचित होकर वही अणु का रूप धारण करता है, फिर वही क्रमविकसित होकर पुनः ईश्वर बन जाता है। वही धीरे-धीरे अवनत होकर सूक्ष्मतम परमाणु हो जाता है, फिर वही धीरे-धीरे अपना स्वरूप प्रकाशित करता हुआ अन्त में पुनः अपने साथ युक्त हो जाता है—बस यही जगत् का रहस्य है। "तुम्हीं पुरुष हो, तुम्हीं स्त्री हो, यौवन के गर्व से भरे हुए भ्रमणशील नवयुवक भी तुम्हीं हो, फिर तुम ही बुढ़ापे में लाठी के सहारे लड़खड़ाते हुए मनुष्य हो, तुम्हीं समस्त वस्तुओं में हो, हे प्रभो! तुम्हीं सब कुछ हो।" जगत्-प्रपंच की केवल इसी व्याख्या से मानव-युक्ति—मानव-बुद्धि परितृप्त होती है। सारांश यह कि हम उसी से जन्म लेते हैं, उसी में जीवित रहते हैं और उसी में लौट जाते हैं।

जगत्

अन्तर्जगत्

स्वभाव से ही मनुष्य का मन बाहर जाना चाहता है, मानो वह इन्द्रिय-प्रणालियों के द्वारा शरीर के बाहर झाँकना चाहता हो। आँखें अवश्य देखेंगी, कान अवश्य सुनेंगे, इन्द्रियाँ अवश्य बाहरी जगत् को प्रत्यक्ष करेंगी। इसी लिए स्वभावतः प्रकृति का सौन्दर्य और महिमा मनुष्य की दृष्टि को एकदम आकृष्ट कर लेती है। मनुष्य ने पहले-पहल बहिर्जगत् के बारे में प्रश्न उठाया था—आकाश, नक्षत्रपुंज, नभोमण्डल के अन्यान्य पदार्थसमूह, पृथ्वी, नदी, पर्वत, समुद्र आदि वस्तुओं के विषय में प्रश्न किए गए थे। प्रत्येक प्राचीन धर्म में हमें इसका कुछ-न-कुछ परिचय मिलता ही है। पहले-पहल मानव-मन अन्धकार में टटोलता हुआ बाहर में जो कुछ देख पाता था, उसी को पकड़ने की चेष्टा करता था। इसी तरह उसने नदी का एक अधिष्ठाता देवता, आकाश का अन्य अधिष्ठातृ-देवता, मेघ तथा वर्षा का एक दूसरा अधिष्ठाता देवता मान लिया। जिनको हम प्रकृति की शक्ति के नाम से जानते हैं, वे ही सचेतन पदार्थ में परिणत हो गईं। किन्तु इस प्रश्न की जितनी अधिक गहराई से खोज होने लगी, इन बाह्य देवताओं से मानव के मन को उतनी ही अतृप्ति होने लगी। तब मानव की सारी शक्ति उसके अपने अन्दर प्रवाहित होने लगी—उसकी अपनी आत्मा के सम्बन्ध में प्रश्न होने लगे। बहिर्जगत् से यह प्रश्न अन्तर्जगत् में आ पहुँचा। बहिर्जगत् का विश्लेषण हो जाने पर मनुष्य ने अन्तर्जगत् का विश्लेषण करना शुरू किया। यह भीतरी मनुष्य के सम्बन्ध में

प्रश्न उच्चतर सभ्यता से आता है, प्रकृति के विषय में गम्भीर अन्तर्दृष्टि से आता है, उन्नति के उच्चतम सोपान पर आरूढ़ होने से आता है।

यह अन्तर्मानव ही आज हमारी आलोचना का विषय है। अन्तर्मानव सम्बन्धी यह प्रश्न मनुष्य को जितना प्रिय है तथा उसके हृदय के जितना निकट है, उतना और कुछ नहीं। कितनी बार, कितने देशों में यह प्रश्न पूछा गया है। चाहे वह अरण्यवासी संन्यासी हो, चाहे राजा, प्रजा, अमीर, गरीब, साधु या पापी— सभी नर-नारियों के मन में यह प्रश्न एक बार अवश्य उठ खड़ा हुआ है कि इस क्षणभंगुर मानव-जीवन में क्या कुछ भी शाश्वत नहीं है? इस शरीर का अन्त होने पर क्या ऐसा कुछ नहीं है, जो नहीं मरता? जब यह देह धूल में मिल जाती है, तब क्या ऐसा कुछ नहीं रहता, जो जीवित रहता हो? अग्नि से शरीर भस्मसात् हो जाने पर क्या कुछ भी शेष नहीं रहता? यदि रहता है, तो उसकी नियति क्या है? वह जाता कहाँ है? कहाँ से वह आया था? ये प्रश्न बार-बार पूछे गए हैं और जब तक यह सृष्टि रहेगी, जब तक मानव-मस्तिष्क की चिन्तन-क्रिया बन्द नहीं होगी, तब तक यह प्रश्न पूछा ही जायगा। इससे आप लोग यह न समझें कि इसका उत्तर कभी मिला ही नहीं; जब कभी यह प्रश्न पूछा गया, तभी इसका उत्तर मिला है, और जैसे-जैसे समय बीतता जायगा, वैसे-वैसे इसका उत्तर अधिकाधिक बल संग्रह करता जायगा। वास्तव में तो, हजारों वर्ष पहले ही इस प्रश्न का निश्चित उत्तर दे दिया गया था, और तब से अब तक वही उत्तर दुहराया जा रहा है, उसी को विशद और स्पष्ट करके हमारी बुद्धि के समक्ष

उत्तरोत्तर रूप से रसा भर जा रहा है। अतएव हमें उस उद्गार को फिर से एक बार दुहरा भर देना है। हम इन सर्वव्यापी समस्याओं पर एक नया आलोक डालने का दम्भ नहीं भरते। हम तो चाहते हैं कि वर्तमान युग की भाषा में हम इस सनातन, महान् सत्य को प्रकाशित करें, प्राचीन लोगों के विचार हम आधुनिकों की भाषा में व्यक्त करें, दार्शनिकों के विचार लौकिक भाषा में प्रकट करें, देवताओं के विचार मनुष्यों की भाषा में कहें, ईश्वर के विचार मानव की दुर्बल भाषा में बोलें, ताकि लोग उन्हें समझ सकें। क्योंकि हम बाद में देखेंगे कि जिस ईश्वरीय सत्ता से ये सब भाव निकले हैं, वह मनुष्य में भी वर्तमान है—जिस सत्ता ने इन विचारों की सृष्टि की है, वही मनुष्य में प्रकाशित होकर स्वयं इन्हें समझेगी।

मैं तुम लोगों को देख रहा हूँ। इस दर्शन-क्रिया (perception) के लिए किन-किन बातों की आवश्यकता होती है? पहले तो आँख—आँखें रहनी ही चाहिए। मेरी अन्यान्य इन्द्रियाँ भले ही अच्छी रहें, पर यदि मेरी आँखें न हों, तो मैं तुम लोगों को न देख सकूँगा। अतएव पहले मेरी आँखें अवश्य रहनी चाहिए। दूसरे, आँखों के पीछे और कुछ रहने की आवश्यकता है, और वही असल में दर्शनेन्द्रिय है। यह यदि हममें न हो, तो दर्शन-क्रिया असम्भव है। वस्तुतः आँखें इन्द्रिय नहीं हैं, वे तो दर्शन करने के यंत्र मात्र हैं। यथार्थ इन्द्रिय चक्षु के पीछे है—वह मस्तिष्क में अवस्थित स्नायु-केन्द्र है। यदि यह केन्द्र किसी प्रकार नष्ट हो जाय, तो स्वच्छ चक्षुद्वय रहते हुए भी मनुष्य कुछ देख न सकेगा। अतएव दर्शन-क्रिया के लिए इस प्रकृत इन्द्रिय का अस्तित्व नितान्त आवश्यक है। हमारी अन्यान्य

इन्द्रियों के बारे में ठीक ऐसा ही है। बाहर के कान आवाज को भीतर ले जाने के यन्त्र मात्र हैं, आवाज को मस्तिष्क-स्थित केन्द्र में पहुँचना चाहिए। पर इतने से ही श्रवण-क्रिया पूर्ण नहीं हो जाती। कभी-कभी ऐसा होता है कि पुस्तकालय में बैठकर तुम ध्यान से कोई पुस्तक पढ़ रहे हो, घड़ी में बारह बजने की आवाज होती है, पर तुम्हें वह सुनाई नहीं देती। क्यों? तुम क्यों नहीं सुन पाए? यहाँ किस चीज की कमी थी? इस इन्द्रिय के साथ मन का योग नहीं था। अतएव हम देखते हैं कि मन का रहना भी नितान्त आवश्यक है। पहले चाहिए वहिर्यन्त्र, यह वहिर्यन्त्र मानो विषय को वहन कर इन्द्रिय के निकट ले जाता है; फिर उस इन्द्रिय के साथ मन को युक्त रहना चाहिए। जब मस्तिष्क में अवस्थित इन्द्रिय से मन का योग नहीं रहता, तब कर्ण-यन्त्र और मस्तिष्क के केन्द्र पर भले ही कोई विषय आकर टकराए, पर हमें उसका अनुभव न होगा। मन भी केवल वाहक है, उसे इस विषय की संवेदना को और भी भीतर वहन कर बुद्धि को प्रदान करना पड़ता है। बुद्धि उसके सम्बन्ध में निश्चय करती है, पर इतने से ही नहीं हुआ। बुद्धि को उसे फिर और भी भीतर ले जाकर शरीर के राजा आत्मा के पास पहुँचाना पड़ता है। उसके पास पहुँचने पर वह आदेश देती है, "हाँ, यह करो" या "मत करो"। तब जिस क्रम से वह विषय-संवेदना भीतर गई थी, ठीक उसी क्रम से वह वहिर्यन्त्र में आती है-- पहले बुद्धि में, उसके बाद मन में, फिर मस्तिष्क-केन्द्र में और अन्त में वहिर्यन्त्र में; तभी विषय-ज्ञान की क्रिया पूरी होती है।

ये सब यन्त्र मनुष्य की स्थूल देह में अवस्थित हैं, पर मन और बुद्धि नहीं। मन और बुद्धि तो उसमें हैं, जिसे हिन्दू-शास्त्र

में सूक्ष्म शरीर कहते हैं और ईसाई-शास्त्र में आध्यात्मिक शरीर यह इस स्थूल शरीर से अलग बहुत ही सूक्ष्म है, परन्तु फिर भी यह आत्मा नहीं है। आत्मा इन सबके अतीत है। कुछ दिनों में ही स्थूल शरीर का अन्त हो जाता है—किसी मामूली कारण से ही उसके भीतर गड़बड़ी पैदा हो जाती है और वह नष्ट हो जा सकता है। पर सूक्ष्म शरीर इतनी आसानी से नष्ट नहीं होता, फिर भी वह कभी सबल और कभी दुर्बल होता रहता है। हम देखते हैं कि बूढ़े लोगों में मन का उतना जोर नहीं रहता। फिर, शरीर में बल रहने से मन भी सबल रहता है; विविध औषधियाँ मन पर अपना प्रभाव डालती हैं। बाहर की वस्तुएँ उस पर अपना प्रभाव डालती हैं, और वह भी बाह्य जगत् पर अपना प्रभाव डालता है। जैसे शरीर में उन्नति और अवनति होती है, वैसे ही मन भी कभी सबल और कभी निर्बल हो जाता है; अतः मन कभी आत्मा नहीं हो सकता; क्योंकि आत्मा कोई मिश्र पदार्थ नहीं है और इसलिए क्षयरहित है। यह हम कैसे जान सकते हैं? हम कैसे जान सकते हैं कि मन के पीछे और भी कुछ है? स्वप्रकाश (self-luminous) ज्ञान कभी जड़ का धर्म नहीं हो सकता। ऐसी कोई जड़ वस्तु नहीं, जिसका स्वरूप ज्ञान ही हो। जड़भूत स्वयं ही अपने को कभी प्रकाशित नहीं कर सकता। ज्ञान ही समस्त जड़ को प्रकाशित करता है। यह जो सामने हॉल (बड़ा कमरा) देख रहे हो, ज्ञान को ही इसका मूल कहना पड़ेगा, क्योंकि बिना किसी-न-किसी ज्ञान के सहारे हम उसका अस्तित्व अनुभव ही न कर सकते थे। यह शरीर स्वप्रकाश नहीं है—यदि वैसा होता, तो फिर मृत-शरीर भी स्वप्रकाश होता। मन अथवा आध्यात्मिक शरीर भी स्वप्रकाश

नहीं हो सकता। वह ज्ञानस्वरूप नहीं है। जो स्वप्रकाश है, उसका कभी ध्वंस नहीं होता। जो दूसरे के आलोक से आलोकित है, उसका आलोक कभी रहता है और कभी नहीं। पर जो स्वयं आलोकस्वरूप है, उसके आलोक का आविर्भाव-तिरोभाव, ह्रास या वृद्धि कैसी ? हम देखते हैं कि चन्द्रमा का क्षय होता है, फिर उसकी कला बढ़ती जाती है—क्योंकि वह सूर्य के आलोक से आलोकित है। यदि लोहे का गोला आग में डाल दिया जाय और लाल होते तक गरम किया जाय, तो उससे आलोक निकलता रहेगा; पर वह दूसरे का आलोक है, इसलिए वह शीघ्र ही लुप्त हो जायगा। अतएव उसी आलोक का क्षय होता है, जो स्वप्रकाश न हो, जो दूसरे से प्राप्त किया हुआ हो।

अब हमने देखा कि यह स्थूल देह स्वप्रकाश नहीं है, वह स्वयं अपने को नहीं जान सकती। मन भी स्वयं को नहीं जान सकता। क्यों ? इसलिए कि मन की शक्ति में ह्रास-वृद्धि होती रहती है—कभी उसमें बहुत जोर रहता है, तो कभी वह कमजोर हो जाता है। कारण, बाह्य वस्तुएँ उस पर अपना-अपना प्रभाव डालकर उसे शक्तिशाली भी बना सकती हैं और शक्तिहीन भी। अतएव मन के भीतर से जो आलोक आ रहा है, वह उसका निजी आलोक नहीं है। तब वह किसका है ? वह अवश्य ऐसे किसी का आलोक है, जिसके लिए वह उधार लिया हुआ आलोक नहीं है, जो किसी दूसरे आलोक का प्रतिबिम्ब भी नहीं है पर जो स्वयं आलोकस्वरूप है। अतएव वह आलोक या ज्ञान, उस पुरुष का स्वरूप होने के कारण, कभी नष्ट या क्षीण नहीं होता—वह न तो कभी बलवान हो सकता है, न कमजोर। वह स्वप्रकाश है—वह आलोकस्वरूप है। यह बात

नहीं कि 'आत्मा जानती है', वरन् वह तो ज्ञानस्वरूप है। यह नहीं कि आत्मा का अस्तित्व है, वरन् वह स्वयं अस्तित्वस्वरूप है। आत्मा सुखी है ऐसी बात नहीं, आत्मा तो सुखस्वरूप है। जो सुखी होता है, वह उस सुख को किसी दूसरे से प्राप्त करता है—वह अन्य किसी का प्रतिबिम्ब है। जिसके ज्ञान है, उसने अवश्य उस ज्ञान को किसी दूसरे से प्राप्त किया है, वह ज्ञान प्रतिबिम्बस्वरूप है। जिसका अस्तित्व है, उसका वह अस्तित्व दूसरे किसी के अस्तित्व पर निर्भर करता है। जहाँ कहीं गुण और गुणी का भेद है, वहाँ समझना चाहिए कि वे गुण गुणी में प्रतिबिम्बित हुए हैं। पर ज्ञान, अस्तित्व या आनन्द—ये आत्मा के गुण या धर्म नहीं हैं, वे तो आत्मा के स्वरूप हैं।

फिर, यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि हम इस बात को क्यों स्वीकार कर लें? हम यह क्यों स्वीकार कर लें कि आनन्द, अस्तित्व और स्वप्रकाशत्व आत्मा के स्वरूप हैं, आत्मा के धर्म नहीं? इसका उत्तर यह है कि हम पहले ही देख चुके हैं, मन के प्रकाश से शरीर प्रकाशित होता है। जब तक मन रहता है, तब तक उसका भी प्रकाश होता रहता है, जब मन लुप्त हो जाता है, तब इस देह का प्रकाश भी बन्द हो जाता है। आँखों से यदि मन चला जाय, तो तुम लोगों की ओर आँखें डालने पर भी मैं तुम्हें न देख पाऊँगा। यदि वह श्रवणेन्द्रिय से चला जाय, तो मैं जरासी आवाज भी न सुन पाऊँगा। यही हाल सभी इन्द्रियों के बारे में है। अतएव हम देखते हैं कि मन के प्रकाश से ही शरीर का प्रकाश है। मन के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है। बाहरी वस्तुएँ उस पर अपना-अपना प्रभाव डाल रही हैं, एक साधारण-से कारण से ही उसका परिवर्तन हो

सकता है, मस्तिष्क के भीतर कोई मामूली गड़बड़ी होने से ही उसमें परिवर्तन हो सकता है! अतएव मन भी स्वप्रकाश नहीं हो सकता, क्योंकि यह तो प्राकृतिक नियम है कि जो किसी वस्तु का स्वरूप होता है, उसका कभी कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। केवल जो अन्य वस्तु का धर्म है, जो दूसरे का प्रतिबिम्ब-स्वरूप है, उसी का परिवर्तन हुआ करता है। किन्तु प्रश्न पूछा जा सकता है—यह क्यों नहीं मान लेते कि आत्मा का प्रकाश, उसका ज्ञान और आनन्द भी उसी तरह दूसरे से लिए हुए हैं? इस तरह मान लेने से दोष यह होगा कि ऐसी स्वीकृति का फिर कहीं अन्त न होगा;—पुनः प्रश्न उठेगा कि इस आत्मा को फिर कहाँ से आलोक मिला? यदि कहो कि दूसरी किसी आत्मा से मिला, तो फिर इस दूसरी आत्मा ने ही कहाँ से वह आलोक प्राप्त किया? अतएव, अन्त में हमें ऐसे एक स्थान पर रुकना होगा, जिसका आलोक दूसरे से नहीं आया है। इसलिए इस विषय में न्यायसंगत सिद्धान्त यही है कि जहाँ पहले ही स्वप्रकाशत्व दिखाई दे, बस वहीं रुक जाना, और अधिक आगे न बढ़ना।

अतएव हमने देखा कि पहले मनुष्य की यह स्थूल देह है, उसके पीछे सूक्ष्म शरीर है और उसके भी पश्चात् मनुष्य का प्रकृत स्वरूप—आत्मा—विद्यमान है। हमने देखा है कि स्थूल देह की सारी शक्तियाँ मन से प्राप्त होती हैं और स्वयं मन आत्मा के आलोक से आलोकित है।

अब आत्मा के स्वरूप के बारे में विविध प्रश्न उठते हैं। आत्मा स्वप्रकाश है, सच्चिदानन्द ही आत्मा का स्वरूप है, इस युक्ति से यदि आत्मा का अस्तित्व मान लिया जाय, तो

स्वभावतः ही यह प्रमाणित होता है कि वह शून्य से पैदा नहीं हो सकती। जो स्वप्रकाश है, जो अन्य-वस्तु-निरपेक्ष है, वह कभी शून्य से उत्पन्न नहीं हो सकता। हमने देखा है कि यह जड़जगत् भी शून्य से नहीं आया है—तो फिर आत्मा की बात ही क्या? अतएव सर्वदा ही उसका अस्तित्व था। ऐसा समय कभी न था, जब उसका अस्तित्व न था; क्योंकि यदि तुम कहो कि एक समय आत्मा का अस्तित्व नहीं था, तो प्रश्न यह है कि उस समय फिर काल कहाँ अवस्थित था? काल तो आत्मा के भीतर ही अवस्थित है। जब मन में आत्मा की शक्ति प्रतिबिम्बित होती है और मन चिन्तन-कार्य में लग जाता है, तभी काल की उत्पत्ति होती है। जब आत्मा नहीं थी, तो विचार भी नहीं था, और विचार न रहने से काल भी नहीं रह सकता। अतएव जब काल आत्मा में अवस्थित है, तब भला हम यह कैसे कह सकते हैं कि आत्मा काल में अवस्थित है? उसका न तो जन्म है, न मृत्यु, वह केवल विभिन्न स्तरों में से होते हुए आगे बढ़ रही है—धीरे-धीरे अपने को निम्नावस्था से उच्च-उच्च भावों में प्रकाशित कर रही है। मन के माध्यम से शरीर पर कार्य करके वह अपनी महिमा का विकास कर रही है, और शरीर से बहिर्जगत् का ग्रहण तथा अनुभव कर रही है। वह एक शरीर ग्रहण कर उसका उपयोग करती है; और जब उस शरीर के द्वारा और कोई कार्य होने की सम्भावना नहीं रहती, तब वह दूसरा शरीर ग्रहण कर लेती है।

अब आत्मा के पुनर्जन्म के बारे में प्रश्न आता है। पुनर्जन्म के नाम से लोग कभी-कभी डर जाते हैं, और कुसंस्कार ने उनमें इस तरह अपनी जड़ें जमा रखी हैं कि विचारशील व्यक्ति भी

विश्वास कर लेते हैं कि वे शून्य से पैदा हुए हैं, और फिर सहानुवित के साथ यह सिद्धान्त स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं कि यद्यपि हम शून्य से आए हैं, फिर भी हम चिरकाल तक रहेंगे। जो शून्य से आया है, वह अवश्य शून्य में ही मिल जायगा। हममें से कोई भी शून्य से नहीं आया, इसलिए हम शून्य में नहीं मिट जायँगे। हम अनन्त काल से विद्यमान हैं और रहेंगे, और विश्व-ब्रह्माण्ड में ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो हम लोगों का अस्तित्व मिटा सके। इस पुनर्जन्मवाद से हमें किसी तरह डरना नहीं चाहिए, क्योंकि वही तो मानव की नैतिक उन्नति का प्रधान सहायक है। चिन्तनशील व्यक्तियों का यही न्यायसंगत सिद्धान्त है। यदि भविष्य में चिरकाल के लिए तुम्हारा अस्तित्व रहना सम्भव हो, तो यह भी सच है कि अनादि-काल से तुम्हारा अस्तित्व था; इसके अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। इस मत के विरुद्ध कई आपत्तियाँ उठाई गई हैं, मैं उनका निराकरण करने की चेष्टा करूँगा। यद्यपि आपमें से अनेक इन आपत्तियों को साधारण-सी समझें, फिर भी हमें इनका उत्तर देना होगा, क्योंकि हम देखते हैं कि बड़े-बड़े चिन्तनशील व्यक्ति भी कभी-कभी बिलकुल बच्चों की-सी बातें किया करते हैं। लोग जो कहते हैं कि 'इतना कोई असंगत मत नहीं, जिसके समर्थन के लिए कोई दार्शनिक न मिले,' यह बिलकुल सच है। पहली शंका यह है कि हमें अपने जन्म-जन्मान्तर की बातें क्यों याद नहीं रहतीं? इस पर यह पूछा जा सकता है कि क्या इसी जन्म की सब बीती घटनाओं को हम याद रख सकते हैं? आपमें से कितनों को बचपन की घटनाएँ स्मरण हैं? किसी को नहीं। अतएव यदि अस्तित्व स्मृति-शक्ति पर निर्भर रहता

हो, तब तो कहना पड़ेगा कि बचपन में आपका अस्तित्व ही नहीं था, क्योंकि उस समय की कोई बात आपको याद नहीं है अतः यह कहना निरी मूर्खता है कि हम अपने पूर्वजन्म का अस्तित्व तभी स्वीकार करेंगे, यदि हम उसे स्मरण कर सकें। पूर्वजन्म की बातें भला क्यों हमारी स्मृति में रहें ? उस समय का मस्तिष्क अब नहीं है—वह बिलकुल नष्ट हो गया है और एक नए मस्तिष्क की रचना हुई है। अतीत-काल के संस्कारों का जो समष्टिभूत फल है, वही हमारे मस्तिष्क में आया है— उसी को लेकर मन हमारे इस शरीर में अवस्थित है।

मैं अभी जो कुछ हूँ, वह मेरे अनन्त अतीत-काल के कर्मों का फल है और भला मैं उस सारे अतीत का स्मरण क्यों करूँ? कुसंस्कारों का प्रभाव ही ऐसा है कि जो लोग पुनर्जन्मवाद नहीं मानते, वे ही फिर कहते हैं कि एक समय हम बन्दर थे ! तो फिर उन्हें उस मर्कट-जन्म का स्मरण क्यों नहीं है ? इस बात की खोज करने का वे साहस नहीं करते ! जब हम सुनते हैं कि प्राचीन काल के किसी साधु या ऋषि ने सत्य को प्रत्यक्ष किया है, तो हम कह देते हैं कि वह सब भूल है; परन्तु यदि कोई कहे कि यह हक्सले का मत है या यह टिण्डल ने बताया है, तो हम तुरन्त सारी बातें आँखें मीचकर गले के नीचे उतार लेते हैं ! प्राचीन कुसंस्कारों की जगह हम आधुनिक कुसंस्कार ले आए हैं, धर्म के प्राचीन पोप के बदले हमने विज्ञान के आधुनिक पोप को बिठा दिया है ! अतएव हमने देखा कि स्मृति-सम्बन्धी यह शंका खोखली है। और पुनर्जन्म के बारे में जो सब आपत्तियाँ उठाई जाती हैं, उनमें यही एकमात्र ऐसी है, जिस पर विज्ञ लोग चर्चा कर सकते हैं। यद्यपि हमने देखा कि

पुनर्जन्मवाद सिद्ध करने के लिए यह प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नहीं कि साथ ही स्मृति भी रहनी चाहिए, फिर भी हम दावे के साथ कह सकते हैं कि अनेकों में ऐसी स्मृति पाई है, और जिस जन्म में आप लोगों को मुक्तिलाभ होगा, उस जन्म में आप लोग भी ऐसी स्मृति के अधिकारी बन जायेंगे। तभी आपको मालूम होगा कि जगत् स्वप्न-सा है, तभी आप हृदय के अन्तस्तल से अनुभव करेंगे कि आप इस जगत् में नट मात्र हैं और यह जगत् एक रंगभूमि है, तभी प्रचण्ड वैराग्य का भाव आपके भीतर उदित होगा, तभी सारी भोग-वासनाएँ—जीवन के प्रति यह प्रगाढ़ ममता—यह संसार चिरकाल के लिए लुप्त हो जायगा। तब आप स्पष्ट देख पायेंगे कि जगत् में आप कितनी बार आए, कितने लाखों बार आपने माता, पिता, पुत्र, कन्या, स्वामी, स्त्री, बन्धु, ऐश्वर्य, शक्ति आदि लेकर जीवन काटा। यह सब कितनी बार आया और कितनी बार गया! कितनी बार आप संसार-तरंग के सर्वोच्च शिखर पर चढ़े और कितनी बार नैराश्य के अतल गर्त में समा गए। जब स्मृति यह सब आपके मन में ला देगी, तभी आप वीर-से खड़े हो सकेंगे और संसार के कटाक्षों को हँसकर उड़ा सकेंगे। तभी वीर की भाँति खड़े होकर आप कह सकेंगे, "मृत्यु, तुझसे मैं जरा भी नहीं डरता, क्यों तू व्यर्थ मुझे डराने की चेष्टा कर रहा है?" जब आप जान जायेंगे कि आप पर मृत्यु का कोई प्रभाव नहीं है, तभी आप मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकेंगे। और कालान्तर में सभी इस मृत्युंजय अवस्था की प्राप्ति करेंगे।

आत्मा के पुनर्जन्म के सम्बन्ध में क्या कोई युक्ति-युक्त

प्रमाण है ? अब तक हम शंका का समाधान कर रहे थे, दि
रहे थे कि पुनर्जन्मवाद के विरोध में जो दलीलें उठाई जा
हैं, वे खोखली हैं। अब पुनर्जन्मवाद के पक्ष में जो-जो युक्ति
हैं, उनकी हम आलोचना करेंगे। पुनर्जन्मवाद के बिना ज्ञ
असम्भव है। मान लो, मैंने रास्ते पर एक कुत्ता देखा। मैं
कैसे जाना कि वह कुत्ता ही है ? ज्योंही मेरे मन पर उसक
छाप पड़ी, त्योंही उसे मैं अपने मन के पूर्व-संस्कारों के सा
मिलाने लगा। मैंने देखा कि वहाँ मेरे समस्त पूर्व-संस्कार स्तर
स्तर में सजे हुए हैं। ज्योंही कोई नया विषय आया, त्योंही मैं
प्राचीन संस्कारों के साथ उसे मिलाने लगा। और जब मैंने
अनुभव किया कि हाँ, उसी की भाँति और भी कई संस्कार वहाँ
विद्यमान हैं, तो बस मैं तृप्त हो गया। मैंने तब जाना कि उसे
कुत्ता कहते हैं, क्योंकि पहले के कई संस्कारों के साथ वह मिल
गया। जब हम उस प्रकार का कोई संस्कार अपने भीतर नहीं
देख पाते, तब हममें असन्तोष पैदा होता है। इसी को 'अज्ञान'
कहते हैं। और सन्तोष मिल जाना ही 'ज्ञान' कहलाता है। जब
एक सेब गिरा, तो मनुष्य को असन्तोष हुआ। इसके बाद मनुष्य ने
क्रमशः इसी प्रकार की कई घटनाएँ देखीं—शृंखला की
तरह ये घटनाएँ एक दूसरे से बँधी हुई थीं। यह शृंखला
क्या थी ? वह शृंखला यह थी कि सभी सेब गिरते हैं। और
इसको उसने 'गुरुत्वाकर्पण' नाम दे दिया। अतएव हमने देखा
कि पहले की अनुभूतियाँ न रहने से कोई नई अनुभूति प्राप्त
करना असम्भव है, क्योंकि उस नई अनुभूति से तुलना करने के
लिए कुछ भी नहीं मिल सकेगा। अतएव यदि कुछ योरपीय
दार्शनिकों का यह मत कि 'पैदा होते समय बच्चा संस्कार-शून्य

मन लेकर आता है,' सच हो, तो फिर संसार से उसे संस्कार-शून्य मन लेकर जाना पड़ेगा; क्योंकि नई अनुभूति मिलाने के लिए उसमें कोई संस्कार ही नहीं है। अतएव हमने देखा कि इस पूर्व-संचित ज्ञान-भांडार के बिना कोई नया ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है। वास्तव में तो हम सभी को पूर्व-संचित ज्ञान-भांडार अपने साथ लेकर आना पड़ा है। ज्ञान केवल पुनः-अनुभूति से प्राप्त होता है, जानने का और कोई दूसरा उपाय नहीं है। यह ज्ञान यदि हमें इस जीवन में नहीं मिला हो, तो अवश्य हमने उसे किसी अन्य जीवन में प्राप्त किया होगा। हम मृत्यु का भय सर्वत्र देख पाते हैं, पर क्यों? अभी पैदा हुआ मुर्गी का बच्चा चील को आते देख अपनी माँ के पास भाग जाता है। उसने कहाँ से तथा कैसे सीखा कि चील मुर्गी के बच्चों को खा जाती है? इसकी एक पुरानी व्याख्या है, पर उसे व्याख्या कहा ही नहीं जा सकता। उसे लोग स्वाभाविक-संस्कार या सहज-प्रेरणा (instinct) कहते हैं। मुर्गी के उस छोटे से बच्चे में कहाँ से मरने का डर आया? अण्डे से अभी-अभी निकली बतक पानी के निकट आते ही क्यों कूद पड़ती है और तैरने लगती है? वह तो पहले कभी तैरना नहीं जानती थी, और न पहले उसने किसी को तैरते ही देखा है। लोग कहते हैं कि वह 'सहज-प्रेरणा' है। यह तो हमने एक लम्बा-चौड़ा शब्द प्रयोग किया अवश्य, पर उससे हमें कोई नई बात नहीं मिलती। अब आलोचना की जाय कि यह सहज-प्रेरणा है क्या। हमारे भीतर अनेक प्रकार की सहज-प्रेरणाएँ वर्तमान हैं। मान लो कि एक व्यक्ति ने पियानो सीखना शुरू किया। पहले उसे प्रत्येक परदे की ओर नजर रखते हुए उँगलियों को चलाना पड़ता है, पर कुछ

महीने, कुछ साल अभ्यास करते-करते उँगलियाँ अपने आप ठीक-ठीक स्थानों पर चलती रहती हैं, वह स्वाभाविक हो जाता है। एक समय जिसमें ज्ञानपूर्वक इच्छा को लगाना पड़ता था, उसमें जब उस प्रकार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, अर्थात् जब ज्ञानपूर्वक इच्छा लगाए बिना ही वह सम्पन्न होने लगता है, तो उसी को स्वाभाविक-ज्ञान या सहज-प्रेरणा कहते हैं। पहले वह इच्छा के साथ होता था, बाद में उसमें इच्छा का कोई प्रयोजन न रहा। पर सहज-प्रेरणा का तत्त्व अब भी पूरा नहीं हुआ, अभी तो आधा रह गया है। वह यह कि जो सब कार्य आज हमारे लिए स्वाभाविक हैं, लगभग उन सभी को हम अपनी इच्छा के वश में ला सकते हैं। शरीर की प्रत्येक पेशी को हम अपने वश में ला सकते हैं। आजकल यह विषय हम सबों को अच्छी तरह से ज्ञात है। अतएव अन्वय और व्यतिरेक इन दोनों उपायों से यह प्रमाणित कर दिया गया कि जिसे हम सहज-प्रेरणा कहते हैं, वह इच्छा से किए गए कार्य का अवनत भाव मात्र है। अतएव जब सारी प्रकृति में एक ही नियम का राज्य है, तो समग्र सृष्टि में 'उपमान' प्रमाण का प्रयोग करके हम इस सिद्धान्त पर पहुँच सकते हैं कि तिर्यग् जाति और मनुष्य में जो सहज-प्रेरणा के नाम से परिचित है, वह इच्छा का अवनत भाव मात्र है।

बहिर्जगत् में हमें जो नियम मिला था कि "प्रत्येक क्रमविकास-प्रक्रिया के पहले एक क्रमसंकोच-प्रक्रिया रहती है और क्रमसंकोच के साथ-साथ क्रमविकास भी रहता है," उसका प्रयोग करने पर हमें सहज-प्रेरणा की कौनसी व्याख्या मिलती है? यही कि सहज-प्रेरणा विचारपूर्वक कार्य का क्रम-संकुचित

भाव है। अतएव मनुष्य अथवा पशु में जिसे हम सहज-प्रेरणा कहते हैं, वह अवश्य पूर्ववर्ती इच्छाकृत कार्य का क्रम-संकोच भाव होगा। और 'इच्छाकृत कार्य' कहने से ही यह स्वीकृत हो जाता है कि पहले हमने अभिज्ञता या अनुभव प्राप्त किया था। पूर्वकृत कार्य से यह संस्कार आया था और यह अब भी विद्यमान है। मरने का भय, जन्म से ही तैरने लगना तथा मनुष्य में जितने भी अनिच्छाकृत, सहज कार्य पाए जाते हैं, वे सभी पूर्व-कार्य व पूर्व-अनुभूति के फल हैं—वे ही अब सहज-प्रेरणा के रूप में परिणत हो गए हैं। अब तक तो हम विचार में आसानी से आगे बढ़ते रहे और यहाँ तक आधुनिक विज्ञान भी हमारा सहायक रहा। आधुनिक वैज्ञानिक धीरे-धीरे प्राचीन ऋषियों से सहमत हो रहे हैं और उनका जहाँ तक प्राचीन ऋषियों के साथ एकमत है, वहाँ तक तो कोई गड़बड़ी नहीं। वैज्ञानिक मानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक जन्तु कुछ अनुभूतियों की समष्टि लेकर जन्म लेता है; वे यह भी मानते हैं कि मन के ये सब कार्य पूर्व-अनुभूति के फल हैं। पर यहाँ पर वे और एक शंका उठाते हैं। वे कहते हैं कि यह कहने की क्या आवश्यकता है कि वे अनुभूतियाँ आत्मा की हैं? वे सब शरीर के ही धर्म हैं यह कहने से ही तो हुआ? उसे आनुवंशिक-संचार (Hereditary Transmission) कहने से ही तो हुआ? यही अन्तिम प्रश्न है। जिन सब संस्कारों को लेकर मैंने जन्म लिया है, वे मेरे पूर्वजों के संचित संस्कार हैं, ऐसा हम क्यों न कहें? छोटे जीवाणु से लेकर सर्वश्रेष्ठ मनुष्य तक सबों के कर्म-संस्कार मुझमें हैं, पर वे सब आनुवंशिक-संचार के कारण ही मुझमें आए हैं। ऐसा कहने में अड़चन कौनसी है? यह प्रश्न बहुत ही सूक्ष्म है। इस

आनुवंशिक-संचार को कुछ अंश तक हम मानते भी हैं। लेकि
बस यहीं तक मानते हैं कि इससे आत्मा को रहने लायक ए
स्थान मिल जाता है। हम अपने पूर्व-कर्मों के द्वारा एक शरी
विशेष का आश्रय लेते हैं। और उस शरीरविशेष का उपयु
उपादान आत्मा उन्हीं लोगों से ग्रहण करती है, जिन्होंने उ
आत्मा को सन्तान के रूप में प्राप्त करने के लिए स्वयं को उप
युक्त बना लिया है।

आनुवंशिक-संचारवाद (Doctrine of Heredity) बिना
किसी प्रमाण के ही एक अद्‌भुत बात मान लेता है कि मन के
संस्कारों की छाप जड़ में रह सकती है। जब मैं तुम्हारी ओर
देखता हूँ, तब मेरे चित्त-सरोवर में एक तरंग उठ जाती है।
यह तरंग थोड़े समय बाद लुप्त हो जाती है, पर सूक्ष्म रूप में
वर्तमान रहती है। हम यह समझ सकते हैं। हम यह भी समझ
सकते हैं कि भौतिक संस्कार शरीर में रह सकते हैं। किन्तु
इसका क्या प्रमाण कि मानसिक संस्कार शरीर में रहते हैं,
क्योंकि शरीर तो नष्ट हो जाता है। किसके द्वारा ये
संस्कार संचारित होते हैं? अच्छा, माना कि मन के प्रत्येक
संस्कार का शरीर में रहना सम्भव है; यह भी माना कि
आनुवंशिकता के अनुसार आदिम मनुष्य से लेकर समस्त
पूर्वजों के संस्कार मेरे पिता के शरीर में वर्तमान हैं; पर
पूछता हूँ कि ये सब संस्कार मेरे शरीर में कैसे आए?
तुम शायद कहो—जीवाणुकोष (Bio-plasmic Cell) के
द्वारा। किन्तु यह कैसे सम्भव है, क्योंकि पिता का शरीर तो
सन्तान में सम्पूर्ण रूप से नहीं आता? एक ही माता-पिता की
कई सन्तानें हो सकती हैं। अतः यह आनुवंशिक-संचारवाद मान

लेने पर तो हमें यह भी अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रत्येक सन्तान के जन्म के साथ-ही-साथ माता-पिता को अपनी निजी मनोवृत्ति का कुछ अंश खोना पड़ेगा, (चूँकि उन लोगों के मत से संचारक और जिसमें संचार होता हो वह, एक अर्थात् भौतिक है); और यदि तुम कहो कि उनकी सारी मनोवृत्तियाँ ही संचारित होती हैं, तब तो यही कहना पड़ेगा कि प्रथम सन्तान के जन्म के बाद ही उन लोगों का मन पूर्ण रूप से शून्य हो जायगा।

फिर, यदि जीवाणुकोष में चिरकाल की अनन्त संस्कार-समष्टि रहती हो, तो प्रश्न यह है कि वह है कहाँ और किस प्रकार है? यह सिद्धान्त बिलकुल असम्भव है। और जब तक ये जड़वादी यह प्रमाणित नहीं कर सकते कि ये संस्कार कैसे और कहाँ पर उस कोष में रहते हैं, जब तक यह नहीं समझा सकते कि 'भौतिक कोष में मनोवृत्तियों के सुप्त रहने' का क्या तात्पर्य है, तब तक उनका सिद्धान्त माना नहीं जा सकता। इतना तो हम अच्छी तरह समझ सकते हैं कि ये संस्कार मन में ही वास करते हैं, मन ही बार-बार जन्म ग्रहण करता रहता है, मन ही अपने उपयोगी उपादान ग्रहण करता है, और इस मन ने जिस शरीरविशेष की प्राप्ति के लायक कर्म किए हैं, उसके निर्माणोपयोगी उपादान जब तक वह नहीं पाता, तब तक उसे राह देखनी पड़ेगी। यह हम समझ सकते हैं। अतएव आत्मा के लिए देह-गठनोपयोगी उपादान प्रस्तुत करने तक ही आनुवंशिक-संचारवाद स्वीकृत किया जा सकता है। परन्तु आत्मा देह के बाद देह ग्रहण करती जाती है—एक शरीर के बाद दूसरा शरीर प्रस्तुत करती जाती है; और हम जो कुछ विचार करते हैं, जो कुछ कार्य करते हैं, वह सूक्ष्म भाव में रह

जाता है और समय आने पर वही स्थूल रूप धारण कर प्रकट हो जाता है। मैं अपना अभिप्राय तुम्हें और भी अधिक स्पष्ट रूप से कह दूँ। जब कभी मैं तुम लोगों की ओर देखता हूँ, तो मेरे मन में एक तरंग उठ जाती है। वह मानो मेरे चित्त-सरोवर में डूब जाती है, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाती है, पर बिलकुल नष्ट नहीं हो जाती। वह मन में ही रहती है और किसी भी समय स्मृति-तरंग के रूप में प्रकट होने को प्रस्तुत रहती है। इसी तरह यह समस्त संस्कार-समष्टि मेरे मन में ही विद्यमान है, और मृत्यु के समय उन सारे संस्कारों की समष्टि मेरे साथ ही बाहर चली जाती है। मान लो, इस कमरे में एक गेंद है और हम सब एक-एक छड़ी से सब ओर से उसे मारने लगें; गेंद कमरे के एक कोने से दूसरे कोने में दौड़ने लगी और दरवाजे के नजदीक जाते ही वह बाहर चली गई। अब बताओ, वह किस शक्ति से बाहर गई?—जितनी छड़ियाँ उसे मारी गई थीं, उनकी सम्मिलित शक्ति से। किस ओर उसकी गति होगी, यह भी इन सभी के समवेत फल से निर्णीत होगा। इसी प्रकार, शरीर का पतन होने पर आत्मा की गति का निर्णायक क्या होगा? उसने जो-जो कर्म किए हैं, जो-जो विचार सोचे हैं, वे ही उसे किसी विशेष दिशा में परिचालित करेंगे। अपने भीतर उन सबों की छाप लेकर वह आत्मा अपने गन्तव्य की ओर अग्रसर होगी। यदि समवेत कर्मफल इस प्रकार का हो कि भोग के लिए उसे पुनः एक नया शरीर गढ़ना पड़े, तो वह ऐसे माता-पिता के पास जायगी, जिनसे वह उस शरीर-गठन के उपयुक्त उपादान प्राप्त कर सके, और वह उन उपादानों को लेकर एक नया शरीर गढ़ लेगी। इसी तरह वह आत्मा एक देह से दूसरी देह

में जाती रहती है; कभी स्वर्ग में जाती है, तो कभी पृथ्वी पर आकर मानव-देह धारण कर लेती है; अथवा अन्य कोई उच्चतर या निम्नतर जीव-शरीर धारण कर लेती है। और इस प्रकार वह तब तक आगे बढ़ती रहती है, जब तक उसका भोग समाप्त होकर वह अपने निजी स्थान पर लौट नहीं आती। और तब वह अपना स्वरूप जान लेती है, यह समझ जाती है कि वह यथार्थतः क्या है। तब सारा अज्ञान दूर हो जाता है और उसकी सारी शक्तियाँ प्रकाशित हो जाती हैं। तब वह सिद्ध हो जाती है, पूर्णता प्राप्त कर लेती है, तब उसके लिए स्थूल शरीर की सहायता से कार्य करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती—सूक्ष्म शरीर के माध्यम से भी कार्य करने की आवश्यकता नहीं रहती। तब वह स्वयंज्योति और मुक्त हो जाती है, उसका फिर जन्म या मृत्यु कुछ भी नहीं होता।

अब इस विषय पर हम और अधिक आलोचना नहीं करेंगे। पुनर्जन्म के बारे में केवल एक और बात की ओर आप लोगों का ध्यान आकर्षित कर मैं यह आलोचना समाप्त करूँगा। यह पुनर्जन्मवाद ही एक ऐसा मत है, जो जीवात्मा की स्वाधीनता की घोषणा करता है। यही एक ऐसा मत है, जो हमारी सारी दुर्बलताओं का दोष दूसरे के मत्थे नहीं मढ़ता। अपने निज के दोष दूसरे के मत्थे मढ़ना मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता है। हम अपने दोष नहीं देखते। आँखें अपने को कभी नहीं देखतीं, पर वे दूसरे सबकी आँखें देखा करती हैं। हम मनुष्य अपनी दुर्बलताएँ, अपनी गलतियाँ मानने को तब तक राजी नहीं होते, जब तक हम दूसरों पर दोष लाद सकते हैं। साधारणतः मनुष्य अपने दोषों और भूलों को पड़ोसियों पर लादना चाहता है; यह

न जगा, तो उन सबको ईश्वर के मत्थे मढ़ना चाहता है; और इसमें भी यदि सफल न हुआ, तो फिर 'भाग्य' नामक एक भूत की कल्पना करता है और उसी को उन सबके लिए उत्तरदायी बनाकर निश्चिन्त हो जाता है! पर प्रश्न यह है कि 'भाग्य' नामक यह वस्तु है क्या और रहती कहाँ है? हम तो जो कुछ बोते हैं, बस वही पाते हैं।

हम स्वयं अपने भाग्य के विधाता हैं। हमारा भाग्य यदि खोटा हो, तो भी कोई दूसरा दोषी नहीं; और यदि हमारे भाग्य अच्छे हों, तो भी कोई दूसरा प्रशंसा का पात्र नहीं। वायु सर्वदा बह रही है। जिन-जिन जहाजों के पाल खुले रहते हैं, वायु उन्हीं का साथ देती है और वे आगे बढ़ जाते हैं। पर जिनके पाल नहीं खुले रहते, उन पर वायु नहीं लगती। तो क्या यह वायु का दोष है? हममें कोई सुखी है, तो कोई दुःखी। यह क्या उन करुणामय पिता का दोष है, जिनकी कृपा-वायु दिन-रात बह रही है, जिनकी दया का अन्त नहीं है? हम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हैं। उनका सूर्य दुर्बल, बलवान सबके लिए उगता है। साधु, पापी सभी के लिए उनकी वायु बह रही है। वे सबके प्रभु हैं, पिता हैं, दयामय और समदर्शी हैं। क्या तुम सोचते हो कि हम छोटी-छोटी चीजों को जिस दृष्टि से देखते हैं, वे भी उसी दृष्टि से देखते हैं? भगवान के सम्बन्ध में यह कितनी क्षुद्र धारणा है! कुत्ते के पिल्लों की तरह हम यहाँ पर नाना विषयों के लिए प्राणपण से चेष्टा कर रहे हैं और मूर्ख की तरह समझते हैं कि भगवान उन विषयों को ठीक उसी तरह सत्य समझकर ग्रहण [illegible]। इन पिल्लों के इस खेल का क्या अर्थ है, भगवान यह

अच्छी तरह जानते हैं। उन पर सब दोष लाद देना या यह कहना कि वे ही दण्ड-पुरस्कार देने के मालिक हैं, मूर्खता की बातें हैं। वे किसी को न दण्ड देते हैं, न पुरस्कार। प्रत्येक देश में, प्रत्येक काल में, प्रत्येक अवस्था में हर एक जीव उनकी अनन्त दया प्राप्त करने का अधिकारी है। उसका किस प्रकार व्यवहार किया जाय, यह हम पर निर्भर करता है। मनुष्य, ईश्वर या और किसी पर दोष लादने की चेष्टा न करो। जब तुम कष्ट पाते हो, तो अपने को ही उसके लिए दोषी समझो और जिससे अपना कल्याण हो सके, उसी की चेष्टा करो।

पूर्वोक्त समस्या का यही समाधान है। जो लोग अपने दु:खों या कष्टों के लिए दूसरों को दोषी बनाते हैं (और दु:ख की बात तो यह है कि ऐसे लोगों की संख्या दिनो-दिन बढ़ती जा रही है), वे साधारणतया अभागे और दुर्बल-मस्तिष्क हैं। अपने ही कर्म-दोष से वे ऐसी परिस्थिति में आ पड़े हैं, और अब वे दूसरों को इसके लिए दोषी ठहरा रहे हैं। पर इससे उनकी दशा में तनिक भी परिवर्तन नहीं होता—उनका कोई उपकार नहीं होता, वरन् दूसरों पर दोष लादने की चेष्टा करने के कारण वे और भी दुर्बल बन जाते हैं। अतएव अपने दोष के लिए तुम किसी को उत्तरदायी न समझो, अपने ही पैरों पर खड़े होने का प्रयत्न करो, सब कामों के लिए अपने को ही उत्तरदायी समझो। कहो कि जिन कष्टों को हम अभी झेल रहे हैं, वे हमारे ही किए हुए कर्मों के फल हैं। यदि यह मान लिया जाय, तो यह भी प्रमाणित हो जाता है कि वे फिर हमारे द्वारा नष्ट भी किए जा सकते हैं। जो कुछ हमने सृष्ट किया है, उसका हम ध्वंस भी कर सकते हैं; जो कुछ दूसरों ने किया है,

उसका नाश हमसे कभी नहीं हो सकता। अतएव उठो, साहसी बनो, वीर्यवान होओ। सब उत्तरदायित्व अपने कन्धे पर लो— यह याद रखो कि तुम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हो। तुम जो कुछ बल या सहायता चाहो, सब तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है। अतएव इस ज्ञानरूप शक्ति के सहारे तुम बल प्राप्त करो और अपने हाथों अपना भविष्य गढ़ डालो। 'गतस्य शोचना नास्ति'—अब तो सारा भविष्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है। तुम सदैव यह बात स्मरण रखो कि तुम्हारा प्रत्येक विचार, प्रत्येक कार्य संचित रहेगा; और यह भी याद रखो कि जिस प्रकार तुम्हारे असत्-विचार और असत्-कार्य शेरों की तरह तुम पर कूद पड़ने की ताक में हैं, उसी प्रकार तुम्हारे सत्-विचार और सत्-कार्य भी हजारों देवताओं की शक्ति लेकर सर्वदा तुम्हारी रक्षा के लिए तैयार हैं।

अमरत्व

(अमेरिका में दिया हुआ भाषण)

जीवात्मा के अमरत्व के सम्बन्ध में मनुष्य ने जितनी बार प्रश्न किया है, इस तत्व के रहस्य का उद्‌घाटन करने के लिए उसने सारे जगत् में जितनी खोज की है, यह प्रश्न मनुष्य के हृदय को जितना प्रिय और उसके जितना निकट है, यह प्रश्न हमारे अस्तित्व के साथ जितना अच्छेद्य भाव से सम्बन्धित है, उतना और कौनसा प्रश्न है ? यह कवियों की कल्पना का विषय रहा है, साधु, महात्मा, ज्ञानी सभी के गम्भीर चिन्तन का विषय रहा है, सिंहासन पर बैठे हुए राजाओं ने इस पर विचार किया है, पथ के भिखारियों ने भी इसका स्वप्न देखा है। श्रेष्ठतम मानवों ने इसका उत्तर पाया है, और अति निकृष्ट मनुष्यों ने भी इसकी आशा की है। इस विषय में लोगों की रुचि अभी तक बनी हुई है, और जब तक मानव-प्रकृति विद्यमान है, तब तक वह बनी रहेगी। विभिन्न लोगों ने इसके विभिन्न उत्तर दिए हैं। और यह भी देखा जाता है कि इतिहास के प्रत्येक युग में हजारों व्यक्तियों ने इस प्रश्न को बिलकुल अनावश्यक कहकर छोड़ दिया है, फिर भी यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों नवीन ही बना हुआ है। जीवन-संग्राम के शोरगुल में हम प्रायः इस प्रश्न को भूल-से जाते हैं, परन्तु जब अचानक कोई मर जाता है—एक ऐसा व्यक्ति, जिससे हम प्रेम करते हैं, जो हमारे हृदय के अति निकट और अत्यन्त प्रिय है, अचानक हमसे छिन जाता है, तब हमारे चारों ओर का संघर्ष और शोरगुल क्षण भर के लिए मानो रुक जाता है, सब कुछ मानो निस्तब्ध हो जाता

उसका नाश हमसे कभी नहीं हो सकता। अतएव उठो, साहसी बनो, वीर्यवान होओ। सब उत्तरदायित्व अपने कन्धे पर लो—यह याद रखो कि तुम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हो। तुम जो कुछ बल या सहायता चाहो, सब तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है। अतएव इस ज्ञानरूप शक्ति के सहारे तुम बल प्राप्त करो और अपने हाथों अपना भविष्य गढ़ डालो। 'गतस्य शोचना नास्ति'—अब तो सारा भविष्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है। तुम सदैव यह बात स्मरण रखो कि तुम्हारा प्रत्येक विचार, प्रत्येक कार्य संचित रहेगा; और यह भी याद रखो कि जिस प्रकार तुम्हारे असत्-विचार और असत्-कार्य शेरों की तरह तुम पर कूद पड़ने की ताक में हैं, उसी प्रकार तुम्हारे सत्-विचार और सत्-कार्य भी हजारों देवताओं की शक्ति लेकर सर्वदा तुम्हारी रक्षा के लिए तैयार हैं।

अमरत्व

(अमेरिका में दिया हुआ भाषण)

जीवात्मा के अमरत्व के सम्बन्ध में मनुष्य ने जितनी बार
प्रश्न किया है, इस तत्व के रहस्य का उद्घाटन करने के लिए
उसने सारे जगत् में जितनी खोज की है, यह प्रश्न मनुष्य के हृदय
को जितना प्रिय और उसके जितना निकट है, यह प्रश्न हमारे
अस्तित्व के साथ जितना अच्छेद्य भाव से सम्बन्धित है, उतना
और कौनसा प्रश्न है ? यह कवियों की कल्पना का विषय रहा
है, साधु, महात्मा, ज्ञानी सभी के गम्भीर चिन्तन का विषय
रहा है, सिंहासन पर बैठे हुए राजाओं ने इस पर विचार किया
है, पथ के भिखारियों ने भी इसका स्वप्न देखा है। श्रेष्ठतम
मानवों ने इसका उत्तर पाया है, और अति निकृष्ट मनुष्यों ने
भी इसकी आशा की है। इस विषय में लोगों की रुचि अभी
तक बनी हुई है, और जब तक मानव-प्रकृति विद्यमान है,
तब तक वह बनी रहेगी। विभिन्न लोगों ने इसके विभिन्न उत्तर
दिए हैं। और यह भी देखा जाता है कि इतिहास के प्रत्येक युग
में हजारों व्यक्तियों ने इस प्रश्न को बिलकुल अनावश्यक कहकर
छोड़ दिया है, फिर भी यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों नवीन ही बना
रहा है। जीवन-संग्राम के शोरगुल में हम प्रायः इस प्रश्न को
भूल-से जाते हैं, परन्तु जब अचानक कोई मर जाता है—एक
ऐसा व्यक्ति, जिससे हम प्रेम करते हैं, जो हमारे हृदय के अति
निकट और अत्यन्त प्रिय है, अचानक हमसे छिन जाता
है, तब हमारे चारों ओर का संघर्ष और शोरगुल क्षण भर
के लिए मानो रुक जाता है, सब कुछ मानो निस्तब्ध हो जाता

है और हमारी आत्मा के गम्भीरतम प्रदेश से वही प्राचीन प्रश्न उठता है कि इसके बाद क्या है? देहान्त के बाद आत्मा की क्या गति होती है? ठोकरें खाकर ही मनुष्य सीखता है। बिना ठोकरें खाए—सुख-दुःख आदि का बिना अनुभव किए हम कोई भी बात नहीं सीख सकते। हमारा तर्क, हमारा ज्ञान, ये विभिन्न प्रकार के अनुभव सामंजस्य पर—साधारण भाव (generalisation) पर—निर्भर रहते हैं। हम अपने चारों ओर क्या देखते हैं? सतत परिवर्तन। बीज से वृक्ष होता है और वह फिर बीज-रूप में परिणत हो जाता है। एक जीव उत्पन्न हुआ, कुछ दिन जीवित रहा, फिर मर गया, इस प्रकार मानो एक वृत्त पूरा हो गया। मनुष्य के सम्बन्ध में भी यही बात है। और तो और, पर्वत भी धीरे-धीरे, परन्तु निश्चित रूप से, चूर-चूर होते जाते हैं; नदियाँ धीरे-धीरे, पर निश्चित रूप से, सूखती जाती हैं; समुद्र से बादल उठते हैं और वर्षा करके फिर समुद्र में ही मिल जाते हैं। सर्वत्र ही एक-एक वृत्त पूरा हो रहा है—जन्म, वृद्धि और क्षय मानो गणित के समान ठीक एक के बाद एक आते रहते हैं। यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है। फिर भी, इस सबके अन्दर, क्षुद्रतम परमाणु से लेकर उच्चतम सिद्ध पुरुष तक लाखों प्रकार की, विभिन्न नाम-रूप-युक्त वस्तुओं के अन्तराल में हम एक अखण्ड भाव देखते हैं। हम प्रति दिन देखते हैं कि वह दुर्भेद्य दीवार, जो एक वस्तु को दूसरी वस्तु से पृथक् करती प्रतीत होती थी, गिरती जा रही है और आधुनिक विज्ञान समस्त भूतों को एक ही पदार्थ मानने लगा है—मानो वही एक प्राण-शक्ति नाना रूपों में नाना प्रकार से प्रकाशित हो रही है, मानो यह सबको जोड़नेवाली एक शृंखला के समान है,

और ये सब विभिन्न रूप मानो इस शृंखला के ही एक-एक अंश हैं—अनन्त रूप से विस्तृत, किन्तु फिर भी उसी एक शृंखला के अंश। इसी को क्रमविकासवाद कहते हैं। यह एक अत्यन्त प्राचीन धारणा है—उतनी ही प्राचीन, जितना कि मानव-समाज। केवल वह मानवी ज्ञान की वृद्धि और उन्नति के साथ-साथ मानो हमारी आँखों के सम्मुख अधिकाधिक उज्ज्वल रूप से प्रतीत मात्र हो रही है। एक बात और है, जो प्राचीन लोगों ने विशेष रूप से समझी थी, परन्तु जो आधुनिक विचारकों ने अभी तक ठीक-ठीक नहीं समझ पाई है, और वह है क्रमसंकोच। बीज का ही वृक्ष होता है, बालू के कण का नहीं। पिता ही पुत्र में परिणत होता है, मिट्टी का ढेला नहीं। अब प्रश्न यह है कि इस क्रमविकास-प्रक्रिया के आरम्भ के पूर्व कौनसी अवस्था थी? बीज पहले क्या था? वह उस वृक्ष-रूप में ही था। भविष्य में होनेवाले वृक्ष की सभी सम्भावनाएँ बीज में निहित हैं। छोटे बच्चे में भावी मनुष्य की समस्त शक्ति निहित है। सब प्रकार का भावी जीवन अव्यक्त रूप से अपने बीज में विद्यमान है। इसका तात्पर्य क्या है? भारतवर्ष के प्राचीन दार्शनिक इसी को 'क्रमसंकोच' कहते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक क्रमविकास के पहले क्रमसंकोच का होना अनिवार्य है। किसी ऐसी वस्तु का क्रमविकास नहीं हो सकता, जो पूर्व से ही वर्तमान नहीं है। यहाँ पर फिर आधुनिक विज्ञान हमें सहायता देता है। गणित-शास्त्र के तर्क से आप जानते हैं कि जगत् में दृश्यमान शक्ति का समष्टि-योग (sum-total) सदा समान रहता है। आप एक बिन्दु जड़ अथवा एक बिन्दु शक्ति घटा या बढ़ा नहीं सकते। अतएव शून्य

से कभी क्रमविकास नहीं होता। तब फिर वह हुआ कहाँ से? अवश्य इससे पूर्व के क्रमसंकोच से। बालक क्रमसंकुचित मनुष्य है और मनुष्य क्रमविकसित बालक है। क्रमसंकुचित वृक्ष ही बीज है और क्रमविकसित बीज ही वृक्ष। सभी प्रकार के जीवन की उत्पत्ति की सम्भावना उनके बीज में है। अब यह समस्या कुछ सरल हो जाती है। अब इस तत्त्व के साथ पूर्वोक्त समुदय जीवन की अखण्डता की आलोचना करो। क्षुद्रतम जीवाणु से लेकर पूर्णतम मानव पर्यन्त वस्तुतः एक ही सत्ता है—एक ही जीवन वर्तमान है। जिस प्रकार एक ही जीवन में हम शैशव, यौवन, वार्धक्य आदि विविध अवस्थाएँ देखते हैं, उसी प्रकार शैशव अवस्था के पीछे क्या है, यह देखने के लिए विपरीत दिशा में अग्रसर होते रहो, जब तक कि तुम जीवाणु तक नहीं पहुँच जाते। इस प्रकार, इस जीवाणु से लेकर पूर्णतम मानव पर्यन्त मानो एक ही जीवन-सूत्र विराजमान है। इसी को क्रमविकास कहते हैं, और यह हम पहले ही देख चुके हैं कि प्रत्येक क्रमविकास के पूर्व एक क्रमसंकोच रहता है। जो जीवनीशक्ति इस क्षुद्रतम जीवाणु से लेकर धीरे-धीरे पूर्णतम मानव अथवा धरती पर आविर्भूत ईश्वरावतार के रूप में क्रमविकसित होती है, वह सम्पूर्ण शक्ति अवश्य सूक्ष्म रूप से जीवाणु में अवस्थित थी। यह समूची श्रेणी उसी एक जीवन की अभिव्यक्ति मात्र है, और यह सारा व्यक्त जगत् उसी एक जीवाणु में अव्यक्त भाव से निहित था। यह समस्त जीवनीशक्ति, और तो और, मर्त्य लोक में अवतीर्ण ईश्वर तक उसमें निहित थे; अवतार-श्रेणी के मानव तक उसमें अव्यक्त रूप से अवस्थित थे; बस धीरे-धीरे—बहुत धीरे क्रमशः उन सबकी अभिव्यक्ति मात्र हुई है। जो सर्वोच्च,

चरम अभिव्यक्ति है, वह भी अवश्य बीज भाव से सूक्ष्माकार मे
उसके अन्दर मौजूद थी। ऐसा होने पर, जिस एक शक्ति से यह
समूची श्रेणी या श्रृंखला आई है, वह फिर किसका क्रमसंकोच
है? उस सर्वव्यापिनी जगन्मयी जीवनीशक्ति का। और यह जो
क्षुद्रतम जीवाणु नाना प्रकार के जटिल यंत्रों से युक्त उच्चतम
बुद्धि-शक्ति के आधाररूप मनुष्य के आकार में अभिव्यक्त हो
रहा है, कौनसी वस्तु क्रमसंकुचित होकर इस जीवाणु के रूप
में स्थित थी? वह सर्वव्यापी जगन्मय चैतन्य ही उस जीवाणु
में क्रमसंकुचित होकर वर्तमान था। वह समस्त पहले से ही पूर्ण
भाव से वर्तमान था। ऐसी बात नहीं कि वह थोड़ा-थोड़ा करके
बढ़ रहा हो। बढ़ने की भावना को मन से एकदम निकाल
दीजिए। वृद्धि कहने से ही मालूम होता है कि बाहर से कुछ आ
रहा है। वृद्धि मानने पर, पूर्वोक्त गणित के इस सिद्धान्त को कि
जगत् की शक्ति-समष्टि सर्वदा सर्वत्र समान है, अस्वीकार करना
होगा। इस जागतिक सर्वव्यापी चैतन्य की कभी वृद्धि नही
होती, यह तो सदा ही पूर्ण भाव से विद्यमान था, इसकी केवल
अभिव्यक्ति मात्र होती है। विनाश का अर्थ क्या है? यह एक
गिलास है। मैंने इसको भूमि पर फेंक दिया और वह चूर-चूर
हो गया। अब प्रश्न है कि गिलास का क्या हुआ? वह केवल
सूक्ष्म रूप में परिणत हो गया, बस। तो विनाश का अर्थ हुआ—
स्थूल की सूक्ष्म भाव में परिणति। उसके उपादानभूत परमाणु
एकत्र होकर गिलास नामक कार्य में परिणत हुए थे। वे अब
अपने कारण में चले गए और इसी का नाम है विनाश अर्थात्
कारण में लय हो जाना। कार्य क्या है? कारण का व्यक्त भाव।
अन्यथा कार्य और कारण में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। पुनः

इसी गिलास की बात लीजिए। यह अपने उपादानों और अपने निर्माता की इच्छा के सहयोग से बना है। ये दोनों उसके कारण हैं और उसमें वर्तमान हैं। निर्माता की इच्छाशक्ति अभी उसमें किस रूप में विद्यमान है? संहति-शक्ति (adhesion) के रूप में। यह शक्ति यदि न रहती, तो इसके परमाणु अलग-अलग हो जाते। तो अब कार्य क्या हुआ? वह कारण के साथ अभिन्न है, केवल उसने एक दूसरा रूप धारण कर लिया है। जब कारण निर्दिष्ट समय के लिए अथवा निर्दिष्ट स्थान के अन्दर परिणत, घनीभूत और सीमाबद्ध भाव से रहता है, तब वह कारण ही कार्य कहलाता है। इस बात को हमें ध्यान में रखना चाहिए। इसी तत्त्व को अपनी जीवन सम्बन्धी धारणा पर प्रयुक्त करने पर हम देखते हैं कि जीवाणु से लेकर पूर्णतम मानव पर्यन्त सम्पूर्ण श्रेणी अवश्य उस विश्वव्यापिनी प्राणशक्ति के साथ अभिन्न है। किन्तु अमृतत्व के सम्बन्ध में जो प्रश्न था, वह अब भी सुलझा नहीं। हमने क्या देखा? पूर्वोक्त विचार द्वारा हमने इतना ही देखा कि जगत् के किसी भी पदार्थ का नाश नहीं होता। नूतन कुछ भी नहीं है और होगा भी नहीं। एक ही प्रकार की वस्तुएँ चक्र की भाँति बार-बार उपस्थित हो रही हैं। जगत् में जितनी गति है, वह समस्त तरंग के आकार में एक बार उठती है, फिर गिरती है। कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड सूक्ष्मतर रूप से प्रसूत हो रहे हैं—स्थूल रूप धारण कर रहे हैं। फिर लय होकर सूक्ष्म भाव में जा रहे हैं। वे फिर से इस सूक्ष्म-भाव से स्थूल-भाव में आते हैं—कुछ समय तक उसी अवस्था में रहते हैं और पुनः धीरे-धीरे उस कारण में चले जाते हैं। तो फिर नष्ट क्या होता है? केवल रूप—आकृति। वह रूप

नष्ट हो जाता है, किन्तु फिर आता है। एक हिसाब से देखा जाय, तो यह शरीर तक अविनाशी है। एक हिसाब से सभी शरीर और सभी रूप नित्य हैं। मान लो, मैं पासा खेल रहा हूँ। मान लो कि ६–३–९ पड़े। मैं और खेलने लगा। खेलते-खेलते एक समय ऐसा अवश्य आयगा, जब ये ६–३–९ फिर से पड़ेंगे। और खेलो, ये पुनः आयँगे, पर हाँ, देर से। मैं इस जगत् के प्रत्येक परमाणु की एक-एक पासे से तुलना करता हूँ। उन्हीं को वार-वार फेंका जा रहा है, और वे बार-बार नाना प्रकार से गिरते हैं। आपके सम्मुख जो सारे पदार्थ हैं, वे परमाणुओं के एक विशिष्ट प्रकार के सन्निवेश से उत्पन्न हुए हैं। यह गिलास, यह मेज, यह सुराही, ये सभी वस्तुएँ परमाणुओं के समवाय-विशेष हैं—क्षण भर के बाद शायद ये समवाय-विशेष नष्ट हो जा सकते हैं। पर एक समय ऐसा अवश्य आयगा, जब ठीक यही समवाय पुनः उपस्थित होगा—जब आप सब इसी तरह बैठे होंगे और यह सुराही तथा अन्य सभी वस्तुएँ ठीक अपने-अपने स्थान में रहेंगी और ठीक इसी विषय की आलोचना होगी। अनन्त बार इस प्रकार हुआ है और अनन्त बार इस प्रकार होगा। तो फिर हमने स्थूल, बाह्य वस्तुओं की आलोचना से क्या तत्त्व पाया ? यही कि इन भौतिक पदार्थों के विभिन्न समवायों में अनन्त काल से पुनरावृत्ति हो रही है।

इसके साथ ही और एक प्रश्न उठ खड़ा होता है—भविष्य को जानना सम्भव है या नहीं। शायद आप लोगों में से अनेकों ने ऐसा व्यक्ति देखा होगा, जो मनुष्य के अतीत व भविष्य की सारी बातें बतला देता है। यदि भविष्य किसी नियम के अधीन न हो, तो फिर किस प्रकार भविष्य के सम्बन्ध में बताया

जा सकता है ? पर हमने पहले ही देखा है कि वैसी घटना की ही भविष्य में पुनरावृत्ति होती है। जो भी हो, इससे आत्मा का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। हिंडोले का उदाहरण लो। वह लगातार घूमता रहता है। कई आदमी आते हैं और उसके एक-एक पालने में बैठ जाते हैं। झूला घूमकर फिर नीचे आता है। वे जब उतर गए, तो एक दूसरा दल आ बैठा। क्षुद्रतम जन्तु से लेकर उन्नतम मानव तक प्रकृति की प्रत्येक अभिव्यक्ति मानो ऐसा एक-एक दल है, और प्रकृति एक बड़ा झूला है तथा प्रत्येक शरीर या रूप इस झूले के एक-एक पालने-जैसा है। नई आत्माओं का एक-एक दल उन पर चढ़ता है और उच्च से उच्चतर जाता रहता है, जब तक उनमें से प्रत्येक पूर्णता प्राप्त कर झूले से बाहर नहीं आ जाती। पर झूला निरन्तर चलता रहता है—हमेशा दूसरे लोगों को ग्रहण करने के लिए तैयार है। और जब तक शरीर इस चक्र के भीतर, इस झूले के भीतर अवस्थित है, तब तक निश्चित रूप से, गणित के हिसाब से, यह बतला दिया जा सकता है कि अब वह किस ओर जायगा। किन्तु आत्मा के बारे में यह नहीं कहा जा सकता। अतएव प्रकृति के भूत और भविष्य निश्चित रूप से, गणित की तरह ठीक-ठीक बतलाना असम्भव नहीं है।

अतः हमने देखा कि जड़ परमाणु इस समय जिस प्रकार संहत हैं, समय-समय पर वे फिर ठीक उसी रूप में संहत होते रहते हैं। अनादि काल से ऐसे ही प्रवाह के रूप में जगत् की नित्यता चल रही है। किन्तु इससे तो आत्मा का अमरत्व प्रमाणित नहीं हुआ। हमने यह भी देखा है कि किसी भी शक्ति का नाश नहीं होता, कोई भी जड़ वस्तु शून्य में पर्यवसित

नहीं की जा सकती। तो फिर उनका क्या होता है? उनके नानाविध परिणाम होते रहते हैं, और अन्त में जहाँ से उनकी उत्पत्ति हुई थी, वहीं वे लौट जाते हैं। सरल रेखा में कोई गति नहीं हो सकती। प्रत्येक वस्तु घूम-फिरकर अपने पूर्व स्थान पर लौट आती है, क्योंकि सरल रेखा अनन्त भाव से बढ़ा दी जाने पर वृत्त में परिणत हो जाती है। यदि ऐसा ही हो, तो फिर अनन्त काल तक किसी भी आत्मा की अवनति नहीं हो सकती — वैसा हो नहीं सकता। इस जगत् में प्रत्येक वस्तु, शीघ्र हो या विलम्ब से, अपनी-अपनी वर्तुलाकार गति को पूरा कर फिर अपनी उत्पत्ति-स्थान पर पहुँच जाती है। तुम, मैं अथवा ये सब आत्माएँ क्या हैं? पहले क्रमसंकोच तथा क्रमविकास तत्त्व की आलोचना करते हुए हमने देखा है कि तुम, हम उसी विराट विश्वव्यापी चैतन्य या प्राण या मन के अंशविशेष हैं; हम उसी के क्रमसंकोचस्वरूप हैं। अतएव हम घूमकर, क्रमविकास की प्रक्रिया के अनुसार, उस विश्वव्यापी चैतन्य में लौट जायँगे,—और यह विश्वव्यापी चैतन्य ही ईश्वर है। लोग उसी विश्वव्यापी चैतन्य को प्रभु, भगवान, ईसा, बुद्ध या ब्रह्म कहते हैं—जड़वादी उसी की शक्ति के रूप में उपलब्धि करते हैं एवं अज्ञेयवादी उसी की उस अनन्त अनिर्वचनीय सर्वातीत पदार्थ के रूप में धारणा करते हैं। वही वह विश्वव्यापी प्राण है, वही विश्वव्यापी चैतन्य है, वही विश्वव्यापिनी शक्ति है और हम सब उसी के अंश हैं।

किन्तु आत्मा के अमरत्व को प्रमाणित करने के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है। अभी भी अनेक शंकाएँ रह गईं। किसी शक्ति का नाश नहीं है, यह बात सुनने में तो बड़ी अच्छी

लगती है, पर वास्तविक बात यह है कि हम जितनी भी शक्तियाँ और रूप देखते हैं, सभी मिश्रण से उत्पन्न हैं। यदि आप शक्ति के सम्बन्ध में विज्ञान का मत ग्रहण कर उसे कतिपय शक्तियों की समष्टि मात्र मानते हैं, तो फिर आपका 'मैं-पन' कहाँ रहा? जो कुछ मिश्रण से उत्पन्न है, वह शीघ्र अथवा विलम्ब से अपने कारणीभूत पदार्थ में लय हो जाता है। जो कुछ कतिपय कारणों के समवाय से उत्पन्न है, उसकी मृत्यु, उसका विनाश अवश्यम्भावी है। शीघ्र या विलम्ब से, वह अवश्य विश्लिष्ट हो जायगा, भग्न हो जायगा और अपने कारणीभूत पदार्थ में परिणत हो जायगा। आत्मा कोई भौतिक शक्ति अथवा चिन्तन-शक्ति नहीं है। वह तो चिन्तन-शक्ति की स्रष्टा है, स्वयं चिन्तन-शक्ति नहीं। वह शरीर की गठन-कर्ता है, किन्तु वह स्वयं शरीर नहीं है। क्यों? शरीर कभी आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि वह चैतन्यवान् नहीं है। मृत व्यक्ति अथवा कसाई की दूकान का मांस का टुकड़ा कभी चैतन्यवान् नहीं है। हम 'चैतन्य' शब्द से क्या समझते हैं?—प्रतिक्रिया-शक्ति।

थोड़ा और गम्भीर भाव से इस तत्त्व की आलोचना कीजिए। मैं अपने सम्मुख यह सुराही देख रहा हूँ। यहाँ पर क्या हो रहा है? इस सुराही से कुछ प्रकाश-किरणें निकलकर मेरी आँख में प्रवेश करती हैं। वे मेरे अक्षिजाल (retina) पर एक चित्र अंकित करती हैं। और यह चित्र जाकर मेरे मस्तिष्क में पहुँचता है। शरीरविज्ञान-वेत्तागण जिसको अनुभवात्मक स्नायु (sensory nerves) कहते हैं, उन्हीं के द्वारा यह चित्र भीतर मस्तिष्क में ले जाया जाता है। किन्तु तब भी देखने की क्रिया पूरी नहीं हुई, क्योंकि अभी तक

भीतर की ओर से कोई प्रतिक्रिया नहीं आई। मस्तिष्क के अन्दर स्थित जो स्नायु-केन्द्र है, वह इस चित्र को मन के पास ले जायगा, और मन उस पर प्रतिक्रिया करेगा। इस प्रतिक्रिया के होते ही सुराही मेरे सम्मुख प्रकाशित हो जायगी। एक सरल उदाहरण से यह बात भलीभाँति समझ में आ जायगी। मान लीजिए, आप खूब एकाग्र होकर मेरी बात सुन रहे हैं और इसी समय एक मच्छर आपकी नाक पर काटता है; किन्तु आप मेरी बात सुनने में इतने तन्मय हैं कि उसका काटना आपको अनुभव नहीं होता। ऐसा क्यों? मच्छर आपके चमड़े को काट रहा है; उस स्थान पर कितने ही स्नायु हैं, और ये स्नायु इस संवाद को मस्तिष्क के पास पहुँचा भी रहे हैं; इसका चित्र भी मस्तिष्क में मौजूद है; किन्तु मन दूसरी ओर लगा है, इसलिए वह प्रतिक्रिया नहीं करता, अतएव आप उसके काटने का अनुभव नहीं करते। हमारे सामने कोई नया चित्र आने पर यदि मन प्रतिक्रिया न करे, तो हम उसके सम्बन्ध में कुछ जान ही न सकेंगे। किन्तु प्रतिक्रिया होते ही उसका ज्ञान होगा और तभी हम देखने, सुनने और अनुभव आदि करने में समर्थ होंगे। इस प्रतिक्रिया के साथ-साथ ज्ञान का प्रकाश होता है। अतएव हम देखते हैं कि शरीर कभी ज्ञान का प्रकाश नहीं कर सकता, क्योंकि जिस समय मनोयोग नहीं रहता, उस समय हम अनुभव नहीं कर पाते। ऐसी घटनाएँ सुनी गई हैं कि किसी-किसी विशेष अवस्था में एक व्यक्ति ऐसी भाषा बोलने में समर्थ हुआ है, जो उसने कभी नहीं सीखी। बाद में खोजने पर पता लगा है कि वह व्यक्ति बचपन में ऐसी जाति में रहा है, जो वह भाषा बोलती थी, और वही संस्कार उसके मस्तिष्क में रह गया।

यह सब वहीं पर संचित था; बाद में किसी कारण से उसके
में प्रतिक्रिया हुई और त्योंही ज्ञान आ गया और वह व्यक्ति
भाषा बोलने में समर्थ हुआ। इससे मालूम पड़ता है कि केव
मन ही पर्याप्त नहीं है, मन भी किसी के हाथ में यंत्र मात्र है
उस व्यक्ति की बाल्यावस्था में उसके मन में वह भाषा
भाव से अवस्थित थी, किन्तु वह उसे नहीं जानता था; पर बा
में एक ऐसा समय आया, जब वह उसे जान सका। इससे यह
प्रमाणित होता है कि मन के अतिरिक्त और भी कोई है—उ
व्यक्ति के बाल्यकाल में इस 'और कोई' ने उस शक्ति क
व्यवहार नहीं किया, किन्तु जब वह बड़ा हुआ, तब उसने उस
शक्ति का व्यवहार किया। पहले है यह शरीर, उसके बाद है
मन अर्थात् विचार का यंत्र, और फिर है इस मन के पीछे
विद्यमान वह आत्मा। आधुनिक दार्शनिक लोग विचार को
मस्तिष्क में स्थित परमाणुओं के विभिन्न प्रकार के परिवर्तन के
साथ अभिन्न मानते हैं, अतएव वे ऊपर कही हुई घटनावली की
व्याख्या नहीं कर पाते; इसी लिए वे साधारणतः इन सब बातों
को बिलकुल अस्वीकार कर देते हैं।

जो हो, मन के साथ मस्तिष्क का विशेष सम्बन्ध है और
शरीर का विनाश होने पर वह कार्य नहीं कर सकता। आत्मा
ही एकमात्र प्रकाशक है— मन उसके हाथों यंत्र के समान है।
बाहर के चक्षु आदि यंत्रों से विषय का चित्र गिरता है, और वे
उसको भीतर मस्तिष्क-केन्द्र में ले जाते हैं—कारण, आपको यह याद
रखना चाहिए कि चक्षु आदि केवल इन चित्रों के ग्रहण करनेवाले
हैं; भीतर के यंत्र अर्थात् मस्तिष्क के केन्द्र ही कार्य करते हैं।
संस्कृत भाषा में मस्तिष्क के इन सब केन्द्रों को इन्द्रिय कहते

—ये इन्द्रियाँ इन चित्रों को लेकर मन के पास अर्पित कर देती
। फिर मन इनको बुद्धि के निकट और बुद्धि उन्हें अपने सिंहासन
र विराजमान महा-महिमाशाली राजराजेश्वर आत्मा को प्रदान
रती है। तब आत्मा देखकर आवश्यक आदेश देती है।
र मन तुरन्त इन मस्तिष्क-केन्द्रों अर्थात् इन्द्रियों पर कार्य करता
और ये इन्द्रियाँ स्थूल शरीर पर। मनुष्य की आत्मा ही इन
ों की वास्तविक अनुभवकर्ता, शास्ता, स्रष्टा, सब कुछ है। हमने
ा कि आत्मा शरीर भी नहीं है, मन भी नहीं। आत्मा कोई
गिक-पदार्थ (compound) भी नहीं हो सकती। क्यों?
लिए कि जो कुछ यौगिक-पदार्थ है, वह हमारे दर्शन या
पना का विषय होता है। जिस विषय का हम दर्शन या
पना कुछ भी नहीं कर सकते, जिसे हम पकड़ नहीं सकते, जो
मूत है, न शक्ति, जो कार्य, कारण अथवा कार्य-कारण-सम्बन्ध
भी नहीं है, वह यौगिक अथवा मिश्र नहीं हो सकता।
र्जगत् तक ही मिश्र-पदार्थ का अधिकार है—उसके बाहर
र नहीं। सभी मिश्र-पदार्थ नियम के राज्य के अन्दर हैं—
म के राज्य के बाहर वे रह ही नहीं सकते। इसको और भी
ट रूप से कहें। यह गिलास एक योग से उत्पन्न पदार्थ है—
ो कारणों के मिलन से ही यह कार्य-रूप में परिणत हुआ है।
इन कारणों की समष्टिरूप गिलास नामक यह यौगिक-
र्थ कार्य-कारण के नियम के अन्तर्गत है। इसी प्रकार जहाँ-
कार्य-कारण-सम्बन्ध दीख पड़ेगा, वहाँ-वहाँ यौगिक-पदार्थ
अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा। उनके बाहर यौगिक-पदार्थ
स्तित्व की बात कहना कोरा पागलपन है। हम यह भी
े हैं कि अपनी इन्द्रियों के द्वारा हम जो कुछ अनुभव या

कल्पना कर पाते हैं, वही हमारा जगत् है—बाह्य वस्तुओं
हम इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते हैं और भीतर की वस्तु
हम मानस-प्रत्यक्ष अथवा उसकी कल्पना कर सकते हैं। अतए
जो कुछ हमारे शरीर के बाहर है, वह इन्द्रियों के भी बाहर
और जो हमारी कल्पना के बाहर है, वह हमारे मन के बाहर
और इसी लिए हमारे जगत् के भी बाहर है। अतएव कार्य-कारण
सम्बन्ध के बहिर्देश में स्वाधीन शास्ता आत्मा रहती है। ऐसा
होने से ही, वह नियमों के अन्तर्गत सभी वस्तुओं का नियम
करती है। *यह आत्मा नियम से अतीत है, इसलिए निश्चय ही*
मुक्तस्वभाव है; वह किसी प्रकार भी मिश्रण से उत्पन्न पदार्थ
नहीं हो सकती—अथवा किसी कारण का कार्य नहीं हो सकती।
उसका कभी विनाश नहीं हो सकता, क्योंकि विनाश का अर्थ है
किसी यौगिक-पदार्थ का अपने उपादानों में परिणत हो जाना।
अतएव, जो कभी संयोग से उत्पन्न नहीं हुई, उसका विनाश किस
प्रकार होगा? उसकी मृत्यु होती है या विनाश होता है ऐसा
कहना केवल कोरी मूर्खता है।

किन्तु यहीं पर इस प्रश्न की निश्चित मीमांसा नहीं हो
जाती। अब हम बड़े कठिन स्थान पर आ पहुँचे हैं—बड़ी सूक्ष्म
समस्या में आ उपस्थित हुए हैं। सम्भव है, आपमें से कुछ लोग
भयभीत भी हो जायें। हमने देखा कि यह आत्मा भूत, शक्ति
एवं विचार-रूप क्षुद्र जगत् के अतीत एक मौलिक (simple)
पदार्थ है, अतः इसका विनाश असम्भव है। इसी प्रकार उसका
जीवन भी असम्भव है। कारण, जिसका विनाश नहीं, उसका
जीवन भी कैसे हो सकता है? मृत्यु क्या है? मृत्यु एक पहलू है,
और जीवन उसी का एक दूसरा पहलू है। मृत्यु का और एक नाम है

जीवन, और जीवन का और एक नाम है मृत्यु। अभिव्यक्ति के एक रूपविशेष को हम जीवन कहते हैं, और उसी के अन्य रूप-विशेष को मृत्यु। जब तरंग ऊपर की ओर उठती है, तो मानो जीवन है और फिर जब वह गिर जाती है, तो मृत्यु है। जो वस्तु मृत्यु के अतीत है, वह निश्चय ही जन्म के भी अतीत है। मैं आपको फिर उस प्रथम सिद्धान्त की याद दिलाता हूँ कि मानवात्मा उस सर्वव्यापी जगन्मयी शक्ति अथवा ईश्वर का प्रकाश मात्र है। तो हम देखते हैं कि वह जीवन और मृत्यु दोनों के परे है। आप न कभी उत्पन्न हुए थे, न कभी मरेंगे। हमारे चारों ओर जो जन्म और मृत्यु दिखते हैं, वे फिर क्या हैं? वे तो केवल शरीर के हैं, क्योंकि आत्मा तो सदा-सर्वदा वर्तमान है। आप कहेंगे, "यह कैसे? हम इतने लोग यहाँ पर बैठे हुए हैं और आप कहते हैं, आत्मा सर्वव्यापी है!" मैं पूछता हूँ, जो पदार्थ नियम के, कार्य-कारण-सम्बन्ध के बाहर है, उसे सीमित करने की शक्ति किसमें है? यह गिलास एक सीमित पदार्थ है—यह सर्वव्यापक नहीं है, क्योंकि इसके चारों ओर की जड़राशि इसको इसी रूप में रहने को बाध्य करती है—इसे सर्वव्यापी नहीं होने देती। यह अपने आस-पास के प्रत्येक पदार्थ के द्वारा नियन्त्रित है, अतएव यह सीमित है। किन्तु जो वस्तु नियम के बाहर है, जिस पर कार्य करनेवाला कोई पदार्थ नहीं, वह कैसे सीमित हो सकती है? वह सर्वव्यापक होगी ही। आप सर्वत्र विद्यमान हैं। फिर, 'मैंने जन्म लिया है, मरनेवाला हूँ'—ये सब भाव क्या हैं? वे सब अज्ञान की बातें हैं, मन का भ्रम है। आपका न कभी जन्म हुआ था, न आप कभी मरेंगे। आपका जन्म भी नहीं हुआ, न कभी पुनर्जन्म होगा। आवागमन

का क्या अर्थ है ? कुछ नहीं। यह सब मूर्खता है। आप सब जगह मौजूद हैं। आवागमन जिसे कहते हैं, वह इस सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन के परिवर्तन के कारण उत्पन्न हुई एक मृग मरीचिका मात्र है। यह बराबर चल रहा है। यह आकाश पर तैरते हुए बादल के एक टुकड़े के समान है। जब यह चलता रहता है, तो प्रतीत होता है कि आकाश ही चल रहा है। कभी-कभी जब चन्द्रमा के ऊपर से बादल हो निकलते हैं, तो भ्रम होता है कि चन्द्रमा ही चल रहा है। जब आप गाड़ी में बैठे रहते हैं, तो मालूम होता है कि पृथ्वी चल रही है, और नाव पर बैठनेवाले को पानी चलता हुआ-सा मालूम होता है। वास्तव में न आप जा रहे हैं, न आ रहे हैं, न आपने जन्म लिया है, न फिर जन्म लेंगे। आप अनन्त हैं, सर्वव्यापी हैं—सभी कार्य-कारण-सम्बन्ध से अतीत, नित्यमुक्त, अज और अविनाशी। जन्म और मृत्यु का प्रश्न ही गलत है, महामूर्खता-पूर्ण है। मृत्यु हो ही कैसे सकती है, जब जन्म ही नहीं हुआ ?

किन्तु निर्दोष, तर्कसंगत सिद्धान्त पर पहुँचने के लिए हमें एक कदम और बढ़ना होगा। मार्ग के बीच में रुकना नहीं है। आप दार्शनिक हैं, आपके लिए बीच में रुकना शोभा नहीं देता। हाँ, तो यदि हम नियम के बाहर हैं, तो निश्चय ही हम सर्वज्ञ हैं; नित्यानन्दस्वरूप हैं; निश्चय ही सभी ज्ञान, सभी शक्ति और सर्वविध कल्याण हमारे अन्दर ही हैं। अवश्य, आप सभी सर्वज्ञ और सर्वव्यापी हैं। परन्तु इस प्रकार की सत्ता या पुरुष क्या एक से अधिक हो सकते हैं ? क्या लाखों करोड़ों पुरुष सर्वव्यापक हो सकते हैं ? कभी नहीं। तब फिर हम सबका क्या होगा ? वास्तव में केवल एक ही है, एक ही आत्मा है, और आप सब वह एक

आत्मा ही हैं। इस तुच्छ प्रकृति के पीछे वह आत्मा ही विराजमान है। एक ही पुरुष है—वही एकमात्र सत्ता है, वह सदानन्दस्वरूप, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, जन्मरहित और मृत्युहीन है। उसी की आज्ञा से आकाश फैला हुआ है, उसी की आज्ञा से वायु बह रही है, सूर्य चमक रहा है, सब जीवित हैं। वही प्रकृति का आधारस्वरूप है; प्रकृति उस सत्यस्वरूप पर प्रतिष्ठित होने के कारण ही सत्य प्रतीत होती है। वह आपकी आत्मा की भी आत्मा है। यही नहीं, आप स्वयं ही वह हैं, आप और वह एक ही हैं। जहाँ कहीं भी दो हैं, वहीं भय है, खतरा है, वहीं द्वन्द्व और संघर्ष हैं। जब सब एक ही है, तो किससे घृणा, किससे संघर्ष? जब सब कुछ वही है, तो आप किससे लड़ेंगे? जीवन-समस्या की वास्तविक मीमांसा यही है; इसी से वस्तु के स्वरूप की व्याख्या होती है। यही सिद्धि या पूर्णत्व है और यही ईश्वर है। जब तक आप अनेक देखते हैं, तब तक आप अज्ञान में हैं। "इस बहुत्वपूर्ण जगत् में जो उस एक को, इस परिवर्तनशील जगत् में जो उस अपरिवर्तनशील को अपनी आत्मा की आत्मा के रूप में देखता है, अपना स्वरूप समझता है, वही मुक्त है, वही आनन्दमय है, उसी ने लक्ष्य की प्राप्ति की है।" अतएव जान लो कि तुम ही वह हो, तुम ही जगत् के ईश्वर हो—'तत्त्वमसि'। ये धारणाएँ कि मैं पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, रोगी हूँ, स्वस्थ हूँ, बलवान् हूँ, निर्बल हूँ, अथवा यह कि मैं घृणा करता हूँ, मैं प्रेम करता हूँ, अथवा मेरे पास इतनी शक्ति है—सब भ्रम मात्र हैं। इनको छोड़ो। तुम्हें कौन दुर्बल बना सकता है? तुम्हें कौन भयभीत कर सकता है? जगत् में तुम्हीं तो एकमात्र सत्ता हो। तुम्हें किसका भय है? अतएव उठो, मुक्त हो जाओ। जान लो कि

जो कोई विचार या शब्द तुम्हें दुर्बल बनाता है, एकमात्र
अशुभ है। मनुष्य को दुर्बल और भयभीत बनानेवाला संसा
जो कुछ है, वही पाप है और उसी से बचना चाहिए।
कौन भयभीत कर सकता है? यदि सैकड़ों सूर्य पृथ्वी पर
पड़ें, सैकड़ों चन्द्र चूर-चूर हो जायँ, एक के बाद एक ब्रह्
विनष्ट होते चले जायँ, तो भी तुम्हारे लिए क्या? पर्वत
भाँति अटल रहो; तुम अविनाशी हो। तुम आत्मा हो, तु
जगत् के ईश्वर हो। कहो "शिवोऽहं, शिवोऽहं; मैं
सच्चिदानन्द हूँ।" पिंजड़े को तोड़ डालनेवाले सिंह की भाँ
तुम अपने बन्धन तोड़कर सदा के लिए मुक्त हो जाओ। तु
किसका भय है, तुम्हें कौन बाँधकर रख सकता है?—केव
अज्ञान और भ्रम; अन्य कुछ भी तुम्हें बाँध नहीं सकता। तु
शुद्धस्वरूप हो, नित्यानन्दमय हो।

यह मूर्खों का उपदेश है कि 'तुम पापी हो, अतएव एक
कोने में बैठकर हाय-हाय करते रहो।' यह उपदेश देना मूर्खता
ही नहीं, दुष्टता भी है। तुम सभी ईश्वर हो। ईश्वर न देख,
मनुष्य देखते हो! अतएव यदि तुममें साहस है, तो इस विश्वास
पर खड़े हो जाओ और उसके अनुसार अपना जीवन गढ़ डालो।
यदि कोई व्यक्ति तुम्हारा गला काटे, तो उसे मना मत करना,
क्योंकि तुम तो स्वयं अपना गला काट रहे हो। किसी गरीब का
यदि कुछ उपकार करो, तो उसके लिए तनिक भी अहंकार मत
लाना। वह तो तुम्हारे लिए उपासना मात्र है, उसमें अहंकार की
कौनसी बात? क्या तुम्हीं समस्त जगत् नहीं हो? कहीं ऐसी कोई
वस्तु है, जो तुम न हो? तुम जगत् की आत्मा हो। तुम्हीं
सूर्य, चन्द्र, तारा हो। समस्त जगत् तुम्हीं हो। किससे घृणा

करोगे और किससे झगड़ा करोगे? अतएव जान लो कि तुम वही हो, और इसी साँचे में अपना जीवन ढालो। जो व्यक्ति इस तत्त्व को जानकर अपना सारा जीवन उसके अनुसार गठन करता है, वह फिर कभी अन्धकार में मारा-मारा नहीं फिरता।

बहुत्व में एकत्व

(३ नवम्बर, १८९६ को लन्दन में दिया हुआ भाषण)

> पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः
> तस्मात् परान् पश्यति नान्तरात्मन् ।
> कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्-
> आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

"स्वयम्भू ने इन्द्रियों को बहिर्मुख होने का विधान बन
है, इसी लिए मनुष्य सामने की ओर (विषयों की ओर) दे
है, अन्तरात्मा को नहीं देखता । अमृतत्व-प्राप्ति की इच्छा र
वाले कोई-कोई ज्ञानी व्यक्ति विषयों से दृष्टि फेरकर अन्तर
आत्मा को देखा करते हैं ।" हम देख चुके हैं कि वेदों के संहि
भाग में तथा अन्य ग्रन्थों में भी, जगत् के तत्त्व का जो अ
सन्धान हो रहा था, उसमें बाहरी प्रकृति की तत्त्वालोचना द्वा
ही जगत् के कारण का अनुसन्धान करने की चेष्टा की गई थी
उसके बाद इन सभी सत्यान्वेषियों के हृदय में एक नवी
प्रकाश आलोकित हुआ; उन्होंने समझ लिया कि बहिर्जगत् वे
अनुसन्धान द्वारा वस्तु का वास्तविक स्वरूप जानना असम्भव
है । तो फिर किस प्रकार उसको जानना होगा ?—बाहर की
ओर से दृष्टि फिराकर अर्थात् भीतर की ओर दृष्टि करके ।
और यहाँ पर आत्मा का विशेषणस्वरूप जो 'प्रत्यक्' शब्द
प्रयुक्त हुआ है, वह भी एक विशेष भाव का द्योतक है । प्रत्यक्
अर्थात् जो भीतर की ओर गया है—हमारी अन्तरतम वस्तु
हृदय-केन्द्र; वह परम वस्तु, जिससे मानो सब कुछ बाहर आया

---

* कठोपनिषद्, २।१।१

है; वह मध्यवर्ती सूर्य, जिसकी किरणें हैं मन, शरीर, इन्द्रियाँ और हमारा सब कुछ।—

'पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥'*

'बालबुद्धि मनुष्य बाहरी काम्य वस्तुओं के पीछे दौड़ते फिरते हैं। इसी लिए सब ओर व्याप्त मृत्यु के पाश में बँध जाते हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुष अमृतत्व को जानकर अनित्य वस्तुओं में नित्य वस्तु की खोज नहीं करते।' यहाँ पर भी यही भाव प्रकट होता है कि सीमित वस्तुओं से पूर्ण बाह्य जगत् में असीम और अनन्त वस्तु की खोज व्यर्थ है—अनन्त की खोज अनन्त में ही करनी होगी, और हमारी अन्तर्वर्ती आत्मा ही एकमात्र अनन्त वस्तु है। शरीर, मन आदि जो जगत्प्रपंच हम देखते हैं अथवा जो हमारी चिन्ताएँ या विचार हैं, उनमें से कोई भी अनन्त नहीं हो सकता। इन सभी की उत्पत्ति काल में है और लय भी काल में ही। जो द्रष्टा साक्षी पुरुष इन सबको देख रहा है, अर्थात् मनुष्य की आत्मा जो सदा जाग्रत् है, वही एकमात्र अनन्त है, वही जगत् का कारणस्वरूप है; अनन्त की खोज करने के लिए हमें अनन्त में ही जाना पड़ेगा—उस अनन्त आत्मा में ही हम जगत् के कारण को देख पायेंगे। 'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (कठ—२।१।१०)। 'जो यहाँ है, वही वहाँ भी है; जो वहाँ है, वही यहाँ भी है। जो यहाँ नाना रूप देखते हैं, वे बारम्बार मृत्यु को प्राप्त होते हैं।' संहिताभाग में हम देखते हैं कि आर्यों में स्वर्ग जाने की विशेष रूप से इच्छा रहती थी। जब वे जगत्प्रपंच से विरक्त हो उठे, तो

* कठोपनिषद्, २।१।२

स्वभावतः ही उनके मन में एक ऐसे स्थान में जाने की इ
हुई, जहाँ दुःख बिलकुल न हो—केवल सुख-ही-सुख हो।
स्थानों का ही नाम उन्होंने स्वर्ग रखा—जहाँ केवल आनन्द हो
जहाँ शरीर अजर-अमर हो जायगा, मन भी वैसा ही हो जाय
और जहाँ वे पितृगणों के साथ सदा वास करेंगे। किन्तु दार्शनि
विचारों की उत्पत्ति होने के बाद इस प्रकार के स्वर्ग की धारण
असंगत और असम्भव मालूम पड़ने लगी। 'अनन्त किसी ए
देश में है', यह वाक्य ही स्वविरोधी है। किसी भी स्थानविशे
की उत्पत्ति और नाश काल में ही होते हैं। अतः उन्हें स्वर्गविषयक
धारणा का त्याग कर देना पड़ा। वे धीरे-धीरे समझ गए कि ये
सब स्वर्ग में रहनेवाले देवता एक समय इसी जगत् के मनुष्य
थे, बाद में किसी सत्कर्म के फलस्वरूप वे देवता बन गए; अतः
यह देवत्व विभिन्न पदों या ओहदों का नाम मात्र है। वेद का
कोई भी देवता किसी व्यक्तिविशेष का नाम नहीं है।

इन्द्र या वरुण किसी व्यक्ति के नाम नहीं। ये सब विभिन्न
पदों के नाम हैं। उनके मत के अनुसार, जो पहले इन्द्र थे, वे
अब इन्द्र नहीं हैं, उनका इन्द्रत्व अब नहीं है, एक अन्य व्यक्ति
यहाँ से जाकर उस पद पर आरूढ़ हो गया है। सभी देवताओं
के सम्बन्ध में इसी प्रकार समझना चाहिए। जो लोग कर्म के
बल से देवत्व-प्राप्ति के योग्य हो चुके हैं, वे ही इन पदों पर
समय-समय पर प्रतिष्ठित होते हैं। पर इनका भी विनाश होता
है। प्राचीन ऋग्वेद में देवताओं के सम्बन्ध में हम इस 'अमरत्व'
शब्द का व्यवहार देखते तो हैं, पर बाद में इसका एकदम
परित्याग कर दिया गया है; क्योंकि उन्होंने देखा कि यह
. . . देश-काल से अतीत होने के कारण किसी भौतिक वस्तु के

सम्बन्ध में प्रयुक्त नहीं हो सकता, चाहे वह वस्तु कितनी ही सूक्ष्म क्यों न हो। वह कितनी ही सूक्ष्म क्यों न हो, उसकी उत्पत्ति देश-काल में ही है, क्योंकि आकार की उत्पत्ति का प्रधान उपादान है देश। देश को छोड़कर आकार की कल्पना करके देखो, यह असम्भव है। देश ही आकार के निर्माण का एक विशिष्ट उपादान है—इस आकृति का निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। देश और काल माया के भीतर हैं। और स्वर्ग भी इस पृथ्वी के समान ही देश-काल की सीमा से बद्ध है। यह भाव उपनिषदों के निम्नलिखित श्लोकांश में व्यक्त किया गया है—'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह'—'जो कुछ यहाँ है, वह वहाँ है; जो कुछ वहाँ है, वही यहाँ भी है।' यदि ये देवता हैं, तो जो नियम यहाँ है, वही वहाँ भी लागू होगा। और सभी नियमों का चरम उद्देश्य है—विनाश, और बाद में फिर नए-नए रूप धारण करना। इस नियम के द्वारा सभी जड़ पदार्थ विभिन्न रूपों में परिवर्तित हो रहे हैं, और टूटकर, चूर-चूर होकर फिर उन्हीं जड़ कणों में परिणत हो रहे हैं। जिस किसी वस्तु की उत्पत्ति है, उसका विनाश होता ही है। अतएव यदि स्वर्ग है, तो वह भी इसी नियम के अधीन होगा।

हम देखते हैं कि इस संसार में सब प्रकार के सुख के पीछे, उसकी छाया के रूप में, कोई-न-कोई दुःख रहता ही है। जीवन के पीछे, उसकी छाया के रूप में, मृत्यु रहती है। वे दोनों सदा एक साथ ही रहते हैं। कारण, वे परस्पर पूर्ण रूप से विरोधी नहीं हैं, वे दोनों बिल्कुल पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं, वे एक ही वस्तु के दो विभिन्न रूप हैं, वह एक ही वस्तु जीवन-मृत्यु, सुख-दुःख, अच्छे-बुरे आदि रूप में प्रकाशित हो रही है। यह

धारणा कि अच्छा और बुरा ये दोनों सम्पूर्ण रूप से पृथक् वस्तुएँ हैं और अनन्त काल से चले आ रहे हैं, नितान्त असंगत है। वे वास्तव में एक ही वस्तु के विभिन्न रूप हैं—वह कभी अच्छे रूप में और कभी बुरे रूप में भासित हो रही है, बस। यह विभिन्नता प्रकारगत नहीं, परिमाणगत है। उनका भेद वास्तव में मात्रा के तारतम्य में है। हम देखते हैं कि एक ही स्नायु-प्रणाली अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के प्रवाह ले जाती है। किन्तु यदि स्नायुमण्डली किसी तरह बिगड़ जाय, तो फिर किसी प्रकार की अनुभूति न होगी। मान लो, एक स्नायु में पक्षाघात हो गया; तब उसमें से होकर जो सुखकर अनुभूति आती थी, वह अब नहीं आयगी, और दुःखकर अनुभूति भी नहीं आयगी। ये सुख-दुःख कभी भी पृथक् नहीं होते, वे मानो सर्वदा एकत्र ही रहते हैं। फिर, एक ही वस्तु जीवन में कभी सुख, तो कभी दुःख उत्पन्न करती है। एक ही वस्तु किसी को सुख, तो किसी को दुःख देती है। मांसाहारी को मांस खाने से अवश्य सुख मिलता है, पर जिसका मांस खाया जाता है, उसके लिए तो भयानक कष्ट है। ऐसा कोई विषय नहीं, जो सबको समान रूप से सुख देता हो। कुछ लोग सुखी हो रहे हैं और कुछ दुःखी। इसी प्रकार चलेगा। अतः यह स्पष्ट है कि यह द्वैतभाव वास्तव में मिथ्या है। इससे क्या निष्कर्ष प्राप्त हुआ? मैं पहले व्याख्यान में कह चुका हूँ कि जगत् में ऐसी अवस्था कभी आ ही नहीं सकती, जब सभी कुछ अच्छा हो जाय और बुरा कुछ भी न रहे। हो सकता है, इससे अनेक व्यक्तियों की चिर-पोषित आशा चूर्ण हो जाय, अनेक भयभीत भी हो उठें, र इसे स्वीकार करने के अतिरिक्त मैं अन्य कोई उपाय नहीं

देखता। हाँ, यदि मुझे कोई समझा दे कि वह सत्य है, तो मैं समझने को तैयार हूँ, पर जब तक बात मेरी समझ में नहीं आती, तब तक कैसे मान सकता हूँ ?

मेरे इस कथन के विरुद्ध ऊपर-ऊपर से युक्ति-युक्त मालूम पड़नेवाला एक तर्क यह है कि क्रमविकास से कालान्तर में सारा अशुभ चला जायगा—इसके फल से अशुभ इस प्रकार कम होते-होते लाखों वर्ष बाद एक ऐसा समय आयगा, जब वह समस्त नष्ट होकर केवल शुभ-ही-शुभ शेष रह जायगा। ऊपर से देखने पर यह युक्ति एकदम अकाट्य मालूम पड़ती है। भगवान करते, यह बात सत्य होती! उससे बड़ा ही आनन्द होता। पर इस युक्ति में एक दोष है। वह यह कि वह शुभ और अशुभ दोनों को निर्दिष्ट परिमाण में लेती है। वह मान लेती है कि एक निर्दिष्ट परिमाण में अशुभ है—मान लो कि वह १०० है; इसी प्रकार निर्दिष्ट परिमाण में शुभ भी है, और यह अशुभ *क्रमशः कम होता जा रहा है और केवल शुभ बचता जा रहा है।* किन्तु क्या वास्तव में ऐसा ही है? दुनिया का इतिहास इस बात का साक्षी है कि शुभ के समान अशुभ भी क्रमशः बढ़ रहा है। समाज के अत्यन्त निम्न स्तर के व्यक्ति को लीजिए। वह जंगल में रहता है, उसके भोग-सुख अल्प हैं, इसलिए उसके दुःख भी कम हैं। उसके दुःख केवल इन्द्रिय-विषयों तक ही सीमित हैं। यदि उसे पर्याप्त मात्रा में भोजन न मिले, तो वह दुःखी हो जाता है। उसे खूब भोजन दो, उसे स्वच्छन्द होकर घूमने-फिरने और शिकार करने दो, तो वह पूरी तरह सुखी हो जायगा। उसका सुख-दुःख केवल इन्द्रियों में आबद्ध है। मान लो कि उसका ज्ञान बढ़ने लगा। उसका सुख बढ़ रहा है, उसकी

बुद्धि विकसित हो रही है, वह जो सुख पहले इन्द्रियों में पाता था, अब वही सुख यह बुद्धि की वृत्तियों को चलाने में पाता है। अब वह एक सुन्दर कविता पाठ करके अपूर्व सुख का स्वाद लेता है। गणित की किसी समस्या की मीमांसा करने में ही अपना सारा जीवन काट देने में उसे परम सुख प्राप्त होता है। पर इसके साथ-साथ, असभ्य अवस्था में जिस तीव्र यन्त्रणा का उसने अनुभव नहीं किया, अब उसके स्नायु उसी तीव्र यन्त्रणा का अनुभव करने के भी क्रमशः आदी हो जाते हैं, अतः उसे तीव्र मानसिक कष्ट होता है। एक साधारण-सा उदाहरण लीजिए। तिब्बत में विवाह नहीं होता, अतः वहाँ प्रेमजनित ईर्ष्या भी नहीं पाई जाती, फिर भी हम जानते हैं कि विवाह अपेक्षाकृत उन्नत समाज का परिचायक है। तिब्बती लोग निष्कलंक स्वामी और निष्कलंक स्त्री के विशुद्ध दाम्पत्य-प्रेम का सुख नहीं जानते। किन्तु साथ ही किसी पुरुष या स्त्री के पतन ...ी जाने से दूसरे के मन में कितनी भयानक ईर्ष्या, कितना ...न्तर्दाह उपस्थित हो जाता है, यह भी वे नहीं जानते। एक ...ोर इस उच्च धारणा से सुख में वृद्धि तो हुई, किन्तु दूसरी ...र इससे दुःख की भी वृद्धि हुई।

आप अपने देश की ही बात लीजिए—पृथ्वी पर इसके ...ान धनी और विलासी देश दूसरा नहीं है, पर दुःख-कष्ट भी ...ाँ किस प्रबल रूप में विराजमान हैं, यह भी देखिए। अन्यान्य ...ों की अपेक्षा यहाँ पागलों की संख्या कितनी अधिक है! ...ा कारण यह है कि यहाँ के लोगों की वासनाएँ अत्यन्त ..., अत्यन्त प्रबल हैं। यहाँ के लोगों को जीवन का स्तर सर्वदा ... रखना होता है। आप लोग एक वर्ष में जितना खर्च

कर देते हैं, यह एक भारतीय के लिए जीवन-भर की सम्पत्ति के बराबर है। फिर आप लोग दूसरों को उपदेश भी नहीं दे सकते कि खर्च कम करो, क्योंकि यहाँ चारों ओर की अवस्था ही ऐसी है कि स्थानविशेष में इतने से कम खर्च में चलेगा ही नहीं—नहीं तो सामाजिक चक्र में आपको पिस जाना पड़ेगा। यह सामाजिक चक्र दिन-रात घूम रहा है—वह विधवा के आँसुओं की तनिक भी परवाह नहीं करता, अनाथ बालक-बालिकाओं के आर्तनाद पर तनिक भी कान नहीं देता। आपको भी इसी समाज में से होकर आगे बढ़ना होगा, नहीं तो इसी चक्र के नीचे पिस जाना होगा। यहाँ सर्वत्र यही अवस्था है। आप लोगों की भोग सम्बन्धी धारणा काफी विकसित है, आपका समाज भी अन्यान्य समाजों की अपेक्षा लोगों को अधिक आकर्षित करता है। आपके विषय-भोगों के भी नाना प्रकार के साधन हैं। पर जिनके पास आपके समान भोगों की सामग्री नहीं है, उनके दुःख भी आपकी अपेक्षा कम है। इसी प्रकार आप सर्वत्र देखेंगे। आपके मन में जितनी उच्च अभिलाषाएँ रहेंगी, आपको सुख भी उतना ही अधिक मिलेगा और उसी परिमाण में दुःख भी। एक मानो दूसरे की छाया के समान है। अशुभ कम होता जा रहा है यह बात सत्य हो सकती है, पर उसके साथ ही यह भी कहना पड़ेगा कि शुभ भी कम हो रहा है। किन्तु वास्तव में, एक ओर दुःख जैसा कम हो रहा है, दूसरी ओर वैसा ही क्या वह करोड़ोंगुना बढ़ नहीं रहा है? सच तो यह है कि सुख यदि समयुक्तान्तर श्रेणी (Arithmetical Progression) के नियम से बढ़ रहा है, तो दुःख समगुणितान्तर श्रेणी (Geometrical Progression) के नियम से। इसी का

नाम माया है ! यह न केवल सुखवाद है, न केवल दुःखवाद। वेदान्त यह नहीं कहता कि संसार केवल दुःखमय है। ऐसा कहना ही भूल है। और जगत् सुख से परिपूर्ण है, यह कहना भी ठीक नहीं है। बालकों को यह शिक्षा देना भूल है कि यह जगत् केवल मधुमय है—यहाँ केवल सुख है, केवल फूल हैं, केवल सौन्दर्य है। हम सारा जीवन इन्हीं फूलों का स्वप्न देखते हैं। फिर, किसी व्यक्ति ने दूसरे की अपेक्षा अधिक दुःख भोगा है, इसी लिए सब-का-सब दुःखमय है, यह कहना भी भूल है। संसार बस इस द्वैतभावपूर्ण अच्छे-बुरे का खेल है। वेदान्त इसके अतिरिक्त और एक बात कहता है। यह न सोचो कि अच्छा और बुरा दो सम्पूर्ण पृथक् वस्तुएँ हैं। वास्तव में वे एक ही वस्तु हैं। वह एक वस्तु ही भिन्न-भिन्न रूप से, भिन्न-भिन्न आकार में आविर्भूत हो एक ही व्यक्ति के मन में भिन्न-भिन्न भाव उत्पन्न कर रही है। अतएव वेदान्त का पहला कार्य है—ऊपर से भिन्न प्रतीत होनेवाले इस बाह्य जगत् में एकत्व का आविष्कार करना। पारसियों का मत है कि दो देवताओं ने मिलकर जगत् की सृष्टि की है। यह मत तो बहुत कम उन्नत मन का परिचायक है। उनके मत से, जो अच्छा देवता है, वह सभी सुखों का विधान कर रहा है और बुरा देवता सभी बुरे विषयों का। यह स्पष्ट है कि ऐसा होना असम्भव है; क्योंकि वास्तव में यदि इसी नियम से सभी कार्य होने लगें, तब तो प्रत्येक प्राकृतिक नियम के दो अंश हो जायँगे—एक को तो एक देवता चलायगा और जब वह चला जायगा, तो उसकी जगह दूसरा आकर दूसरे अंश को चलायगा। किन्तु वास्तव में हम देखते हैं कि जो शक्ति हमें अन्न-पानी देती है, वही दैवदुर्विपाक

से अनेकों का संहार भी करती है। फिर यह मत स्वीकार करने में एक और गड़बड़ यह है कि एक ही समय दो देवता कार्य कर रहे हैं। एक स्थान पर एक किसी का उपकार कर रहा है, और दूसरे स्थान पर दूसरा किसी का अपकार कर रहा है। फिर भी दोनों के बीच सामंजस्य बना रहता है—यह किस प्रकार सम्भव है? निस्सन्देह, यह मत जगत् के द्वैततत्व को प्रकाशित करने की एक बहुत ही अविकसित प्रणाली है।

अतएव हम देखते हैं कि केवल सुखवाद अथवा केवल दुःखवाद—किसी भी मत द्वारा जगत् की यथार्थ व्याख्या नहीं होती। कुछ घटनाएँ सुखवाद की पोषक हैं और कुछ दुःखवाद की। किन्तु क्रमशः हम देखेंगे कि वेदान्त में सभी दोष प्रकृति के कन्धों से हटाकर हमारे अपने ऊपर दे दिया जा रहा है। फिर वह हमें विशेष आशा भी देता है। वेदान्त वास्तव में अमंगल को अस्वीकार नहीं करता। वह जगत् की घटनाओं के सारे अंशों का विश्लेषण करता है—किसी भी विषय को छिपाकर रखना नहीं चाहता। वह मनुष्य को एकदम निराशा के सागर में नहीं डुबा देता। फिर वह अज्ञेयवादी भी नहीं है। उसने इस सुख-दुःख के प्रतिकार के उपाय का आविष्कार किया है, और यह प्रतिकार का उपाय वज्र के समान दृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित है; वह ऐसा झूठ-मूठ उपाय नहीं बताता, जो केवल बच्चा-भुलावा हो। मुझे याद है, जब मैं छोटा था, उस समय किसी युवक के पिता मर गए, जिससे वह बड़ा असहाय हो गया और एक बड़े परिवार का भार उसके गले पड़ गया। उसने देखा कि उसके पिता के मित्र लोग ही उसके प्रधान शत्रु हैं। एक दिन एक पादरी के साथ साक्षात् होने पर वह उनसे अपने दुःख की

कहानी कहने लगा और वे उसको सान्त्वना देने के लिए कहने लगे, 'जो होता है, अच्छा ही होता है; जो कुछ होता है, अच्छे के लिए ही होता है।' पुराने घाव को मखमल के कपड़े से ढक लेना जैसा है, पादरी की उपर्युक्त बात भी ठीक वैसी ही थी। यह हमारी अपनी दुर्बलता और अज्ञान का परिचायक है। छः मास बाद उस पादरी के घर एक सन्तान हुई। उसके उपलक्ष्य में जो उत्सव हुआ, उसमें वह युवक भी निमन्त्रित था। पादरी महोदय भगवान की पूजा आरम्भ करके बोले, 'ईश्वर की कृपा के लिए उसे धन्यवाद।' तब वह युवक खड़ा हो गया और बोला, 'यह क्या कह रहे हैं? उसकी कृपा है कहाँ? यह तो घोर अभिशाप है।' पादरी ने पूछा, 'सो कैसे?' युवक ने उत्तर दिया, 'जब मेरे पिता की मृत्यु हुई, तब ऊपर-ऊपर अमंगल होने पर भी उसे आपने मंगल कहा था। इस समय आपकी सन्तान का जन्म भी यद्यपि ऊपर-ऊपर आपको मंगल-सा लग रहा है, किन्तु वास्तव में मुझे तो यह महान् अमंगलकारी ही मालूम होता है।' इस प्रकार संसार के दुःख-अमंगल को ढक रखना ही क्या संसार का दुःख दूर करने का उपाय है? स्वयं अच्छे बनो और जो कष्ट पा रहे हैं, उनके प्रति दया-सम्पन्न होओ। जोड़-गाँठ करने की चेष्टा मत करो, उससे भव-रोग दूर नहीं होगा। वास्तव में हमें जगत् के अतीत जाना पड़ेगा।

यह जगत् सदा ही भले और बुरे का मिश्रण है। जहाँ भलाई देखो, समझ लो कि उसके पीछे बुराई भी छिपी है। किन्तु इन सब व्यक्त भावों के पीछे—इन सब विरोधी भावों के पीछे—वेदान्त उस एकत्व को ही देखता है। वेदान्त कहता है—बुराई छोड़ो और भलाई भी छोड़ो। ऐसा होने पर फिर शेष

क्या रहा? वेदान्त कहता है कि केवल अच्छे-बुरे का ही अस्तित्व है ऐसी बात नहीं। इनके पीछे एक ऐसी वस्तु है, जो वास्तव में तुम्हारी अपनी है, जो वास्तव में तुम्हीं हो, जो सब प्रकार के शुभ और सब प्रकार के अशुभ के अतीत है—और वह वस्तु ही शुभ और अशुभ के रूप से प्रकाशित हो रही है। पहले इसको जान लो, तभी तुम पूर्ण सुखवादी हो सकते हो, इसके पूर्व नहीं। ऐसा होने पर ही तुम सब पर विजय प्राप्त कर सकोगे। इन आपातप्रतीयमान व्यक्त भावों को अपने आधीन कर लो, तब तुम उस सत्य वस्तु को अपनी इच्छानुसार प्रकाशित कर सकोगे। पर पहले तुम्हें स्वयं अपना ही प्रभु बनना पड़ेगा। उठो, अपने को मुक्त करो, समस्त नियमों के राज्य के बाहर चले जाओ, क्योंकि ये नियम प्रकृति के सभी अंशों में व्याप्त नहीं हैं, वे तुम्हारे वास्तविक स्वरूप को बहुत कम ही प्रकाशित करते हैं। पहले समझ लो कि तुम प्रकृति के दास नहीं हो, न कभी थे और न कभी होगे—प्रकृति भले ही अनन्त मालूम पड़े, पर वास्तव में वह ससीम है। वह समुद्र का एक बिन्दु मात्र है, और तुम्हीं वास्तव में समुद्रस्वरूप हो, तुम चन्द्र, सूर्य, तारे—सभी के अतीत हो। तुम्हारे अनन्त स्वरूप की तुलना में वे केवल बुद्‌बुदों के समान हैं। यह जान लेने पर तुम अच्छे और बुरे दोनों पर विजय पा लोगे। तब तुम्हारी सारी दृष्टि एकदम परिवर्तित हो जायगी और तुम खड़े होकर कह सकोगे, 'मंगल कितना सुन्दर है और अमंगल भी कितना अद्‌भुत है!'

यही वेदान्त की शिक्षा है। वेदान्त यह नहीं कहता कि स्वर्ण-पत्र से घाव को ढाँके रखो और घाव जितना ही पकता

जाय, उसे और भी स्वर्ण-पत्रों से मढ़ दो। यह जीवन एक कठिन समस्या है, इसमें सन्देह नहीं। यद्यपि यह वज्र के समान दुर्भेद्य प्रतीत होता है, फिर भी प्राणपण से इसके बाहर जाने का प्रयत्न करो। आत्मा इस देह की अपेक्षा अनन्तगुनी शक्तिमान है! वेदान्त तुम्हारे कर्म-फल के लिए किसी देवता को उत्तरदायी नहीं बनाता; वह कहता है, तुम स्वयं ही अपने भाग्य के निर्माता हो। तुम अपने ही कर्म से अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के फल भोग रहे हो, तुम अपने ही हाथों से अपनी आँखें मूँदकर कहते हो—अन्धकार है। हाथ हटा लो—प्रकाश दीख पड़ेगा। तुम ज्योतिस्वरूप हो, तुम पहले से ही सिद्ध हो। अब हम समझते हैं कि 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'—इस श्रुति-वाक्य का क्या अर्थ है।

हम किस प्रकार इस तत्त्व को जान सकते हैं? यह मन जो इतना भ्रान्त और दुर्बल है, जो थोड़े से में ही विभिन्न दिशाओं में दौड़ जाता है, इस मन को भी सबल किया जा सकता है, जिससे वह उस ज्ञान का—उस एकत्व का आभास पा सके। और यह ज्ञान ही पुनः-पुनः मृत्यु के हाथों से हमारी रक्षा करता है। "यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति। एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति।" (कठ० अ० २, वल्ली १, श्लोक १४) "जल उच्च, दुर्गम भूमि में बरसकर जिस प्रकार पर्वतों में बह जाता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति गुणों को पृथक् करके देखता है, वह उन्हीं का अनुवर्तन करता है।" वास्तविक शक्ति एक है, केवल माया में पड़कर अनेक हो गई है। अनेक के पीछे मत दौड़ो, बस उसी एक की ओर अग्रसर होओ। "हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।

नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्।" (कठ० अ० २, वल्ली २, श्लोक २) "वह (वही आत्मा) आकाशवासी सूर्य, अन्तरिक्षवासी वायु, वेदिवासी अग्नि और कलशवासी सोमरस है। वही मनुष्य, देवता, यज्ञ और आकाश में है, वही जल में, पृथ्वी पर, यज्ञ में और पर्वत पर उत्पन्न होता है; वह सत्य है, वह महान् है।" "अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।" "वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।" (कठ० अ० २, वल्ली २, श्लोक ९-१०) "जिस प्रकार एक ही अग्नि जगत् में प्रविष्ट होकर दाह्य वस्तु के रूप-भेद से भिन्न-भिन्न रूप धारण करती है, उसी प्रकार सब भूतों की वह एक अन्तरात्मा नाना वस्तुओं के भेद से उस-उस वस्तु का रूप धारण किए हुए है, और सबके बाहर भी है। जिस प्रकार एक ही वायु जगत् में प्रविष्ट होकर नाना वस्तुओं के भेद से तत्तद्रूप हो गई है, उसी प्रकार सब भूतों की वही एक अन्तरात्मा नाना वस्तुओं के भेद से उस-उस रूप की हो गई है और उनके बाहर भी है।" जब तुम इस एकत्व की उपलब्धि करोगे, तभी यह अवस्था आयगी, उससे पूर्व नहीं। यही वास्तविक सुखवाद है—सभी जगह उसके दर्शन करना। अब प्रश्न यह है कि यदि यह सत्य हो, यदि वह शुद्धस्वरूप, अनन्त आत्मा इन सबके भीतर प्रवेश करके विद्यमान हो, तो फिर वह क्यों सुख-दुःख भोगती है, क्यों वह अपवित्र होकर दुःख-भोग करती है? उपनिषद् कहते हैं कि वह दुःख का अनुभव नहीं करती। "सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषै-

र्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।" (कठ० अ० २, वल्ली २, श्लोक ११) "सभी लोगों का चक्षुस्वरूप सूर्य जिस प्रकार चक्षु-ग्राह्य बाह्य अपवित्र वस्तु के साथ लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सब प्राणियों की एकमात्र अन्तरात्मा जगत् सम्बन्धी दुःख के साथ लिप्त नहीं होती।" क्योंकि वह फिर जगत् के अतीत भी है। पीलिया हो जाने पर हमें सभी कुछ पीले रंग का दिखाई पड़ता है, पर इससे सूर्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। "एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।" (कठ० अ० २, वल्ली २, श्लोक १२) "जो एक है, सबका नियन्ता और सब प्राणियों की अन्तरात्मा है, जो अपने एक रूप को अनेक प्रकार का कर लेता है, उसका दर्शन जो ज्ञानी पुरुष अपने में करते हैं, वे ही नित्य सुखी हैं, अन्य नहीं।" "नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।" (कठ० अ० २, वल्ली २, श्लोक १३) "जो अनित्य वस्तुओं में नित्य है, जो चेतनावालों में चेतन है, जो अकेले ही अनेकों की काम्य वस्तुओं का विधान करता है, उसका जो ज्ञानी लोग अपने अन्दर दर्शन करते हैं, उन्हीं को नित्य शान्ति मिलती है, औरों को नहीं।" बाह्य जगत् में वह कहाँ मिल सकता है? सूर्य, चन्द्र अथवा तारे उसको कैसे पा सकते हैं? "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः, तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।" (कठ० अ० २, वल्ली २, श्लोक १५) "वहाँ सूर्य प्रकाश नहीं देता, चन्द्र, तारे आदि नहीं

चमकते, ये बिजलियाँ भी नहीं चमकतीं, फिर अग्नि की क्या बात ? सभी वस्तुएँ उस प्रकाशमान से ही प्रकाशित होती हैं, उसी की दीप्ति से सब दीप्त होते हैं।" "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वैतत्।" (कठ० अ० २, वल्ली ३, श्लोक १) "ऊपर की ओर जिसका मूल और नीचे की ओर जिसकी शाखाएँ हैं, ऐसा यह चिरन्तन अश्वत्थ वृक्ष (संसार वृक्ष) है। वही उज्ज्वल है, वही ब्रह्म है, उसी को अमृत कहते हैं। समस्त संसार उसी में आश्रित है। कोई उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। यही वह आत्मा है।"

वेद के ब्राह्मण भाग में नाना प्रकार के स्वर्गों की बातें हैं। उपनिषदों का कहना है कि स्वर्ग जाने की इस वासना का भी त्याग करना होगा। इन्द्रलोक या वरुणलोक जाने से ही ब्रह्मदर्शन नहीं हो जाता, वरन् इस आत्मा में ही ब्रह्म का स्पष्ट रूप से दर्शन होता है। "यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके।" (कठ० अ० २, वल्ली ३, श्लोक ५) "जिस प्रकार ऐने में लोग अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से देखते हैं, उसी प्रकार आत्मा में ब्रह्म का दर्शन होता है। जिस प्रकार स्वप्न में हम अपने को अस्पष्ट रूप से अनुभव करते हैं, उसी प्रकार पितृलोक में ब्रह्मदर्शन होता है। जिस प्रकार जल में लोग अपना रूप देखते हैं, उसी प्रकार गन्धर्वलोक में ब्रह्मदर्शन होता है। जिस प्रकार प्रकाश और छाया परस्पर पृथक् हैं, उसी प्रकार ब्रह्मलोक में ब्रह्म और जगत् स्पष्ट रूप से पृथक् मालूम पड़ते हैं।" किन्तु फिर भी पूर्ण रूप से ब्रह्मदर्शन

नहीं होता। अतएव वेदान्त कहता है कि हमारी अपनी आत्मा ही सर्वोच्च स्वर्ग है, मानवात्मा ही पूजा के लिए सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है, वह सभी स्वर्गों से श्रेष्ठ है। कारण, इस आत्मा में उस सत्य का जैसा स्पष्ट अनुभव होता है, वैसा और कहीं भी नहीं होता। एक स्थान से अन्य स्थान में जाने से ही आत्म-दर्शन में कुछ विशेष सहायता नहीं हो जाती। मैं जब भारतवर्ष में था, तो सोचता था कि किसी गुफा में बैठने पर शायद खूब स्पष्ट रूप से ब्रह्म की अनुभूति होती होगी, परन्तु उसके बाद देखा कि बात वैसी नहीं है। फिर सोचा, जंगल में जाकर बैठने से शायद सुविधा होगी। काशी की बात भी मन में आई। असल बात यह है कि सभी स्थान एक प्रकार के हैं, क्योंकि हम स्वयं अपना जगत् रच लेते हैं। यदि मैं बुरा बन जाऊँ, तो सारा जगत् मुझे बुरा दीख पड़ेगा। उपनिषद् यही कहते हैं। सर्वत्र एक ही नियम लागू होता है। यदि मेरी यहाँ मृत्यु हो जाय और मैं स्वर्ग चला जाऊँ, तो वहाँ भी मैं सब कुछ यहीं के समान देखूँगा। जब तक आप पवित्र नहीं हो जाते, तब तक गुफा, जंगल, काशी अथवा स्वर्ग जाने से कोई विशेष लाभ नहीं। और यदि आप अपने चित्तरूपी दर्पण को निर्मल कर सकें, तब आप चाहे कहीं भी रहें, आप प्रकृत सत्य का अनुभव करेंगे। अतएव इधर-उधर भटकना शक्ति का व्यर्थ ही क्षय करना मात्र है। उसी शक्ति को यदि चित्त-दर्पण को निर्मल बनाने में लगाया जाय, तो कितना अच्छा हो! निम्नलिखित श्लोक में इसी भाव का वर्णन है:—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।

हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥
(कठ० अ० २, वल्ली ३, श्लोक ९)

—"उसका रूप देखने की वस्तु नहीं। कोई उसको आँख से नहीं देख सकता। हृदय, संशयरहित बुद्धि एवं मनन के द्वारा वह प्रकाशित होता है। जो इस आत्मा को जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं।" जिन लोगों ने राजयोग सम्बन्धी मेरे व्याख्यान सुने हैं, उनसे मैं कहता हूँ कि वह योग ज्ञानयोग से कुछ भिन्न प्रकार का है। ज्ञानयोग का लक्षण इस प्रकार कहा गया है:—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥
(कठ० अ० २, वल्ली ३, श्लोक १०)

—अर्थात् जब सारी इन्द्रियाँ संयत हो जाती हैं, जब मनुष्य उनको अपना दास बनाकर रखता है, जब वे मन को चंचल नहीं कर सकतीं, तभी योगी चरम गति को प्राप्त होता है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥
(कठ० अ० २, वल्ली ३, श्लोक १४, १५)

"जो सब कामनाएँ मर्त्य जीव के हृदय का आश्रय लेकर रहती हैं, वे जब नष्ट हो जाती हैं, तब मनुष्य अमर हो जाता और यहीं ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। जब इस संसार में हृदय की सारी ग्रन्थियाँ कट जाती हैं, तब मनुष्य अमर हो जाता है। यही उपदेश है।"

साधारणतः लोग कहते हैं कि वेदान्त, केवल वेदान्त क्यों, भारत के सारे दर्शन और धर्म इस जगत् को छोड़कर इसके बाहर जाने का उपदेश देते हैं। किन्तु उपर्युक्त दोनों श्लोकों से यह प्रमाणित होता है कि वे स्वर्ग अथवा अन्य कहीं जाना नहीं चाहते, प्रत्युत वे तो कहते हैं कि स्वर्ग के भोग, सुख, दुःख सब क्षणस्थायी हैं। जब तक हम दुर्बल रहेंगे, तब तक हमें स्वर्ग-नरक आदि में घूमना पड़ेगा। आत्मा ही एकमात्र वास्तविक सत्य है। वे यह भी कहते हैं कि आत्महत्या द्वारा जन्म-मृत्यु के इस प्रवाह को पार नहीं किया जा सकता। हाँ, वास्तविक मार्ग पाना अत्यन्त कठिन अवश्य है। पाश्चात्य लोगों के समान हिन्दू भी कार्यकुशल हैं, पर हाँ, दोनों का दृष्टिकोण भिन्न है। पश्चिमी लोग कहते हैं, एक अच्छा-सा मकान बनाओ, उत्तम भोजन करो, उत्तम वस्त्र पहनो, विज्ञान की चर्चा करो, बुद्धि की उन्नति करो। इन सबमें वे बड़े व्यावहारिक हैं। किन्तु हिन्दू लोग कहते हैं, आत्मज्ञान ही जगत् का ज्ञान है। वे उसी आत्मज्ञान के आनन्द में विभोर होकर रहना चाहते हैं। अमेरिका में एक प्रसिद्ध अज्ञेयवादी वक्ता हैं—वे एक अत्यन्त सज्जन पुरुष हैं और एक बड़े सुन्दर वक्ता भी। उन्होंने धर्म के सम्बन्ध में एक व्याख्यान दिया। उन्होंने उसमें कहा कि धर्म की कोई आवश्यकता नहीं, परलोक को लेकर अपना मस्तिष्क खराब करने की हमें तनिक भी आवश्यकता नहीं। अपने मत को समझाने के लिए उन्होंने एक उदाहरण देते हुए कहा—संसार मानो एक सन्तरा है और हम उसका सब रस बाहर निकाल लेना चाहते हैं। मेरी एक बार उनसे भेंट हुई। मैंने उनसे कहा, "मैं आपके साथ सहमत हूँ, मेरे पास भी फल है,

भी इसका सब रस निकाल लेना चाहता हूँ। पर आपसे मेरा मतभेद है केवल इस फल को लेकर। आप चाहते हैं सन्तरा और मैं चाहता हूँ आम। आप समझते हैं कि संसार में आकर दूध खा-पी लेने और कुछ वैज्ञानिक तत्त्व जान लेने से ही बस पर्याप्त हो गया; पर आपको यह कहने का कोई अधिकार नहीं कि इसे छोड़कर मनुष्य का और कोई कर्तव्य ही नहीं है। मेरे लिए तो यह धारणा बिलकुल तुच्छ है। यदि जीवन का एकमात्र कार्य यह जानना ही हो कि सेब किस प्रकार भूमि पर गिरता है अथवा विद्युत् का प्रवाह किस प्रकार स्नायुओं को उत्तेजित करता है, तब तो मैं इसी क्षण आत्महत्या कर लूँ! मेरा संकल्प है कि मैं सभी वस्तुओं के मर्म की खोज करूँगा--जीवन का वास्तविक रहस्य क्या है यह जानूँगा। आप केवल प्राण की विभिन्न अभिव्यक्तियों की चर्चा करते हैं, पर मैं तो प्राण का स्वरूप ही जान लेना चाहता हूँ। मैं इस जीवन में ही समस्त रस सोख लेना चाहता हूँ। मेरा दर्शन कहता है कि जगत् और जीवन का समस्त रहस्य जान लेना होगा, स्वर्ग-नरक आदि का सारा कुसंस्कार छोड़ देना होगा, यद्यपि उनका अस्तित्व उसी अर्थ में है, जिस अर्थ में इस पृथ्वी का अस्तित्व है। मैं इस जीवन की अन्तरात्मा को जानूँगा—उसका वास्तविक स्वरूप जानूँगा, वह क्या है, यह जानूँगा; वह किस प्रकार कार्य करती है और उसका प्रकाश क्या है, केवल इतना जानकर मेरी तृप्ति नहीं होगी। मैं सभी वस्तुओं का 'क्यों' जानना चाहता हूँ—'कैसे होता है' यह खोज बालक करते रहें। विज्ञान और है क्या? आपके ही किसी बड़े आदमी ने कहा है, "सिगरेट पीते समय जो-जो होता

है, यह सब यदि मैं निगरर रखूँ, तो यही निगरेट का विज्ञान हो जायगा।' वैज्ञानिक होना अवश्य अच्छा है और गौरव की बात है—ईश्वर उनके अनुसन्धान में सहायता करें, उन्हें आशीर्वाद दें; पर जब कोई कहता है कि यह विज्ञान-चर्चा ही सर्वस्व है, इसके अतिरिक्त जीवन का और कोई उद्देश्य नहीं, तब समझ लेना चाहिए कि वह मूर्खोचित बात कह रहा है। उसने जीवन के मूल रहस्य को जानने की कभी चेष्टा नहीं की; प्रकृत वस्तु क्या है, इस सम्बन्ध में उसने कभी आलोचना नहीं की। मैं सहज ही तर्क द्वारा यह समझा दे सकता हूँ कि आपका जो कुछ ज्ञान है, सब आधारहीन है। आप प्राण की विभिन्न अभिव्यक्तियों को लेकर चर्चा कर रहे हैं, पर जब मैं आपसे पूछता हूँ कि प्राण क्या है, तो आप कहते हैं, 'मैं नहीं जानता'। ठीक है, आपको जो अच्छा लगे, करें, कोई इसमें बाधा नहीं देता, पर हाँ, मुझे अपने ही भाव में रहने दें।"

आप यह भी ध्यान दें कि मैं पूर्णरूपेण व्यवहार-कुशल हूँ—मेरा जो भाव है, उसे कार्य-रूप में परिणत करता रहता हूँ। अतएव आपकी इस बात में कोई अर्थ नहीं कि केवल पाश्चात्य देश ही व्यवहार-कुशल हैं। आप एक ढंग से व्यवहार-कुशल हैं, तो मैं दूसरे ढंग से। इस संसार में विभिन्न प्रकार की प्रकृतिवाले मनुष्य हैं। यदि प्राच्य देश के किसी व्यक्ति से कहा जाय कि सारा जीवन एक पैर पर खड़ा रहने से वह सत्य को पा सकेगा, तो वह सारा जीवन एक पैर पर ही खड़ा रहेगा। यदि पाश्चात्य देशों में लोग सुनें कि किसी बर्बर देश में कहीं पर सोने की खदान है, तो हजारों लोग सोना पाने की आशा में अपने प्राणों की बाजी लगा देंगे—और शायद उनमें से एक ही

तकार्य होगा ! इस दूसरे प्रकार के मनुष्यों ने भी सुना है कि
ात्मा नाम की कोई चीज है, पर वे उसकी मीमांसा का भार
रोहितों पर डालकर निश्चिन्त हो जाते हैं। पर पहले प्रकार
ा मनुष्य सोना पाने के लिए बर्बरों के देश में जाने को राजी
' होगा; कहेगा, 'नहीं, उसमें खतरे की आशंका है।' पर यदि
ासे कहा जाय कि एक ऊँचे पर्वत के शिखर पर एक अद्भुत
ाधु रहते हैं, जो उसे आत्मज्ञान दे सकते हैं, तो वह तुरन्त उस
शेखर पर चढ़ने को उद्यत हो जायगा—फिर इस प्रयत्न में
उसके प्राण ही क्यों न चले जायँ। दोनों ही प्रकार के व्यक्ति
व्यवहार-कुशल हैं, पर भूल यहाँ पर है कि आप लोग इस
ारिदृश्यमान संसार को ही सब कुछ समझ बैठते हैं। आपका
जीवन क्षणस्थायी इन्द्रिय-भोग मात्र है—उसमें कुछ भी नित्यता
नहीं है, प्रत्युत उससे दुःख क्रमशः बढ़ता ही जाता है। हमारे
मार्ग में अनन्त शान्ति है, और आपके मार्ग में अनन्त दुःख।

मैं यह नहीं कहता कि आपका दृष्टिकोण गलत है—आप जिसे व्यावहारिक मार्ग कहते हैं, वह भ्रम है। आपने जैसा समझा है, वैसा करें। उससे परम मंगल होगा—लोगों का बड़ा हित होगा, पर इसी कारण मेरे दृष्टिकोण पर दोषारोपण मत करें। मेरा मार्ग भी अपने ढंग से मेरे लिए व्यावहारिक है। आइए, हम सब अपने-अपने ढंग से कार्य करें। भगवान करते, हम दोनों ही ओर समान रूप से कार्य-कुशल हो सकते ! मैंने ऐसे अनेक वैज्ञानिक देखे हैं, जो विज्ञान और अध्यात्म-तत्त्व दोनों में समान रूप से कार्य-पटु थे—और मैं आशा करता हूँ कि एक समय आयगा, जब समस्त मानवजाति इसी प्रकार व्यवहार-कुशल हो जायगी। मान लीजिए, एक कड़ाही में जल गरम हो रहा

है—उस समय क्या होता है, इस बात की ओर यदि आप गौर करें, तो देखेंगे कि एक कोने में एक बुद्बुद उठ रहा है, दूसरे कोने में एक और उठ रहा है। ये बुद्बुद क्रमशः बढ़ते जाते हैं और अन्त में सब मिलकर एक प्रबल हलचल उत्पन्न कर देते हैं। यह संसार भी ऐसा ही है। प्रत्येक व्यक्ति मानो एक बुद्बुद है, और विभिन्न राष्ट्र मानो कुछ बुद्बुदों की समष्टि हैं। क्रमशः राष्ट्रों में परस्पर मेल होता जा रहा है, और मेरी यह दृढ़ धारणा है कि एक दिन ऐसा आयगा, जब राष्ट्र नामक कोई वस्तु नहीं रह जायगी—राष्ट्र-राष्ट्र का भेद दूर हो जायगा। हम चाहे इच्छा करें या न करें, हम जिस एकत्व की ओर अग्रसर होते जा रहे हैं, वह एक दिन प्रकाशित होगा ही। वास्तव में, हम सबके बीच भ्रातृ-सम्बन्ध स्वाभाविक ही है, पर हम सब इस समय पृथक् हो गए हैं। ऐसा समय अवश्य आयगा, जब ये सब विभिन्न भाव आकर मिल जायँगे—प्रत्येक व्यक्ति वैज्ञानिक विषय के ही समान आध्यात्मिक विषय में भी व्यवहार-कुशल हो जायगा, और तब वह एकत्व, वह सम्मिलन जगत् में व्याप्त हो जायगा। तब सारा जगत् जीवन्मुक्त हो जायगा। अपनी ईर्ष्या, घृणा, मेल और विरोध में से होते हुए हम उसी एक दिशा में चले जा रहे हैं। एक वेगवती नदी समुद्र की ओर बही जा रही है। छोटे-छोटे कागज के टुकड़े, तिनके आदि इसमें बहे जा रहे हैं। ये भले ही इधर-उधर जाने की चेष्टा करें, पर अन्त में उन्हें अवश्य समुद्र में मिल जाना पड़ेगा। इसी प्रकार तुम और मैं, यही क्यों, सारी प्रकृति कागज के क्षुद्र-क्षुद्र टुकड़ों की ... उस अनन्त पूर्णता के सागर ईश्वर की ओर अग्रसर हो ... और भले ही हम इधर-उधर जाने का प्रयत्न करें, पर

अन्त में हम भी जीवन और आनन्द के उस अनन्त समुद्र में पहुंच जायेंगे।

अन्त में हम भी जीवन और आनन्द के उस अनन्त समुद्र में पहुँच जायेंगे ।

सभी वस्तुओं में ब्रह्मदर्शन

(२७ अक्टूबर, १८९६ को लन्दन में दिया हुआ भाषण)

हमने देखा कि हम अपने दुःखों को दूर करने की जितन ही चेष्टा क्यों न करें, परन्तु फिर भी हमारे जीवन का अधि कांश अवश्यमेव दुःखपूर्ण रहेगा। और यह दुःखराशि वास्तव में हमारे लिए एक प्रकार से अनन्त है। हम अनादि काल से इस दुःख के प्रतिकार की चेष्टाएँ करते आ रहे हैं, पर यह जैसा था वैसा ही अब भी है। हम इस दुःख को दूर करने के लिए जितने ही उपाय निकालते हैं, उतना ही हम देखते हैं कि जगत् में और भी कितना दुःख गुप्त भाव से विद्यमान है। हमने यह भी देखा कि सभी धर्म कहते हैं—इस दुःख-चक्र से बाहर निकलने का एकमात्र उपाय है ईश्वर। सभी धर्म कहते हैं कि आजकल के प्रत्यक्षवादियों के मतानुसार यदि संसार को उसके परिदृश्यमान रूप में ही ग्रहण कर लिया जाय, तो फिर दुःख के सिवा और कुछ न रहेगा। वे यह भी कहते हैं—इस जगत् के अतीत और भी कुछ है। यह पंचेन्द्रियग्राह्य जीवन, यह भौतिक जीवन ही पर्याप्त नहीं है—यह तो वास्तविक जीवन का अत्यन्त सामान्य अंश मात्र है, वास्तव में यह अति स्थूल व्यापार मात्र है। इसके पीछे, इसके अतीत वह अनन्त विद्यमान है, जहाँ दुःख का लेशमात्र भी नहीं। उसे कोई गॉड, कोई अल्लाह, कोई जिहोवा, कोई जोव और कोई और कुछ कहता है। वेदान्ती उसे ब्रह्म कहते हैं। यह सत्य है कि जगत् के अतीत जाना पड़ेगा, पर तो भी हमें इस जगत् में जीवन-धारण तो करना ही पड़ेगा। तो फिर इसकी मीमांसा क्या है ?

'जगत् के बाहर जाना होगा', सभी धर्मों के इस उपदेश से साधारणतः मन में यही भावना उदित होती है कि शायद आत्महत्या करना ही श्रेयस्कर है। प्रश्न यह है कि इस जीवन के दुःखों का प्रतिकार क्या है, और इसका जो उत्तर दिया जाता है, उससे तो आपाततः यही बोध होता है कि जीवन का त्याग कर देना ही इसका एकमात्र उपाय है। इस उत्तर से मुझे एक प्राचीन कथा याद आती है। किसी के मुँह पर एक मच्छर बैठा था। उसके एक मित्र ने उस मच्छर को मारने के लिए इतने जोर से घूँसा मारा कि मच्छर के साथ ही वह मनुष्य भी मर गया! पूर्वोक्त प्रतिकार का उपाय मानो ठीक इसी प्रकार का उपदेश देता है।

जिसने इस संसार को अच्छी तरह जान लिया है, वह कदापि यह अस्वीकार नहीं कर सकता कि जीवन दुःखपूर्ण है, यह संसार दुःखपूर्ण है। किन्तु सारे धर्म इसका क्या प्रतिकार बताते हैं? वे कहते हैं कि यह संसार कुछ भी नहीं है; इस संसार के बाहर ऐसा कुछ है, जो वास्तविक सत्य है। यहीं पर वास्तव में विवाद प्रारम्भ होता है। यह उपाय तो मानो हमें अपना सब कुछ नष्ट करके फेंक देने का उपदेश देता है। तब फिर यह प्रतिकार का उपाय कैसे होगा? तब क्या कोई उपाय नहीं है? एक उपाय और भी बतलाया जाता है। वह यह है: वेदान्त कहता है—विभिन्न धर्म जो कुछ कहते हैं, सब सत्य है, पर इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है, यह समझ लेना होगा। बहुधा लोग धर्मों के उपदेशों को ठीक उलटा ही समझ लेते हैं, और वे सब धर्म भी इस विषय में कोई स्पष्ट रूप से नहीं कहते। मस्तिष्क एवं हृदय दोनों की ही हमें आवश्यकता है। अवश्य हृदय बहुत

श्रेष्ठ है—हृदय के भीतर से ही जीवन को उच्च पथ
जानेवाले महान् भावों का स्फुरण होता है। मस्तिष्कवा
हृदयशून्य होने की अपेक्षा में तो यह सौ बार पसन्द करूँ
मेरे कुछ भी मस्तिष्क न हो, पर थोड़ासा हृदय हो।
हृदय है, उसी का जीवन सम्भव है, उसी की उन्नति
है; किन्तु जिसके तनिक भी हृदय नहीं, केवल मस्तिष्क है
सूखकर मर जाता है।

परन्तु हम यह भी जानते हैं कि जो केवल अपने हृद
द्वारा परिचालित होते हैं, उन्हें अनेक कष्ट भोगने पड़
क्योंकि प्रायः ही उनके भ्रम में पड़ने की सम्भावना रहती
हमको चाहिए—हृदय और मस्तिष्क का सम्मिलन। मेरे कहने
अर्थ यह नहीं कि कुछ हृदय और कुछ मस्तिष्क लेकर हम
का सामंजस्य कर दें, पर प्रत्येक व्यक्ति का हृदय अनन्त हो
साथ-ही-साथ उसमें अनन्त परिमाण में विचार-बुद्धि भी रहे।

इस संसार में हम जो कुछ चाहते हैं, उसकी क्या
सीमा है? क्या संसार अनन्त नहीं है? यहाँ तो अनन्त परिम
में भावों के (हृदय के) विकास की और उसके साथ-स
अनन्त परिमाण में शिक्षा और विचार की भी सम्भावना है।
दोनों *अनन्त परिमाण में आएँ—ये दोनों समानान्तर रेखा*
प्रवाहित होते रहें।

अधिकांश धर्म यह बात समझते हैं कि संसार में दुःखरा
विद्यमान है, और स्पष्ट भाषा में इसका उल्लेख भी करते
पर मालूम होता है कि सभी एक ही भ्रम में पड़े हैं—वे स

दुःख है, अतएव इसका त्याग कर दो, यह बहुत अच्छा उपदेश है—एकमात्र उपदेश है, इसमें सन्देह नहीं। 'संसार का त्याग करो!' इस विषय में कोई दो मत नहीं हो सकते कि सत्य को जानने के लिए असत्य का त्याग करना होगा—अच्छी वस्तु पाने के लिए बुरी वस्तु का त्याग करना होगा, जीवन प्राप्त करने के लिए मृत्यु का त्याग करना होगा।

पर यदि इस मतवाद का यही तात्पर्य हो कि हम जिसे जीवन नाम से समझते हैं, उस पंचेन्द्रियगत जीवन का त्याग करना होगा, तब फिर हमारे पास क्या शेष रहा? यदि हम उसे त्याग दें, तो हमारे पास तो कुछ भी नहीं बच रहता।

जब हम वेदान्त के दार्शनिक अंश की आलोचना करेंगे, तब हम इस तत्त्व को और भी अच्छी तरह समझ सकेंगे, पर अभी में इतना ही कहना चाहता हूँ कि केवल वेदान्त में इस समस्या की युक्तिसंगत मीमांसा मिलती है। यहाँ पर मैं वेदान्त का वास्तविक उपदेश क्या है, यही कहूँगा। वेदान्त शिक्षा देता है—'जगत् को ब्रह्मस्वरूप देखो।'

वेदान्त वास्तव में जगत् को एकदम उड़ा देना नहीं चाहता। यह ठीक है कि वेदान्त में जिस प्रकार चूड़ान्त वैराग्य का उपदेश है, उस प्रकार और कहीं भी नहीं है, पर इस वैराग्य का अर्थ आत्महत्या नहीं है—अपने को सुखा डालना नहीं है। वेदान्त में वैराग्य का अर्थ है जगत् को ब्रह्म-रूप देखना—जगत् को हम जिस भाव से देखते हैं, उसे हम जैसा जानते हैं, वह जैसा हमारे सम्मुख प्रतिभात होता है, उसका त्याग करना और उसके वास्तविक स्वरूप को पहचानना। उसे ब्रह्मस्वरूप देखो—वास्तव

में वह ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है; इसी क सबसे प्राचीन उपनिषद् में हम देखते हैं, 'ईशावास्यमिदं यत्किंच जगत्यां जगत्' (ईश० श्लोक १)—'जगत् में जो है, उसे ईश्वर से ढक लेना होगा।'

समस्त जगत् को ईश्वर से ढक लेना होगा। यह कि प्रकार करना होगा?—जगत् के अशुभ और दुःख-कष्ट के प्र आँखें मींचकर नहीं, 'सब कुछ मंगलमय है, सुखमय है, अथ सब कुछ भविष्य के मंगल के लिए है', इस प्रकार के भ्रा सुखवाद का अवलम्बन करके नहीं, वरन् वास्तविक रूप प्रत्येक वस्तु के भीतर ईश्वर का दर्शन करके। इसी प्रकार ह संसार का त्याग करना होगा। और जब संसार का त्याग क दिया, तो शेष क्या रहा? ईश्वर। इस उपदेश का तात्पर्य क्या है? यही कि तुम्हारी स्त्री भी रहे, उससे कोई हानि नहीं; उसको छोड़कर जाना नहीं होगा, वरन् इसी स्त्री में तुम्हें ईश्वर-दर्शन करना होगा। सन्तान का त्याग करो—इसका क्या अर्थ है? क्या बाल-बच्चों को लेकर रास्ते में फेंक देना होगा, जैसा कि सभी देशों में नर-पशु करते हैं? नहीं, कभी नहीं! वह तो पैशाचिक काण्ड है—वह धर्म नहीं है। तो फिर क्या? उनमें ईश्वर का दर्शन करो। इसी प्रकार सभी वस्तुओं के सम्बन्ध में जानो। जीवन में, मरण में, सुख में, दुःख में—सभी अवस्थाओं में ईश्वर समान रूप से विद्यमान है। केवल आँखें खोलकर उसके दर्शन करो। वेदान्त यही कहता है; तुमने जगत् की [illegible] रूप में कल्पना कर रखी है, उसे छोड़ो, क्योंकि [illegible] अत्यन्त कम अनुभूति पर—बिलकुल सामान्य शब्दों में, तुम्हारी अपनी दुर्बलता पर स्थापित

है। यह आनुमानिक ज्ञान त्याग दो। हम इतने दिन जगत् को जैसा सोचते थे, इतने दिन जिसमें अत्यन्त आसक्त थे, वह तो मिथ्या है—उसे हमने ही रच लिया है। उसको छोड़ो। आँखें खोलकर देखो, हम अब तक जिस रूप में जगत् को देख रहे थे, वास्तव में उसका अस्तित्व वैसा कभी नहीं था—हम स्वप्न में इस प्रकार देख रहे थे, माया से आच्छन्न होने के कारण हमें यह भ्रम हो रहा था। अनन्त काल से एकमात्र वे ही प्रभु विद्यमान थे। वे ही सन्तान के भीतर, वे ही स्त्री में, वे ही स्वामी में, वे ही अच्छे में, वे ही बुरे में, वे ही पाप में, वे ही पापी में, वे ही हत्याकारी में, वे ही जीवन में और वे ही मरण में वर्तमान हैं।

प्रस्ताव तो अवश्य कठिन है।

किन्तु वेदान्त इसी को प्रमाणित करना, इसी की शिक्षा देना और प्रचार करना चाहता है। इसी विषय को लेकर वेदान्त का प्रारम्भ होता है।

हम बस इसी प्रकार सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन करके ही जीवन की विपत्तियों और दुःखों को टाल सकते हैं। कुछ इच्छा मत करो। कौन हमें दुःखी करता है? हम जो कुछ दुःख-भोग करते हैं, वह वासना से ही उत्पन्न होता है। मान लो, तुम्हें कुछ चाहिए। और जब वह पूरा नहीं होता, तो फल होता है—दुःख। अभाव यदि न रहे, तो दुःख भी नहीं होगा। जब जब हम सारी वासनाओं का त्याग कर देंगे, तब क्या होगा? दीवार में कोई वासना नहीं है, वह कभी दुःख नहीं भोगती। ठीक है, पर वह कभी उन्नति भी तो नहीं करती। इस कुर्सी में कोई वासना नहीं है, कोई कष्ट भी उसे नहीं है, परन्तु वह

कुर्सी की कुर्सी ही रहेगी। सुख-भोग के भीतर भी एक महान् भाव है और दुःख-भोग के भीतर भी। यदि साहस करके कहा जाय, तो यह भी कह सकते हैं कि दुःख की उपकारिता भी है। हम सभी जानते हैं कि दुःख से कितनी बड़ी शिक्षा मिलती है। हमने जीवन में ऐसे सैकड़ों कार्य किए हैं, जिनके बारे में बाद में हमें लगता है कि वे न किए जाते, तो अच्छा होता, पर तो भी इन सब कार्यों ने हमारे लिए महान् शिक्षक का कार्य किया है। मैं अपने सम्बन्ध में कह सकता हूँ कि मैंने कुछ अच्छे कार्य किए हैं यह सोचकर भी मैं आनन्दित हूँ और अनेक बुरे कार्य किए हैं यह सोचकर भी आनन्दित हूँ—मैंने कुछ सत्कार्य किया है इसलिए भी सुखी हूँ और अनेक भ्रमों में पड़ा हूँ इसलिए भी सुखी हूँ, क्योंकि उनमें से प्रत्येक ने मुझे कुछ-न-कुछ उच्च शिक्षा दी है। मैं इस समय जो कुछ हूँ, वह अपने पूर्व-कर्मों और विचारों का फलस्वरूप हूँ। प्रत्येक कार्य और विचार का एक-न-एक फल हुआ है और ये फल ही मेरी उन्नति की समष्टि हैं।

अब यहाँ एक कठिन समस्या आती है। हम सभी जानते हैं कि वासना बड़ी बुरी चीज है, पर वासना-त्याग का अर्थ क्या है? फिर शरीर-रक्षा किस प्रकार होगी? इसका उत्तर भी पहले की भाँति आपाततः यही मिलेगा कि आत्म-हत्या करो। वासना का संहार करो और उसके साथ ही वासनायुक्त मनुष्य को भी मार डालो। पर यथार्थ समाधान यह है:—ऐसी बात नहीं कि तुम धन-सम्पत्ति न रखो, आवश्यक वस्तुएँ और विलास की सामग्री न रखो। तुम जो-जो आवश्यक समझते हो, सब रखो, यहाँ तक कि उससे अतिरिक्त वस्तुएँ भी

रखो—इससे कोई हानि नहीं। पर तुम्हारा प्रथम और प्रधान कर्तव्य है—सत्य को जान लेना, उसको प्रत्यक्ष कर लेना। यह जो धन है, यह किसी का नहीं है। किसी भी पदार्थ में स्वामित्व का भाव मत रखो। तुम भी कोई नहीं हो, मैं भी कोई नहीं हूँ, कोई भी कोई नहीं है। सब उस प्रभु की ही वस्तुएँ हैं; क्योंकि ईशोपनिषद् के प्रथम श्लोक में ही ईश्वर को सर्वत्र स्थापित करने के लिए कहा गया है। ईश्वर तुम्हारे भोग्य धन में है; तुम्हारे मन में जो सब वासनाएँ उठती हैं, उनमें हैं; अपनी वासना से प्रेरित हो तुम जो-जो द्रव्य खरीदते हो, उनमें भी वही है; तुम्हारे सुन्दर वस्त्रों में भी वह है, और तुम्हारे सुन्दर अलंकारों में भी वही है। इसी प्रकार विचार करना पड़ेगा। इसी प्रकार सब वस्तुओं को देखने पर, तुम्हारी दृष्टि में सब कुछ परिवर्तित हो जायगा। यदि तुम अपनी प्रत्येक गति में, अपने वस्त्रों में, अपनी बोल-चाल में, अपने शरीर में, अपने चेहरे में—सभी वस्तुओं में भगवान की स्थापना कर लो, तो तुम्हारी आँखों में सम्पूर्ण दृश्य बदल जायगा और जगत् दुःखमय प्रतीत न होकर स्वर्ग में परिणत हो जायगा।

'स्वर्ग का राज्य तुम्हारे भीतर है'; वेदान्त कहता है कि वह पहले से ही तुम्हारे भीतर मौजूद है। सभी धर्म यह बात कहते हैं, सभी महापुरुष यह बात कहते हैं। 'जिसके पास देखने के लिए आँख है, वह देखे; जिसके पास सुनने के लिए कान है, वह सुने।' वह पहले से ही तुम्हारे अन्दर मौजूद है। और वेदान्त उसका केवल उल्लेख नहीं करता, वरन् वह तो उसे युक्तियों द्वारा प्रमाणित भी करने को प्रस्तुत है। अज्ञान के कारण हम सोचते थे कि हमने उसे खो दिया है, और

में ईश्वर-बुद्धि करो, समझो कि ईश्वर सबमें है, अपने जीवन को भी ईश्वर से अनुप्राणित, यहाँ तक कि ईश्वररूप ही समझो। यह जान लो कि यही हमारा एकमात्र कर्तव्य है, यही हमारे लिए जानने की एकमात्र वस्तु है। ईश्वर सभी वस्तुओं में विद्यमान है, उसे प्राप्त करने के लिए और कहाँ जाओगे? प्रत्येक कार्य में, प्रत्येक भाव में, प्रत्येक विचार में वह पहले से ही अवस्थित है। इस प्रकार समझकर हमें कार्य करते जाना होगा। यही एकमात्र पथ है, अन्य नहीं। इस प्रकार करने पर कर्मफल तुमको लिप्त न कर सकेगा। फिर कर्मफल तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं कर पायगा। हम देख चुके हैं कि हम जो कुछ दुःख-कष्ट भोगते हैं, उसका कारण है ये सब व्यर्थ की वासनाएँ। परन्तु जब ये वासनाएँ ईश्वर-बुद्धि के द्वारा पवित्र भाव धारण कर लेती हैं, ईश्वरस्वरूप हो जाती हैं, तब उनके आने से भी फिर कोई अनिष्ट नहीं होता। जिन्होंने इस रहस्य को नहीं जाना है, वे जब तक इसे नहीं जान लेते, तब तक उन्हें इसी आसुरी जगत् में रहना पड़ेगा। लोग नहीं जानते कि यहाँ उनके चारों ओर, सर्वत्र कैसी अनन्त आनन्द की खान पड़ी हुई है; वे उसे अभी तक खोज निकाल नहीं पाए। आसुरी जगत् का अर्थ क्या है? वेदान्त कहता है—अज्ञान।

वेदान्त कहता है कि हम अनन्त जल से भरपूर नदी के तट पर बैठकर भी प्यासे मर रहे हैं। ढेरों खाद्य सामने रखा है, फिर भी हम भूखों मर रहे हैं। यह तो रहा आनन्दमय जगत्, पर हम उसे खोजे नहीं पाते। हम उसी में रह रहे हैं। वह सर्वदा ही हमारे चारों ओर है, पर हम उसे सदैव और कुछ समझकर भ्रम में पड़ जाते हैं। विभिन्न धर्म हमें उस आनन्दमय

वेदान्त कहता है कि इस प्रकार के भाव का आश्रय लेने पर ही हम ठीक-ठीक कार्य करने में समर्थ होंगे। वेदान्त हमें कार्य करने को मना नहीं करता, पर यह भी कहता है कि पहले संसार का त्याग करना होगा—इस आपाततः दिखनेवाले माया के जगत् का त्याग करना होगा। इस त्याग का क्या अर्थ है? पहले ही कहा जा चुका है कि त्याग का प्रकृत अर्थ है—सब जगह ईश्वर-दर्शन। सब जगह ईश्वर-बुद्धि कर लेने पर ही हम वास्तविक कार्य करने में समर्थ होंगे। यदि चाहो, तो सौ वर्ष जीने की इच्छा करो; जितनी भी सांसारिक वासनाएँ हैं, सबका भोग कर लो, पर हाँ, उन सबको ब्रह्ममय देखो, उनको स्वर्गीय भाव में परिणत कर लो। यदि जीना चाहो, तो इस पृथ्वी पर दीर्घकाल तक सेवापूर्ण, आनन्दपूर्ण और क्रियाशील जीवन बिताने की इच्छा करो। इस प्रकार कार्य करने पर तुम्हें वास्तविक मार्ग मिल जायगा। इसको छोड़ अन्य कोई मार्ग नहीं है। जो व्यक्ति सत्य को न जानकर अबोध की भाँति संसार के भोग-विलास में निमग्न हो जाता है, समझ लो कि उसे ठीक मार्ग नहीं मिला, उसका पैर फिसल गया है। दूसरी ओर, जो व्यक्ति संसार को कोसता हुआ वन में चला जाता है, अपने शरीर को कष्ट देता रहता है, धीरे-धीरे सुखाकर अपने को मार डालता है, अपने हृदय को शुष्क मरुभूमि बना डालता है, अपने सभी भावों को कुचल डालता है और कठोर, बीभत्स और रूखा हो जाता है, समझ लो कि वह भी मार्ग भूल गया है। ये दोनों दो छोर की बातें हैं—दोनों ही भ्रम में हैं—एक इस ओर और दूसरा उस ओर। दोनों ही पथभ्रष्ट हैं—दोनों ही लक्ष्यभ्रष्ट हैं।

वेदान्त कहता है, इसी प्रकार कार्य करो—सभी वस्तुओं

उपदेश पाया है; पर काम के समय ही हमारी सारी गड़बड़ी आरम्भ हो जाती है। ईसप की कहानियों में एक कथा है। एक विशालकाय सुन्दर हरिण तालाब में अपना प्रतिबिम्ब देखकर अपने बच्चे से कहने लगा, "देखो, मैं कितना बलवान हूँ, मेरा मस्तक कैसा भव्य है, मेरे हाथ-पाँव कैसे दृढ़ और मांसल हैं; और मैं कितना तेज दौड़ सकता हूँ!" यह कहते-न-कहते उसने दूर से कुत्तों के भौंकने का शब्द सुना। सुनते ही वह जोर से भागा। बहुत दूर दौड़ने के बाद हाँफते-हाँफते फिर बच्चे के पास आया। बच्चा बोला, "अभी तो तुम कह रहे थे, मैं बड़ा बलवान हूँ, फिर कुत्तों का शब्द सुनकर भागे क्यों?" हरिण बोला, "यही तो बात है, कुत्तों की भों-भों सुनते ही मेरा सारा ज्ञान लुप्त हो जाता है!" हम लोग भी जीवन-भर यही करते रहते हैं। हम इस दुर्बल मनुष्यजाति के सम्बन्ध में कितनी आशाएँ बाँधते रहते हैं, किन्तु कुत्तों के भौंकते ही हरिण की भाँति भाग खड़े होते हैं! यदि ऐसा ही है, तो फिर यह सब शिक्षा देने की क्या आवश्यकता? नहीं, अत्यधिक आवश्यकता है। समझ रखना चाहिए, एक ही दिन में कुछ नहीं हो जाता।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।' आत्मा के सम्बन्ध में पहले सुनना होगा, उसके बाद मनन अर्थात् चिन्तन करना होगा, और फिर लगातार ध्यान करना होगा। सभी लोग आकाश को देख पाते हैं, और तो और, भूमि पर रेंगनेवाले छोटे कीड़े भी ऊपर की ओर दृष्टि करने पर नील वर्ण आकाश को देख पाते हैं, पर वह हमसे कितनी दूर पर है! इच्छा करने पर तो मन सभी जगह जा सकता है, पर इस शरीर को घुटनों के बल चलना सीखने में ही कितना

जगत् को दिखा देना चाहते हैं। सभी हृदय इस आनन्द की खोज कर रहे हैं। सभी जातियों ने इसकी खोज की है, धर्म का यही एकमात्र लक्ष्य है, और यह आदर्श ही विभिन्न धर्मों में भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रकाशित हुआ है। भिन्न-भिन्न धर्मों में जो सब छोटे-छोटे मतभेद हैं, वे सब केवल बोलने के दाँव-पेंच हैं, वास्तव में वे कुछ भी नहीं हैं। एक व्यक्ति एक भाव को एक प्रकार से प्रकट करता है, दूसरा दूसरे प्रकार से। एक जो कुछ कहता है, दूसरा भी दूसरी भाषा में शायद वही बात कहता है।

इस सम्बन्ध में अब और भी प्रश्न आते हैं। जो ऊपर कहा गया है, वह मुँह से कह देना तो अत्यन्त सरल है। बचपन से ही सुनता आ रहा हूँ—'सर्वत्र ब्रह्म-बुद्धि करो, सब ब्रह्ममय हो जायगा और तब तुम दुनिया का ठीक-ठीक आनन्द उठा सकोगे,' पर ज्योंही हम संसार-क्षेत्र में उतरकर कुछ धक्के खाते हैं, त्योंही हमारी सारी ब्रह्म-बुद्धि उड़ जाती है। मैं मार्ग में सोचता जा रहा हूँ कि सभी मनुष्यों में ईश्वर विराजमान है—इतने में एक बलवान मनुष्य मुझे धक्का दे जाता है और मैं चारों कोने चित हो जाता हूँ। बस! झट में उठता हूँ, सिर में खून चढ़ जाता है, मुट्ठियाँ बँध जाती हैं और मैं विचार-शक्ति खो बैठता हूँ। मैं बिलकुल पागल-सा हो जाता हूँ। स्मृति का भ्रंश हो जाता है और बस मैं उस व्यक्ति में ईश्वर को न देख भूत देखने लगता हूँ। जन्म से ही उपदेश मिलता है, सर्वत्र ईश्वर-दर्शन करो; सभी धर्म यही सिखाते हैं—सभी वस्तुओं में, सब प्राणियों के अन्दर, सर्वत्र ईश्वर-दर्शन करो। 'न्यू टेस्टामेण्ट' में ईसामसीह ने भी इस विषय में स्पष्ट उपदेश दिया है। हम सभी ने यह

कवित्व कहाँ रहता ? यह असफलता, यह भूल रहने से हर्ज भी क्या ? मैंने गाय को कभी झूठ बोलते नहीं सुना, पर वह सदा गाय ही रहती है, मनुष्य कभी नहीं हो जाती। अतएव यदि बार-बार असफल हो जाओ, तो भी क्या ? कोई हानि नहीं, सहस्र बार इस आदर्श को हृदय में धारण करो, और यदि सहस्र बार भी असफल हो जाओ, तो एक बार फिर प्रयत्न करो। सब जीवों में ब्रह्मदर्शन ही मनुष्य का आदर्श है। यदि सब वस्तुओं में उसको देखने में तुम सफल न होओ, तो कम-से-कम एक ऐसे व्यक्ति में, जिसे तुम सबसे अधिक प्रेम करते हो, उसके दर्शन करने का प्रयत्न करो, उसके बाद दूसरे व्यक्ति में दर्शन करने की चेष्टा करो। इसी प्रकार तुम आगे बढ़ सकते हो। आत्मा के सम्मुख तो अनन्त जीवन पड़ा हुआ है—अध्यवसाय के साथ लगे रहने पर तुम्हारी मनोकामना अवश्य पूर्ण होगी।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥
यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

(ईशोपनिषद्, ४-७ श्लोक)

"यह अचल है, एक है, मन से भी अधिक द्रुत गतिवाला है। इसे इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर सकीं, क्योंकि यह उन सबसे

समय लग जाता है ! हमारे आदर्शों के सम्बन्ध में भी यही बात है। आदर्श हमसे बहुत दूर हैं, और हम उनसे बहुत नीचे पड़े हुए हैं, तथापि हम जानते हैं कि हमें एक आदर्श अपने सामने रखना आवश्यक है। इतना ही नहीं, हमें सर्वोच्च आदर्श रखना आवश्यक है। अधिकांश व्यक्ति इस जगत् में बिना किसी आदर्श के ही जीवन के इस अन्धकारमय पथ पर भटकते फिरते हैं। जिसका एक निर्दिष्ट आदर्श है, वह यदि एक हजार भूलें करे, तो यह निश्चित है कि जिसका कोई भी आदर्श नहीं है, वह दस हजार भूलें करेगा। अतएव एक आदर्श रखना अच्छा है। इस आदर्श के सम्बन्ध में जितना हो सके सुनना होगा; तब तक सुनना होगा, जब तक वह हमारे अन्तर में प्रवेश नहीं कर जाता, हमारे मस्तिष्क में पैठ नहीं जाता, जब तक वह हमारे रक्त में प्रवेश कर उसकी एक-एक बूँद में घुल-मिल नहीं जाता, जब तक वह हमारे शरीर के अणु-परमाणु में व्याप्त नहीं हो जाता। अतएव पहले हमें यह आत्मतत्त्व सुनना होगा। कहा है, "भाव से हृदय पूर्ण होने पर मुख बोलने लगता है," और हृदय के इस प्रकार पूर्ण होने पर हाथ भी कार्य करने लगते हैं।

विचार ही हमारी कार्य-प्रवृत्ति का नियामक है। मन को सर्वोच्च विचारों से भर लो, दिन-पर-दिन यही सब भाव सुनते रहो, मास-पर-मास इसी का चिन्तन करो। पहले-पहल सफलता न भी मिले; पर कोई हानि नहीं, यह असफलता तो बिलकुल स्वाभाविक है, यह मानव-जीवन का सौन्दर्य है। इन असफलताओं के बिना जीवन क्या होता ? यदि जीवन में इस असफलता को जय करने की चेष्टा न रहती, तो जीवन-धारण करने का कोई प्रयोजन ही न रह जाता। उसके न रहने पर जीवन का

कवित्व कहाँ रहता ? यह असफलता, यह भूल रहने से हर्ज भी क्या ? मैंने गाय को कभी झूठ बोलते नहीं सुना, पर वह सदा गाय ही रहती है, मनुष्य कभी नहीं हो जाती। अतएव यदि बार-बार असफल हो जाओ, तो भी क्या ? कोई हानि नहीं, सहस्र बार इस आदर्श को हृदय में धारण करो, और यदि सहस्र बार भी असफल हो जाओ, तो एक बार फिर प्रयत्न करो। सब जीवों में ब्रह्मदर्शन ही मनुष्य का आदर्श है। यदि सब वस्तुओं में उसको देखने में तुम सफल न होओ, तो कम-से-कम एक ऐसे व्यक्ति में, जिसे तुम सबसे अधिक प्रेम करते हो, उसके दर्शन करने का प्रयत्न करो, उसके बाद दूसरे व्यक्ति में दर्शन करने की चेष्टा करो। इसी प्रकार तुम आगे बढ़ सकते हो। आत्मा के सम्मुख तो अनन्त जीवन पड़ा हुआ है— अध्यवसाय के साथ लगे रहने पर तुम्हारी मनोकामना अवश्य पूर्ण होगी।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥
यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

(ईशोपनिषद्, ४-७ श्लोक)

"वह अचल है, एक है, मन से भी अधिक द्रुत गतिवाला है। इसे इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर सकीं, क्योंकि यह उन सबसे

समय लग जाता है। हमारे आदर्शों के सम्बन्ध में भी यही बात है। आदर्श हमसे बहुत दूर हैं, और हम उनसे बहुत नीचे पड़े हुए हैं, तथापि हम जानते हैं कि हमें एक आदर्श अपने सामने रखना आवश्यक है। इतना ही नहीं, हमें सर्वोच्च आदर्श रखना आवश्यक है। अधिकांश व्यक्ति इस जगत् में बिना किसी आदर्श के ही जीवन के इस अन्धकारमय पथ पर भटकते फिरते हैं। जिसका एक निर्दिष्ट आदर्श है, वह यदि एक हजार भूलें करे, तो यह निश्चित है कि जिसका कोई भी आदर्श नहीं है, वह दस हजार भूलें करेगा। अतएव एक आदर्श रखना अच्छा है। इस आदर्श के सम्बन्ध में जितना हो सके सुनना होगा; तब तक सुनना होगा, जब तक वह हमारे अन्तर में प्रवेश नहीं कर जाता, हमारे मस्तिष्क में पैठ नहीं जाता, जब तक वह हमारे रक्त में प्रवेश कर उसकी एक-एक बूँद में घुल-मिल नहीं जाता, जब तक वह हमारे शरीर के अणु-परमाणु में व्याप्त नहीं हो जाता अतएव पहले हमें यह आत्मतत्त्व सुनना होगा। कहा है, "भाव से हृदय पूर्ण होने पर मुख बोलने लगता है," और हृदय के इस प्रकार पूर्ण होने पर हाथ भी कार्य करने लगते हैं।

विचार ही हमारी कार्य-प्रवृत्ति का नियामक है। मन को सर्वोच्च विचारों से भर लो, दिन-पर-दिन यही सब भाव सुनते रहो, मास-पर-मास इसी का चिन्तन करो। पहले-पहल सफलता न भी मिले; पर कोई हानि नहीं, यह असफलता तो बिलकुल स्वाभाविक है, यह मानव-जीवन का सौन्दर्य है। इन असफलताओं के बिना जीवन क्या होता? यदि जीवन में इस असफलता को जय करने की चेष्टा न रहती, तो जीवन-धारण करने का कोई प्रयोजन ही न रह जाता। उसके न रहने पर जीवन का

यदि और भी भीतर प्रवेश करो, तो देखोगे—अन्य प्राणी भी एक ही हैं। जो इस प्रकार एकत्वदर्शी हो चुके हैं, उनको फिर मोह नहीं रहता। वे अब उसी एकत्व में पहुँच गए हैं, जिसको धर्मविज्ञान में ईश्वर कहते हैं। उनको अब मोह कैसे रह सकता है? मोह उनको होगा ही कैसे? उन्होंने सभी वस्तुओं का आभ्यन्तरिक सत्य जान लिया है, सभी वस्तुओं का रहस्य जान लिया है। उनके लिए अब दुःख कैसे रह सकता है? वे अब किसकी कामना-वासना करेंगे? वे सारी वस्तुओं के अन्दर वास्तविक सत्य की खोज करके ईश्वर तक पहुँच गए हैं, जो जगत् का केन्द्रस्वरूप है, जो सभी वस्तुओं का एकत्व-स्वरूप है। यही अनन्त सत्ता है, यही अनन्त ज्ञान है, यही अनन्त आनन्द है। वहाँ मृत्यु नहीं, रोग नहीं, दुःख नहीं, शोक नहीं, अशान्ति नहीं। है केवल पूर्ण एकत्व—पूर्ण आनन्द। तब वे किसके लिए शोक करेंगे? वास्तव में उस केन्द्र में, उस परम सत्य में मृत्यु नहीं है, दुःख नहीं है, किसी के लिए शोक करना नहीं है, किसी के लिए दुःख करना नहीं है।

"स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।"

(ईशोपनिषद्, ८ वाँ श्लोक)

"वह चारों ओर से घेरे हुए है, वह उज्ज्वल है, देहशून्य है, व्रणशून्य है, स्नायुशून्य है, वह पवित्र और निष्पाप है, वह कवि है, मन का नियामक है, सबसे श्रेष्ठ और स्वयम्भू है; वह सर्वदा ही यथायोग्य सभी के काम्य वस्तुओं का विधान करता है।" जो इस अविद्यामय जगत् की उपासना करता है, वह अन्धकार में प्रवेश करता है। जो इस जगत् को ब्रह्म के समान

पहले गया हुआ है। यह स्थिर रहकर भी अन्यान्य द्रुतगामी पदार्थों से आगे जानेवाला है। उसमें रहकर ही हिरण्यगर्भ सबके कर्मफलों का विधान करते हैं। यह चंचल है, स्थिर है, दूर है, निकट है, वह इस सबके भीतर है, फिर इस सबके बाहर भी है। जो आत्मा के अन्दर सब भूतों का दर्शन करते हैं, और सब भूतों में आत्मा का दर्शन करते हैं, वे कुछ भी छिपाने की इच्छा नहीं करते। जिस अवस्था में ज्ञानी व्यक्ति के लिए समस्त भूत आत्मस्वरूप हो जाते हैं, उस अवस्था में उस एकत्वदर्शी पुरुष को शोक अथवा मोह कहाँ रह सकता है ?"

सब पदार्थों का यह एकत्व वेदान्त का और एक प्रधान विषय है। हम आगे चलकर देखेंगे कि किस प्रकार वेदान्त सिद्ध करता है कि हमारा समस्त दुःख अज्ञान से उत्पन्न हुआ । यह अज्ञान और कुछ नहीं बल्कि यही बहुत्व की धारणा —यह धारणा कि मनुष्य मनुष्य से भिन्न है, पुरुष और स्त्री भिन्न हैं, युवा और शिशु भिन्न हैं, जाति जाति से भिन्न है, पृथ्वी चन्द्र से पृथक् है, चन्द्र सूर्य से पृथक् है, एक परमाणु दूसरे परमाणु से पृथक् है। ऐसा बोध ही वास्तव में सब दुःखों का कारण है। वेदान्त कहता है कि यह भेद वास्तविक नहीं । यह भेद केवल भासित होता है, ऊपर से दीख पड़ता है। वस्तुओं के अन्तस्तल में वही एकत्व विराजमान है। यदि तुम भीतर जाकर देखो, तो इस एकत्व को देखोगे—मनुष्य-मनुष्य में एकत्व, नर-नारी में एकत्व, जाति-जाति में एकत्व, ऊँच-नीच में एकत्व, धनी और दरिद्र में एकत्व, देवता और मनुष्य में एकत्व, मनुष्य और पशु में एकत्व। सभी तो एक हैं। और

यदि और भी भीतर प्रवेश करो, तो देखोगे—अन्य प्राणी भी एक ही हैं। जो इस प्रकार एकत्वदर्शी हो चुके हैं, उनको फिर मोह नहीं रहता। वे अब उसी एकत्व में पहुँच गए हैं, जिसको धर्मविज्ञान में ईश्वर कहते हैं। उनको अब मोह कैसे रह सकता है? मोह उनको होगा ही कैसे? उन्होंने सभी वस्तुओं का आभ्यन्तरिक सत्य जान लिया है, सभी वस्तुओं का रहस्य जान लिया है। उनके लिए अब दुःख कैसे रह सकता है? वे अब किसकी कामना-वासना करेंगे? वे सारी वस्तुओं के अन्दर वास्तविक सत्य की खोज करके ईश्वर तक पहुँच गए हैं, जो जगत् का केन्द्रस्वरूप है, जो सभी वस्तुओं का एकत्व-स्वरूप है। यही अनन्त सत्ता है, यही अनन्त ज्ञान है, यही अनन्त आनन्द है। वहाँ मृत्यु नहीं, रोग नहीं, दुःख नहीं, शोक नहीं, अशान्ति नहीं। है केवल पूर्ण एकत्व—पूर्ण आनन्द। तब वे किसके लिए शोक करेंगे? वास्तव में उस केन्द्र में, उस परम सत्य में मृत्यु नहीं है, दुःख नहीं है, किसी के लिए शोक करना नहीं है, किसी के लिए दुःख करना नहीं है।

"स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।"

(ईशोपनिषद्, ८ वाँ श्लोक)

"वह चारों ओर से घेरे हुए है, वह उज्ज्वल है, देहशून्य है, व्रणशून्य है, स्नायुशून्य है, वह पवित्र और निष्पाप है, वह कवि है, मन का नियामक है, सबसे श्रेष्ठ और स्वयम्भू है; वह सर्वदा ही यथायोग्य सभी के काम्य वस्तुओं का विधान करता है।" जो इस अविद्यामय जगत् की उपासना करता है, वह अन्धकार में प्रवेश करता है। जो इस जगत् को ब्रह्म के समान

सत्य समझकर उसकी उपासना करता है, वह अन्धकार में भटकता है। और जो आजीवन इस संसार की ही उपासना करता है, उससे ऊपर और कुछ भी नहीं पाता, वह तो और भी घने अन्धकार में भटकता है। किन्तु जिन्होंने इस परम सुन्दर प्रकृति का रहस्य जान लिया है, जो प्रकृति की सहायता से दैवी प्रकृति का चिन्तन करते हैं, वे मृत्यु का अतिक्रमण करते हैं एवं दैवी प्रकृति की सहायता से अमरत्व का लाभ करते हैं।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।
(ईश० उप० १५-१६)

"हे सूर्य, हिरण्मय (स्वर्ण के) पात्र द्वारा तुमने सत्य का मुख ढक रखा है। उसे तुम हटा दो, जिससे मुझ सत्यधर्मा को उसका दर्शन हो सके।... मैं तुम्हारा परम रमणीय रूप देखता हूँ—तुम्हारे अन्दर जो यह पुरुष है, वह मैं ही हूँ।"

मैं आप लोगों को एक दूसरे उपनिषद् से कुछ अंश पढ़कर सुनाऊँगा। यह अत्यन्त सरल एवं अतिशय कवित्वपूर्ण है। इसका नाम है कठोपनिषद्। सर एडविन अर्नाल्ड कृत इसका अनुवाद शायद आपमें से बहुतों ने पढ़ा होगा। हम लोगों ने पहले देखा ही है कि जगत् की सृष्टि कहाँ से हुई। इस प्रश्न का उत्तर बाह्य जगत् से नहीं मिला; अतः इस प्रश्न के समाधान के लिए लोगों की दृष्टि अन्तर्जगत् की ओर आकृष्ट हुई। कठोपनिषद् में मनुष्य के स्वरूप के सम्बन्ध में यह अनुसन्धान आरम्भ हुआ है। पहले यह प्रश्न होता था कि इस बाह्य जगत् की सृष्टि किसने की? इसकी उत्पत्ति कैसे हुई?—इत्यादि। किन्तु अब यह प्रश्न उठा कि मनुष्य के अन्दर ऐसी कौनसी वस्तु है, जो उसे जीवित रखती और चलाती है, और मृत्यु के बाद मनुष्य का क्या होता है? पहले मनुष्य ने इस जड़जगत् को लेकर क्रमशः इसके आभ्यन्तर में पहुँचने की चेष्टा की थी, और इससे उसने अधिक-से-अधिक पाया तो यही कि इस जगत् का एक शासन-कर्ता है और वह एक व्यक्ति, एक मनुष्य मात्र है। हो सकता है, मानवी गुणों को अनन्त परिमाण में बढ़ाकर उसके नाम के साथ जोड़ दिया गया हो, पर कार्यतः वह एक मनुष्य मात्र है। पर यह मीमांसा कभी पूर्ण सत्य नहीं हो सकती। अधिक-से-अधिक इसे आंशिक सत्य कह सकते हैं। हम लोग इस जगत् को मानवी दृष्टि से देखते हैं, और हम लोगों का ईश्वर इस जगत् की मानवी व्याख्या मात्र है।

कल्पना करिए, एक गाय दार्शनिक और धर्मज्ञ हुई—तब तो

वह जगत् को अपनी गो-दृष्टि से देखेगी। वह जब इस समस्या की मीमांसा करेगी, तो गाय के भाव से ही करेगी और वह हमारे ईश्वर को देखने में समर्थ न होगी। इसी प्रकार यदि बिल्ली दार्शनिक बने, तो वह बिल्ली-जगत् को ही देखेगी—उसका यही सिद्धान्त होगा कि कोई बिल्ली ही इस जगत् का शासन कर रही है। अतएव हम देखते हैं कि जगत् के सम्बन्ध में हम लोगों की व्याख्या पूर्ण नहीं है, और हम लोगों की धारणा भी जगत् के सर्वांश को स्पर्श करनेवाली नहीं है। मनुष्य जिस तरह से जगत् के सम्बन्ध में भयानक स्वार्थपर मीमांसा करता है, उसे ग्रहण करने पर भ्रम में ही पड़ना होगा। बाह्य जगत् से जगत् के सम्बन्ध में जो मीमांसा प्राप्त होती है, उसमें दोष यही है कि जिस जगत् को हम देखते हैं, वह हमारा अपना ही जगत् है—हम सत्य को जिस रूप में देखते हैं, वह बस वैसा ही है। वह प्रकृत सत्य, वह परमार्थ वस्तु कभी इन्द्रियग्राह्य नहीं हो सकती, किन्तु हम जगत् को उतना ही जानते हैं, जितना पंचेन्द्रिय-विशिष्ट प्राणियों की दृष्टि में पड़ता है। कल्पना करिए, हमारी एक इन्द्रिय और हुई; तब तो समस्त ब्रह्माण्ड हमारी दृष्टि में अन्य रूप धारण कर लेगा। कल्पना करिए, हमें एक चौम्बक (Magnetic) इन्द्रिय प्राप्त हुई; तब यह बिलकुल सम्भव है कि हम ऐसी लाखों शक्तियों का अस्तित्व अनुभव करने लगें, जिनका हमें आज पता नहीं है और जिनका अस्तित्व अनुभव करने के लिए हमारे पास आज कोई इन्द्रिय नहीं है। हमारी इन्द्रियाँ सीमाबद्ध हैं—हाँ, अत्यन्त सीमाबद्ध हैं—और इन सीमाओं के भीतर ही हमारा यह अपना जगत् अवस्थित है तथा हमारा ईश्वर हमारे इसी जगत् का समाधान है। पर वह पूर्ण समस्या का समाधान नहीं

हो सकता। ठीक कहा जाय तो वह कोई मीमांसा ही नहीं है। किन्तु मनुष्य चुप होकर नहीं रह सकता, वह चिन्तनशील प्राणी है, वह ऐसी एक मीमांसा करना चाहता है, जिससे जगत् की सारी समस्याओं की मीमांसा हो जाय।

पहले इस प्रकार के एक जगत् का आविष्कार करो, इस प्रकार के एक पदार्थ का आविष्कार करो, जो सम्पूर्ण जगत् का एक साधारण-तत्त्वस्वरूप हो, जिसे हम युक्ति-बल से सम्पूर्ण जगत् की नींव साबित कर सकें, तथा जो इस जगत् में मणियों को पिराए रखनेवाले सूत्र के समान हो, चाहे वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष हो या न हो। यदि हम इस प्रकार के एक पदार्थ का आविष्कार कर सकें, जो इन्द्रियगोचर न हो सकने पर भी अकाट्य युक्ति-बल पर सभी प्रकार के अस्तित्व का आधार प्रमाणित किया जा सके, तब हम कहेंगे कि हमारी समस्या कुछ मीमांसोन्मुख हुई। पर यह मीमांसा हमारे इस दृष्टिगोचर, ज्ञात जगत् से कभी प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि यह तो समुदय भाव का अंश-विशेष मात्र है।

अतः जगत् के अन्तःप्रदेश में प्रवेश करना ही इस समस्या की मीमांसा का एकमात्र उपाय है। प्राचीन मनीषियों ने देखा था कि वे केन्द्र से जितनी दूर जाते हैं, वैचित्र्य और विभिन्नताएँ उतनी ही अधिक होती जाती हैं, और वे केन्द्र के जितने निकट आते हैं, उतने ही वे एकत्व के निकट आते हैं। हम वृत्त के केन्द्र के जितने निकट जायँगे, हम सारी त्रिज्याओं के मिलन-बिन्दु के उतने ही निकट पहुँचेंगे और हम उससे जितनी दूर जायँगे, हमारी त्रिज्या दूसरी त्रिज्याओं से उतनी ही दूर होती जायगी। यह बाह्य जगत् उस केन्द्र से बहुत दूर है, अतएव

इसमें कोई ऐसी साधारण मिलन-भूमि नहीं हो सकती, जहाँ पर सम्पूर्ण अस्तित्व-समष्टि की एक सर्व-साधारण मीमांसा हो सके। यह जगत् समूचे अस्तित्व का, अधिक-से-अधिक, एक अंश मात्र है। और भी कितने व्यापार हैं; जैसे मनोजगत् के व्यापार, नैतिक जगत् के व्यापार, बुद्धिराज्य के व्यापार, आदि-आदि। इन सबमें से केवल एक को लेकर उससे समस्त जगत्-समस्या की मीमांसा करना असम्भव है। अतः हमें प्रथमतः कहीं एक ऐसे केन्द्र का आविष्कार करना होगा, जिससे अन्यान्य सभी लोकों की उत्पत्ति हुई है। फिर हम इस प्रश्न की मीमांसा की चेष्टा करेंगे। यही इस समय प्रस्तावित विषय है। वह केन्द्र कहाँ है? वह हमारे भीतर है—इस मनुष्य के भीतर जो मनुष्य रहता है, वही यह केन्द्र है। लगातार भीतर की ओर अग्रसर होते-होते महापुरुषों ने देखा कि जीवात्मा का गम्भीरतम प्रदेश ही समुदय ब्रह्माण्ड का केन्द्र है। जितने प्रकार के अस्तित्व हैं, सभी आकर उसी एक केन्द्र में एकीभूत होते हैं। वस्तुतः यही स्थान सबकी एक साधारण मिलन-भूमि है। इस स्थान पर आकर हम एक सार्वभौमिक सिद्धान्त पर पहुँच सकते हैं। अतएव, 'किसने इस जगत् की सृष्टि की है'—यह प्रश्न कोई विशेष दार्शनिक युक्ति-सिद्ध नहीं है, और न उसकी मीमांसा ही किसी काम की है।

पहले मैंने जिस कठोपनिषद् की चर्चा की है, उसमें यह भाव बड़ी अलंकारपूर्ण भाषा में दर्शाया गया है। अति प्राचीन काल में एक बड़ा धनी व्यक्ति था। एक समय उसने एक यज्ञ किया। उस यज्ञ में सर्वस्व-दान करने का नियम था। यह यज्ञकर्ता हृदय का सच्चा नहीं था। वह यज्ञ करके बहुत मान और यश

पाने की इच्छा रखता था, पर यज्ञ में उसने ऐसी वस्तुएँ दान में दीं, जो व्यवहार के लायक न थीं। उसने जराजीर्ण, अर्धमृत, वन्ध्या, कानी और लँगड़ी गाएँ ब्राह्मणों को दान में दीं। उसका एक छोटा पुत्र था, जिसका नाम था नचिकेता। उसने देखा, मेरे पिता ठीक-ठीक अपना व्रत-पालन नहीं कर रहे हैं, अपितु वे व्रत का भंग कर रहे हैं, अतएव वह निश्चय नहीं कर पाया कि वह उनसे क्या कहे। भारतवर्ष में माता-पिता प्रत्यक्ष जीवन्त देवता माने जाते हैं। उनके सामने पुत्र कुछ कहने या करने का साहस नहीं करता, केवल चुप होकर खड़ा रहता है। अतः उस बालक ने पिता का प्रकट विरोध करने में असमर्थ हो, उनसे केवल यही पूछा, "पिताजी, आप मुझे किसको देंगे? आपने तो यज्ञ में सर्वस्व-दान का संकल्प किया है।" यह सुनकर पिता चिढ़-से गए और बोले, "अरे, यह तू क्या कह रहा है? भला पिता अपने पुत्र का दान करेगा, यह कैसी बात है?" पर बालक ने दूसरी बार, तीसरी बार पिता से यही प्रश्न किया, तब पिता क्रुद्ध होकर बोले, "जा, तुझे यम को देता हूँ।" उसके बाद आख्यायिका ऐसी है कि वह बालक यम के घर गया। यमदेवता आदि-मृतक हैं, वे स्वर्ग में पितरों के शासनकर्ता हैं। अच्छे व्यक्ति मृत्यु के बाद यम के निकट अनेक दिनों तक रहते हैं। ये यम एक अत्यन्त शुद्धस्वभाव, साधुपुरुष हैं, जैसा कि उनके नाम (यम) से ही पता चलता है। वह बालक नचिकेता यमलोक को गया। देवता भी समय-समय पर अपने घर में नहीं रहते। यमराज उस समय घर पर नहीं थे, इसलिए उस बालक को तीन दिन तक उनकी प्रतीक्षा करनी पड़ी। चौथे दिन यम अपने घर आए।

यम बोले, "हे विद्वन्! तुम पूजनीय अतिथि होकर भी तीन दिन तक बिना कुछ खाए-पिए प्रतीक्षा करते रहे। हे ब्रह्मन्! तुम्हें प्रणाम है, हमारा कल्याण हो। मैं घर पर नहीं था, इसका मुझे बहुत दुःख है। किन्तु मैं इस अपराध के प्रायश्चित्त-स्वरूप तुम्हें प्रत्येक दिन के लिए एक-एक करके तीन वर देने को प्रस्तुत हूँ, तुम वर माँग लो।" बालक ने कहा, "आप मुझे पहला वर यह दीजिए कि मेरे प्रति पिताजी का क्रोध दूर हो जाय, वे मेरे प्रति प्रसन्न हों, और आपसे प्रस्थान की आज्ञा लेकर जब मैं पिता के निकट जाऊँ, तो वे मुझे पहचान लें।" यम ने कहा, "तथास्तु।" नचिकेता ने द्वितीय वर में स्वर्ग पहुँचानेवाले यज्ञविशेष के विषय में जानने की इच्छा की। हमने पहले ही देखा है कि वेद के संहिता-भाग में केवल स्वर्ग की बातें हैं। वहाँ सबका शरीर ज्योतिर्मय होता है और वे अपने पितरों के साथ वहाँ वास करते हैं। क्रमशः अन्यान्य भाव आए, पर इन सबसे लोगों को पूरी तृप्ति नहीं हुई। इस स्वर्ग से और भी कुछ उच्चतर उन्हें आवश्यक प्रतीत होने लगा। स्वर्ग में रहना इस जगत् में रहने से कोई अधिक भिन्न नहीं है। जिस प्रकार एक स्वस्थ, धनिक नवयुवक का जीवन होता है, उसी प्रकार स्वर्गीय जीवों का भी जीवन होता है, भेद केवल इतना है कि उनकी भोग-सामग्री अपरिमित होती है और उनका शरीर नीरोग, स्वस्थ एवं अधिक बलशाली होता है। वह सब तो जड़-जगत् की ही वस्तु ठहरी; हाँ, इससे कुछ अच्छी अवश्य है, बस इतना ही। और जब हमने देखा है कि यह जड़-जगत् पूर्वोक्त समस्या की कोई मीमांसा नहीं कर सकता, तो स्वर्ग से भी भला उसकी क्या मीमांसा हो सकती है? इसलिए कितने भी

स्वर्गों की कल्पना क्यों न करो, पर उससे समस्या की ठीक मीमांसा नहीं हो सकती। यदि यह जगत् इस समस्या की कोई मीमांसा नहीं कर सकता, तो इस तरह के चाहे कितने भी जगत् हों, वे भला किस तरह इसकी मीमांसा करेंगे। कारण, हमें स्मरण रखना उचित है कि स्थूल-भूत समस्त प्राकृतिक व्यापारों का एक अत्यन्त सामान्य अंश मात्र है। हम जिन असंख्य घटनाओं को सचमुच देखते हैं, उनका अधिकांश भौतिक नहीं है।

अपने जीवन के प्रत्येक क्षण को ही देखिए—इसमें मानसिक घटनाएँ बाहर की भौतिक घटनाओं की तुलना में कितनी अधिक हे! यह अन्तर्जगत् प्रबल वेगशील है और इसका कार्यक्षेत्र भी कितना विस्तृत है! इन्द्रिय-ग्राह्य व्यापार इसकी तुलना में बिलकुल अल्प हैं। स्वर्गवाद का भ्रम यह है कि वह कहता है कि हम लोगों का जीवन और जीवन की घटनावली केवल रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द में ही आबद्ध है। किन्तु स्वर्ग की इस धारणा से अधिकांश लोगों को तृप्ति नहीं हुई। तो भी इस जगह नचिकेता ने द्वितीय वर में स्वर्ग प्राप्त करानेवाले यज्ञ सम्बन्धी ज्ञान की प्रार्थना की है। वेद के प्राचीन भाग में वर्णित है कि देवतागण यज्ञ द्वारा सन्तुष्ट हो लोगों को स्वर्ग ले जाते हैं। सभी धर्मों की आलोचना करने पर निश्चित रूप से यह सिद्धान्त लब्ध होता है कि जो कुछ प्राचीन होता है, वही कालान्तर में पवित्र हो जाता है। हमारे पुरखे भोज-पत्र पर लिखते थे, बाद में उन्होंने कागज बनाने की प्रणाली सीखी, परन्तु इस समय भी भोज-पत्र पवित्र माना जाता है। प्रायः ९-१० हजार वर्ष पूर्व हमारे पूर्वज दो लकड़ियाँ घिसकर आग

पैदा करते थे, वह प्रणाली आज भी वर्तमान है। यज्ञ के समय किसी दूसरी प्रणाली द्वारा अग्नि पैदा करने से काम नहीं चलेगा। एशियावासी आर्यों की अन्य एक शाखा के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। आज भी उनके वर्तमान वंशधर विद्युत् से अग्नि प्राप्त कर उसकी रक्षा करना पसन्द करते हैं। इससे प्रमाणित होता है कि ये लोग पहले इस तरह से अग्नि प्राप्त करते थे; बाद में इन्होंने दो लकड़ियों को घिसकर अग्नि उत्पादन करना सीखा, फिर जब अग्नि उत्पादन करने के अन्यान्य उपाय उन्होंने सीखे, तब भी पहले के उपायों का परित्याग नहीं किया। वे प्राचीन उपाय पवित्र आचारों में परिणत हो गए।

हैं, और यज्ञ की शक्ति से संसार में सब कुछ हो सकता है। यदि निर्दिष्ट संख्या में आहुतियाँ दी जायँ, कुछ विशेष-विशेष स्तोत्रों का पाठ हो, विशेष आकारवाली कुछ वेदियों का निर्माण हो, तो देवता सब कुछ कर सकते हैं, इस प्रकार के मतवादों की सृष्टि हुई। नचिकेता इसी लिए दूसरे वर द्वारा पूछता है कि किस तरह के यज्ञ से स्वर्ग-प्राप्ति हो सकती है। उसके बाद नचिकेता ने तीसरे वर की प्रार्थना की, और यहीं से यथार्थ उपनिषद् का आरम्भ है। नचिकेता बोला, "कोई-कोई कहते हैं, मृत्यु के बाद आत्मा रहती है, कोई-कोई कहते हैं, आत्मा मृत्यु के बाद नहीं रहती। आप मुझे इस विषय का यथार्थ तत्त्व समझा दें।"

यम भयभीत हो गए। उन्होंने परम आनन्द के साथ नचिकेता के प्रथमोक्त दोनों वरों को पूर्ण किया था। इस समय वे बोले, "प्राचीन काल में देवताओं को भी इस विषय में सन्देह था। यह सूक्ष्म धर्म सुविज्ञेय नहीं है। हे नचिकेता! तुम कोई दूसरा वर माँगो। मुझसे इस विषय में और अधिक अनुरोध न करो—मुझे छोड़ दो।"

नचिकेता दृढ़प्रतिज्ञ था, वह बोला, "हे मृत्यो! आप जो कहते हैं कि देवताओं को भी इस विषय मे सन्देह था और इसे समझना भी कोई सरल बात नहीं है, यह सत्य है। किन्तु मैं इस विषय पर आपके सदृश कोई दूसरा वक्ता भी नही पा सकता, और इस वर के समान दूसरा कोई वर भी नहीं है।"

यम बोले, "हे नचिकेता! शतायु पुत्र, पौत्र, पशु, हाथी, सोना, घोड़ा आदि माँग लो। इस पृथ्वी पर राज्य करो, एवं जितने दिन तुम जीने की इच्छा करो, उतने दिन तक जीवित

रहो। इसके समान और भी कोई दूसरा वर यदि तुम्हारे मन में हो, तो वह भी माँग लो, अथवा धन और दीर्घ जीवन की प्रार्थना कर लो। अथवा हे नचिकेता! तुम इस विशाल धरणी पर राज्य करो, मैं तुम्हें सभी प्रकार की काम्य-वस्तुओं से पूर्ण कर दूँगा। पृथ्वी में जो-जो काम्य-वस्तुएँ दुर्लभ हैं, उनकी प्रार्थना करो। गीत और वाद्य में विशारद इन रथारूढ़ रमणियों को मनुष्य नहीं पा सकता। हे नचिकेता! इन सभी रमणियों को मैं तुम्हें देता हूँ, ये तुम्हारी सेवा करेंगी; पर तुम मृत्यु के सम्बन्ध में मत पूछो।"

नचिकेता ने कहा, "ये सभी वस्तुएँ केवल दो दिन के लिए हैं, ये इन्द्रियों के तेज को हर लेती हैं। अतिदीर्घ जीवन भी अनन्त काल की तुलना में वस्तुतः अत्यन्त अल्प है। इसलिए ये हाथी, घोड़े, रथ, गीत, वाद्य आदि आपके ही पास रहें। मनुष्य धन से कभी तृप्त नहीं हो सकता। अब मैं आपके पास में आऊँगा, तो इस वित्त को फिर किस प्रकार रक्षा कर सकूँगा? आप जब तक इच्छा करेंगे, मैं तभी तक जीवित रह सकूँगा। अतः मैंने जिस वर की प्रार्थना की है, बस वही वर मैं चाहता हूँ।"

यम इस उत्तर से सन्तुष्ट हो गए। वे बोले, "परम-कल्याण (श्रेय) और आपातरम्य भोग (प्रेय) इन दोनों का उद्देश्य भिन्न है—ये दोनों मनुष्यों को विभिन्न दिशा में ले जाते हैं। जो इनमें से श्रेय को ग्रहण करते हैं, उनका कल्याण होता है, और जो आपातरम्य भोग को ग्रहण करते हैं, वे लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाते हैं। ये श्रेय और प्रेय दोनों मनुष्य के समक्ष उपस्थित होते हैं। ज्ञानी दोनों पर विचार कर एक को दूसरे से पृथक्

जानते हैं। वे श्रेय को प्रेय से श्रेष्ठ समझकर स्वीकार करते हैं, किन्तु अज्ञानी पुरुष अपने शारीरिक सुख के लिए प्रेय को ही ग्रहण करते हैं। हे नचिकेता ! तुमने आपातरम्य समग्र विषयों की नश्वरता समझकर उन सबों को छोड़ दिया है।" इन वचनों से नचिकेता की प्रशंसा कर अन्त में यम ने उसे परम तत्त्व का उपदेश देना आरम्भ किया।

यहाँ पर हमें वैदिक वैराग्य और नीति की अत्युन्नत धारणा प्राप्त होती है कि जब तक मनुष्य की भोग-वासना का त्याग नहीं होता, तब तक उसके हृदय में सत्य-ज्योति का प्रकाश नहीं हो सकता। जब तक ये तुच्छ विषय-वासनाएँ हृदय में मचलती रहती हैं, जब तक प्रति मुहूर्त वे हमें बाहर खींच ले जाकर प्रत्येक बाह्य वस्तु का—एक बिन्दु रूप का, एक बिन्दु रस का, एक बिन्दु स्पर्श का—दास बनाती रहती हैं, तब तक, फिर हम अपने ज्ञान का कितना ही अभिमान क्यों न करें, हमारे हृदय में सत्य किस तरह प्रकाशित हो सकता है ?

यम बोले, "जिस आत्मा के सम्बन्ध में, जिस परलोक-तत्त्व के सम्बन्ध में तुमने प्रश्न किया है, वह वित्त-मोह से मूढ़ बालकों के हृदय में उदय नहीं हो सकता। 'इसी जगत् का अस्तित्व है, परलोक का नहीं', इस प्रकार चिन्तन कर वे बारम्बार मेरे वश में आते हैं। इस सत्य को समझना अत्यन्त कठिन है। बहुत से लोग तो लगातार इस विषय को सुनकर भी समझ नहीं पाते, क्योंकि इस विषय का वक्ता भी विलक्षण होना चाहिए और श्रोता भी। गुरु का भी अद्भुत शक्ति-सम्पन्न होना आवश्यक है और शिष्य का भी उसी तरह होना जरूरी है। फिर, मन को वृथा तर्क के द्वारा चंचल करना

उचित नहीं है। कारण, परमार्थतत्त्व तर्क का विषय नहीं है, वह तो प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय है।"

हम लोग बराबर सुनते आ रहे हैं कि प्रत्येक धर्म विश्वास करने पर जोर देता है। हमने अन्धविश्वास करने की शिक्षा पाई है। यह अन्धविश्वास सचमुच ही बुरी वस्तु है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर यदि इस अन्धविश्वास का हम विश्लेषण करके देखें, तो ज्ञात होगा कि इसके पीछे एक महान् सत्य है। जो लोग अन्धविश्वास की बात कहते हैं, उनका वास्तविक उद्देश्य यही अपरोक्षानुभूति है, जिसकी हम इस समय आलोचना कर रहे हैं। मन को व्यर्थ ही तर्क के द्वारा चंचल करने से काम नहीं चलेगा, क्योंकि तर्क से कभी ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। ईश्वर प्रत्यक्ष का विषय है, तर्क का नहीं। समस्त तर्क कुछ अनुभूतियों पर स्थापित रहते हैं। इनको छोड़कर तर्क हो ही नहीं सकता। हमारी की हुई प्रत्यक्ष अनुभूतियों के बीच तुलना की प्रणाली को तर्क कहते हैं। यदि ये अनुभूतियाँ पहले से न हों, तो तर्क हो ही नहीं सकता। बाह्य जगत् के सम्बन्ध में यदि यह सत्य है, तो अन्तर्जगत् के सम्बन्ध में भी ऐसा क्यों न होगा? रसायनवेत्ता कुछ द्रव्य लेते हैं—उनसे और कुछ द्रव्य उत्पन्न होते हैं। यह एक घटना है। हम उसे स्पष्ट देखते हैं, प्रत्यक्ष करते हैं, एवं उसे नींव बनाकर हम रसायन-शास्त्र का विचार करते हैं। पदार्थ-तत्त्ववेत्ता भी वैसा ही करते हैं—सभी विज्ञान के विषय में यही बात है। सभी प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव पर स्थापित होना चाहिए और उसके आधार पर ही हमें तर्क और विचार करना चाहिए। किन्तु आश्चर्य की बात है कि

अधिकांश लोग, विशेषतः वर्तमान काल में, सोचते हैं कि धर्म-तत्त्व में इस प्रकार की प्रत्यक्ष अनुभूति सम्भव नहीं है, धर्म का तत्त्व केवल युक्ति-तर्क द्वारा समझा जा सकता है। इसी लिए यहाँ पर हम सावधान कर दे रहे हैं कि मन को वृथा तर्कों से चंचल नहीं करना चाहिए। धर्म बातों का विषय नहीं है—वह तो प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय है। हमें अपनी आत्मा में अन्वेषण करके देखना होगा कि वहाँ क्या है। हमें उसे समझना होगा और समझकर उसका साक्षात्कार करना होगा। यही धर्म है। लम्बी-चौड़ी बातों में धर्म नहीं रखा है। अतएव, कोई ईश्वर है या नहीं, यह तर्क से प्रमाणित नहीं हो सकता, क्योंकि युक्ति दोनों ओर समान है। किन्तु यदि कोई ईश्वर है, तो वह हमारे अन्तर में ही है। क्या तुमने कभी उसे देखा है? यही प्रश्न है। जगत् का अस्तित्व है या नहीं—इस प्रश्न की मीमांसा अभी तक नहीं हो सकी है, और प्रत्यक्षवादियों व विज्ञानवादियों (Idealists) का विवाद कभी समाप्त नहीं होने का। फिर भी हम जानते हैं कि जगत् है और वह चल रहा है। हम केवल शब्दों के तात्पर्य में हेर-फेर कर देते हैं। अतः जीवन के इन सारे प्रश्नों के बावजूद भी हमें प्रत्यक्ष घटनाओं में आना ही पड़ेगा। बाह्य-विज्ञान के ही समान परमार्थ-विज्ञान में भी हमें कुछ पारमार्थिक व्यापारों को प्रत्यक्ष करना होगा। उन्हीं पर धर्म स्थापित होगा। हाँ, यह सत्य है कि धर्म की प्रत्येक बात पर विश्वास करना—यह एक युक्तिहीन दावा है और इसमें कोई आस्था नहीं रखी जा सकती। उससे मनुष्य के मन की अवनति होती है। जो व्यक्ति तुम्हें सभी विषयों में विश्वास करने को कहता है, वह अपने को नीचे गिराता है, और यदि

[illegible] वचनों पर विश्वास करते हो, तो वह तुम्हें भी नीचे [illegible] है। संसार के साधु-महापुरुषों को हमसे बस यही कहने का अधिकार है कि हमने अपने मन का विश्लेषण किया है और ये सत्य पाए हैं। और यदि तुम भी वैसा करो, तो तुम भी उन पर विश्वास करोगे, उसके पहले नहीं। बस यही धर्म का सार है। एक बात आप सदैव ध्यान में रखें कि जो लोग धर्म के विरुद्ध तर्क करते हैं, उनमें से ९९.९ प्रतिशत व्यक्तियों ने कभी अपने मन का विश्लेषण करके नहीं देखा है, सत्य को पाने की कभी चेष्टा नहीं की है। इसलिए धर्म के विरोध में उनकी युक्ति का कोई मूल्य नहीं है। यदि कोई अन्धा मनुष्य चिल्लाकर कहे, "सूर्य के अस्तित्व में विश्वास करनेवाले तुम सभी [illegible]

किसी दूसरे धर्म के अनुयायी की बात लो। ईसा के उस पर्वत पर के धर्मोपदेश का स्मरण करो। जो कोई व्यक्ति इस उपदेश को कार्य-रूप में परिणत करेगा, वह उसी क्षण देवता हो जायगा, सिद्ध हो जायगा। सुनते हैं कि पृथ्वी में इतने करोड़ ईसाई हैं, तो क्या तुम कहना चाहते हो, ये सभी ईसाई हैं? इसका वास्तविक अर्थ यह है कि ये किसी-न-किसी समय इस उपदेश के अनुसार कार्य करने की चेष्टा कर सकते हैं। दो करोड़ लोगों में एक भी सच्चा ईसाई है या नहीं, इसमें सन्देह है।

भारतवर्ष में भी, इसी तरह, सुनते हैं कि तीस कोटि वेदान्ती हैं। यदि प्रत्यक्षानुभूति-सम्पन्न व्यक्ति हजार में एक भी होता, तो यह संसार पाँच मिनट में बदल जाता! हम सभी नास्तिक हैं, परन्तु जो व्यक्ति उसे स्पष्ट स्वीकार करता है, उससे हम विवाद करने को प्रस्तुत हो जाते हैं। हम सभी अन्धकार में पड़े हुए हैं। धर्म हम लोगों के समीप मानो कुछ नहीं है, केवल विचारलब्ध कुछ मतों का अनुमोदन मात्र है, केवल मुँह की बात है। जो व्यक्ति बहुत अच्छी तरह से बोल सकता है, हम बहुधा उसी को धार्मिक समझा करते हैं। पर यह धर्म नहीं है। "शब्द-योजना करने के सुन्दर कौशल, अलंकारिक शब्दों में वर्णन करने की क्षमता, शास्त्रों के श्लोकों की अनेक प्रकार से व्याख्या—ये सब केवल पण्डितों के आमोद की बातें हैं—धर्म नहीं।" हमारी आत्मा में जब प्रत्यक्षानुभूति आरम्भ होगी, तभी धर्म का प्रारम्भ होगा। तभी तुम धार्मिक होगे, एवं तभी नैतिक जीवन का भी प्रारम्भ होगा। इस समय हम पशुओं की अपेक्षा कोई अधिक नीतिपरायण नहीं हैं। केवल समाज के अनुशासन के भय से हम कुछ गड़बड़ नहीं करते।

यदि समाज आज कह दे कि चोरी करने से अब दण्ड नहीं मिलेगा, तो हम इसी समय दूसरे की सम्पत्ति लूटने को छूट पड़ेंगे। पुलिस ही हमें सच्चरित्र बनाती है। सामाजिक प्रतिष्ठा के लोप की आशंका ही हमें नीतिपरायण बनाती है, और वस्तुस्थिति तो यह है कि हम पशुओं से कोई अधिक उन्नत नहीं हैं। हम जब अपने हृदय को टटोलेंगे, तभी समझ सकेंगे कि यह बात कितनी सत्य है। अतएव आओ, इस कपट का त्याग करें। आओ, स्वीकार करें कि हम धार्मिक नहीं हैं और दूसरों से घृणा करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। हम सभी असल में भाई-भाई हैं, और जब हमें धर्म की प्रत्यक्षानुभूति होगी, तभी हम नीतिपरायण होने की आशा कर सकते हैं।

यदि तुमने कोई देश देखा है, तो फिर कोई व्यक्ति तुमसे चाहे कितना भी क्यों न कहे कि तुमने वह नहीं देखा है, तो भी तुम अपने हृदय में यह अच्छी तरह जानते हो कि तुमने देखा है। इसी प्रकार, जब तुम धर्म और ईश्वर को इस बाह्य जगत् की भी अपेक्षा अधिक तीव्र रूप से प्रत्यक्ष कर लेते हो, तब कुछ भी तुम्हारे विश्वास को नष्ट नहीं कर सकता। तभी प्रकृत विश्वास आरम्भ होता है। यही तात्पर्य है बाइबिल की इस बात का—"जिसे एक सरसों मात्र भी विश्वास है, वह यदि पहाड़ के पास जाकर कहे कि तुम हट जाओ, तो पहाड़ भी उसकी बात सुनेगा।" तब, स्वयं सत्यस्वरूप हो जाने के कारण तुम सत्य को जान लोगे।

प्रश्न यही है कि क्या तुम्हें प्रत्यक्षानुभूति हुई है? वेदान्त की मूल बात यही है—धर्म का साक्षात्कार करो, केवल मुख से कहने से कुछ न होगा। किन्तु साक्षात्कार करना

बहुत कठिन है। जो परमाणु के अन्दर अति गुह्य रूप से रहता है, वही पुराण पुरुष प्रत्येक मानव-हृदय के गुह्यतम प्रदेश में निवास करता है। साधु पुरुषों ने उसे अन्तर्दृष्टि द्वारा उपलब्ध किया और सुख-दुःख दोनों के पार हो गए—धर्म और अधर्म, शुभ और अशुभ कर्म, सत् और असत् इन सबके वे पार चले गए। जिसने उक्त पुराण पुरुष को देखा है, उसी ने यथार्थ सत्य का दर्शन किया है। तो फिर स्वर्ग का क्या हुआ? स्वर्ग के सम्बन्ध में धारणा थी कि वह दुःखशून्य सुख है; अर्थात् हम ऐसा स्थान चाहते हैं, जहाँ संसार के सभी सुख हों और उसके दुःख बिल्कुल न हों। यह है तो अत्यन्त सुन्दर धारणा और बिलकुल स्वाभाविक भी है, पर यह पूर्णतः भ्रमात्मक है; क्योंकि पूर्ण सुख या पूर्ण दुःख नाम का कोई पदार्थ नहीं है।

रोम में एक बड़ा धनी व्यक्ति था। उसने एक दिन जाना कि उसके पास अब केवल दस लाख पौण्ड शेष रहे हैं। उसने कहा, "तब मैं कल क्या करूँगा?" और ऐसा कहकर उसने उसी समय आत्महत्या कर ली! दस लाख पौण्ड उसके लिए दारिद्रय था! किन्तु हम लोगों के लिए वैसा नहीं है। वह तो हमारे सम्पूर्ण जीवन की आवश्यकता से भी अधिक है। सचमुच में, ये सुख और दुःख हैं क्या? वे तो लगातार विभिन्न रूप धारण करते रहते हैं। मैं जब छोटा था, तो सोचता था—जब मैं गाड़ी चलाने लगूँगा, तो सुख की पराकाष्ठा को प्राप्त करूँगा। इस समय मैं ऐसा नहीं समझता। अब तुम कौनसे सुख को पकड़े रहोगे? हमें यही समझना है। प्रत्येक की सुख की धारणा अलग-अलग है। मैंने एक ऐसा व्यक्ति देखा है, जो प्रतिदिन अफीम का गोला खाए बिना सुखी नहीं होता। वह शायद सोचे

कि स्वर्ग की मिट्टी अफीम की ही बनी है ! पर मेरे लिए तो यह स्वर्ग बड़ा दुःखदायी होगा । हम लोग बारम्बार अरबी कविता में पढ़ते हैं कि स्वर्ग अनेक प्रकार के मनोहर उद्यानों से पूर्ण है, उसमें अनेक नदियाँ बहती हैं । मैंने अपना अधिकांश जीवन एक ऐसे स्थान में बिताया है, जहाँ जल प्रचुर मात्रा में है और जहाँ प्रतिवर्ष बाढ़ में सैकड़ों गाँव बह जाते हैं । अतएव मेरा स्वर्ग नदी और उद्यान से पूर्ण नहीं हो सकता; मेरा स्वर्ग तो ऐसा होगा, जहाँ अधिक वर्षा नहीं होती । हमारी सुख की धारणा हमेशा बदलती रहती है । एक युवक यदि स्वर्ग की कल्पना करे, तो उसका स्वर्ग परम सुन्दर रमणियों से परिपूर्ण होगा । उसी व्यक्ति के आगे चलकर वृद्ध हो जाने पर उसे स्त्री की आवश्यकता फिर न रहेगी । हमारे प्रयोजन ही हमारे स्वर्ग का निर्माण करते हैं, और हमारे प्रयोजन के परिवर्तन के साथ-साथ हमारा स्वर्ग भी भिन्न-भिन्न रूप धारण करता है । यदि हम इस प्रकार के एक स्वर्ग में जायें, जहाँ अनन्त इन्द्रिय-सुख प्राप्त हो, तो उस जगह हमारी उन्नति नहीं हो सकती । जो विषय-भोग को ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य मानते हैं, वे ही इस प्रकार के स्वर्ग की प्रार्थना करते हैं । यह वास्तव में मंगलकारी न होकर महान् अमंगलकारी होगा । यही क्या हमारी अन्तिम गति है ? थोड़ा हँसना-रोना, उसके बाद कुत्ते के समान मृत्यु ! जब तुम इन सब विषय-भोगों की प्रार्थना करते हो, उस समय तुम यह नहीं जानते कि मानवजाति के लिए जो अत्यन्त अमंगलकारक है, तुम उसी की कामना कर रहे हो । इसका कारण यह है कि तुम यथार्थ आनन्द का स्वरूप नहीं जानते । वास्तव में, दर्शनशास्त्र में आनन्द को त्यागने का उपदेश नहीं

दिया गया है। उसमें तो प्रकृत आनन्द क्या है, बस इसी का उल्लेख दिया गया है। नार्वेवासियों की स्वर्ग के सम्बन्ध में ऐसी धारणा है कि वह एक भयानक युद्धक्षेत्र है—वहाँ सब लोग जाकर 'ओडिन' देवता के सम्मुख बैठते हैं। कुछ समय के बाद जंगली सूअर का शिकार आरम्भ होता है। बाद में वे आपस में ही युद्ध करते हैं और एक दूसरे को खण्ड-खण्ड कर डालते हैं। किन्तु इसके थोड़ी ही देर बाद किसी रूप से उन लोगों के घाव भर जाते हैं। तब वे एक बड़े कमरे में जाकर उस सूअर के मांस को पकाकर खाते तथा आमोद-प्रमोद करते हैं। उसके दूसरे दिन वह सूअर फिर से जीवित हो जाता है और फिर उसी तरह शिकार आदि होता है। यह भी हमारी ही धारणा के अनुरूप है, अन्तर इतना ही है कि हमारी धारणा कुछ अधिक परिष्कृत है। हम भी नार्वेवासियों के ही समान सूअर का शिकार करना चाहते हैं—एक ऐसे स्थान में जाना चाहते हैं, जहाँ ये विषय-भोग पूर्ण मात्रा में लगातार चलते रहें।

दर्शनशास्त्र के मत में एक ऐसा आनन्द है, जो निरपेक्ष और अपरिणामी है। वह आनन्द हमारे ऐहिक सुखोपभोग के समान नहीं है। तो भी वेदान्त प्रमाणित करता है कि इस जगत् में जो कुछ आनन्दकारी है, वह उसी प्रकृत आनन्द का अंश मात्र है, क्योंकि एकमात्र उस आनन्द का ही वास्तविक अस्तित्व है। हम प्रतिक्षण उसी ब्रह्मानन्द का उपभोग कर रहे हैं, पर यह नहीं जानते कि वह ब्रह्मानन्द है। जहाँ कहीं किसी प्रकार का आनन्द देखो, यहाँ तक कि चोरों को चोरी में जो आनन्द मिलता है, वह भी वस्तुतः वही

पूर्णानन्द है; पर हाँ, वह बाह्य वस्तुओं के सम्पर्क से मलीन हो गया है। उसकी प्राप्ति के लिए पहले हमें समस्त ऐहिक सुख-भोग का त्याग करना होगा, तभी प्रकृत आनन्द की उपलब्धि होगी। पहले अज्ञान का—मिथ्या का त्याग करना होगा, तभी सत्य का प्रकाश होगा। जब हम सत्य को दृढ़तापूर्वक पकड़ सकेंगे, तब पहले हमने जो कुछ भी त्याग किया था, वह फिर एक दूसरा रूप धारण कर लेगा। तब सारा ब्रह्माण्ड ब्रह्ममय हो जायगा और सब कुछ एक उन्नत भाव धारण कर लेगा। तब हम सभी पदार्थों को नवीन आलोक में देखेंगे। पर हाँ, पहले हमें उन सबका त्याग करना होगा; बाद में सत्य का आभास पाने पर हम पुनः उन सबको ग्रहण कर लेंगे, पर अबकी अन्य रूप में—ब्रह्म के रूप में। अतएव हमें सुख-दुःख सभी का त्याग करना होगा। "सभी वेद जिसकी घोषणा करते हैं, सभी प्रकार की तपस्याएँ जिसकी प्राप्ति के लिए की जाती हैं, जिसे पाने की इच्छा से लोग ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करते हैं, हम संक्षेप में उसी के सम्बन्ध में तुम्हें बतायेंगे, वह 'ॐ' है।" वेद में इस 'ॐ' शब्द की अतिशय महिमा और पवित्रता वर्णित है।

अब यम नचिकेता के प्रश्न का कि मृत्यु के बाद मनुष्य की क्या दशा होती है, उत्तर देते हैं। "सदा-चैतन्यवान आत्मा कभी नहीं मरती। वह न कभी जन्म लेती है और न किसी से उत्पन्न होती है। वह नित्य है, अज है, शाश्वत है, पुराण है। देह के नष्ट हो जाने पर भी वह नष्ट नहीं होती। मारनेवाला यदि सोचे कि मैं किसी को मार सकता हूँ, अथवा मरनेवाला व्यक्ति यदि सोचे कि मैं मरा हूँ, तो दोनों को ही सत्य से अनभिज्ञ समझना चाहिए; क्योंकि आत्मा न किसी को मारती

है, न स्वयं मृत होती है।" यह तो बड़ी भयानक बात हुई! प्रथम श्लोक में आत्मा का जो 'सदा-चैतन्यवान' विशेषण है, उस पर गौर करो। क्रमशः देखोगे, वेदान्त का प्रकृत मत यह है कि आत्मा में पहले से ही समुदय ज्ञान, समुदय पवित्रता है। उसका कहीं पर अधिक प्रकाश होता है और कहीं पर कम, बस इतना ही भेद है। मनुष्य के साथ मनुष्य का अथवा इस ब्रह्माण्ड के किसी भी पदार्थ का पार्थक्य प्रकारगत नहीं है, परिमाणगत है। प्रत्येक के भीतर अवस्थित सत्य तो वही एकमात्र, अनन्त, नित्यानन्दमय, नित्यशुद्ध, नित्यपूर्ण ब्रह्म है। वही यह आत्मा है। वह पुण्यशील, पापी, सुखी, दुःखी, सुन्दर, कुरूप, मनुष्य, पशु, सबमें समान रूप से वर्तमान है। वह ज्योतिर्मय है। उसके प्रकाश के तारतम्य से ही नाना प्रकार का भेद दीख पड़ता है। किसी के भीतर वह अधिक प्रकाशित है और किसी के भीतर कम, किन्तु उस आत्मा के समीप इस भेद का कोई अर्थ नहीं। एक व्यक्ति की पोशाक में से उसके शरीर का अधिकांश दीख पड़ता है और दूसरे व्यक्ति की पोशाक में से उसके शरीर का अल्पांश ही, पर इससे शरीर में किसी प्रकार का भेद नहीं हो जाता। केवल शरीर के अधिकांश या अल्पांश को आवृत करनेवाली पोशाक का ही भेद दीख पड़ता है। आवरण अर्थात् देह और मन के तारतम्यानुसार ही आत्मा की शक्ति और पवित्रता प्रकाशित होती है। अतएव यहाँ पर यह बात समझ लेनी है कि वेदान्त-दर्शन में अच्छा और बुरा नामक दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। वही एक पदार्थ अच्छा और बुरा दोनों होता है और उनके बीच की विभिन्नता केवल परिमाणगत है। वास्तविक कार्यक्षेत्र में भी हम यही देखते हैं।

आज जिस वस्तु को हम सुखकर कहते हैं, कल कुछ अच्छी अवस्था प्राप्त होने पर उसी को दुःखकर कहकर उससे मुँह मोड़ लेंगे। अतएव प्रकृत वस्तु के विकास की विभिन्न मात्रा के कारण ही भेद दीख पड़ता है, उस पदार्थ में तो वास्तविक कोई भेद नहीं है। वस्तुतः अच्छा-बुरा नामक कोई पदार्थ ही नहीं है। जो अग्नि हमें सर्दी से बचाती है, वही किसी बच्चे को भस्म भी कर सकती है, तो यह क्या अग्नि का दोष हुआ? अतएव, यदि आत्मा शुद्धस्वरूप और पूर्ण हो, तो जो व्यक्ति असत्-कार्य करने जाता है, वह अपने स्वरूप के विपरीत आचरण करता है—वह अपने स्वरूप को नहीं जानता। एक खूनी के भीतर भी वही शुद्ध-स्वरूप आत्मा है। वह भ्रान्ति से उसको ढाँके हुए है, वह उसकी ज्योति को प्रकाशित नहीं होने दे रहा है। फिर, जो व्यक्ति सोचता है कि वह हत हुआ, उसकी भी आत्मा हत होती नहीं। आत्मा नित्य है—उसका कभी भी ध्वंस नहीं हो सकता। "अणु से भी अणु, वृहत् से भी वृहत्, वह सबका प्रभु प्रत्येक मानव-हृदय के गुह्यप्रदेश में वास करता है। निष्पाप व्यक्ति विधाता की कृपा से उसे देखकर सभी प्रकार के शोक से रहित हो जाता है। जो देहशून्य होकर भी देह में रहता है, जो देशविहीन होकर भी देश में रहनेवालों के समान है, उस अनन्त, सर्वव्यापी आत्मा को इस प्रकार जानकर ज्ञानी व्यक्ति का दुःख सम्पूर्ण रूप से दूर हो जाता है।" "इस आत्मा को वक्तृता-शक्ति, तीक्ष्ण मेधा अथवा वेदाध्ययन के द्वारा नहीं पाया जा सकता।"

'इस आत्मा को वेदाध्ययन के द्वारा नहीं पाया जा सकता' —ऐसा कहना ऋषियों के लिए परम साहस का कार्य था। पहले ही कहा है, ऋषिगण चिन्तन-जगत् में बड़े साहसी थे। वे कहीं पर

हक जानेवाले व्यक्ति नहीं थे। हिन्दू लोग वेद को जिस सम्मान की दृष्टि से देखते हैं, उस भाव से ईसाई लोग भी वाइबिल को नहीं देखते। ईश्वर-वाणी के विषय में ईसाइयों की ऐसी धारणा है कि किसी मनुष्य ने ईश्वरानुप्राणित होकर उसे लिखा है; किन्तु हिन्दुओं की धारणा है कि जगत् में जो सब विभिन्न पदार्थ हैं, उसका कारण यह है कि वेद में उन-उन पदार्थों का नाम उल्लिखित है। उनका विश्वास है कि वेद के द्वारा ही जगत् की सृष्टि हुई है। जो कुछ ज्ञान है, वह सब वेद में ही है। जिस प्रकार आत्मा अनादि अनन्त है, उसी प्रकार वेद का प्रत्येक शब्द भी पवित्र एवं अनन्त है। सृष्टिकर्ता के मन का सारा भाव ही मानो इस ग्रन्थ में प्रकाशित है। वे बस इसी भाव से वेद को देखते हैं। यह कार्य नीतिसंगत क्यों है?—क्योंकि ऐसा वेद कहते हैं। यह कार्य अन्याय क्यों है?—क्योंकि ऐसा वेद कहते हैं। वेद के प्रति लोगों की ऐसी श्रद्धा रहने पर भी इन ऋषियों का सत्यानुसन्धान में कितना साहस है, देखो! वे कहते हैं, 'नहीं, वारम्बार वेद के अध्ययन से भी सत्य प्राप्त नहीं होने का।' "वह आत्मा जिसके प्रति प्रसन्न होती है, उसी को वह अपना स्वरूप दिखलाती है।" किन्तु इससे एक आशंका उठ सकती है कि तब तो आत्मा पक्षपाती है। इसलिए निम्नलिखित वाक्य भी इसके साथ कहे गए हैं। "जो असत्-कार्य करनेवाले हैं, जिनका मन शान्त नहीं है, वे इसे कभी नहीं पा सकते। जिनका हृदय पवित्र है, जिनका कार्य पवित्र है और जिनकी इन्द्रियाँ संयत हैं, उन्हीं के निकट यह आत्मा प्रकाशित होती है।"

आत्मा के सम्बन्ध में एक सुन्दर उपमा दी गई है। आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी, मन को लगाम और

इन्द्रियों को अश्वों की उपमा दी गई है। जिस रथ के घोड़े अच्छी तरह संयत हैं, जिस रथ की लगाम मजबूत है और सारथी के द्वारा दृढ़रूप से पकड़ी हुई है, वही रथ विष्णु के उस परम-पद को पहुँच सकता है, किन्तु जिस रथ के इन्द्रियरूपी घोड़े दृढ़भाव से संयत नहीं हैं तथा मनरूपी लगाम मजबूती से पकड़ी हुई नहीं है, वह रथ अन्त में विनाश को प्राप्त होता है। सभी प्राणियों में अवस्थित आत्मा चक्षु अथवा किसी दूसरी इन्द्रिय के समक्ष प्रकाशित नहीं होती, किन्तु जिनका मन पवित्र हुआ है, वे ही उसे देख पाते हैं। जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से अतीत है, जो अव्यय है, जिसका आदि-अन्त नहीं है, जो प्रकृति के अतीत है, अपरिणामी है, उसको जो प्राप्त करते हैं, वे मृत्यु-मुख से मुक्त हो जाते हैं। किन्तु उसे पाना बहुत कठिन है; यह मार्ग तेज छुरे की धार पर चलने के समान अत्यन्त दुर्गम है। मार्ग बहुत लम्बा और जोखिम का है, किन्तु निराश मत होओ, दृढ़तापूर्वक बढ़े चलो, 'उठो, जागो और उस चरम लक्ष्य पर पहुँचते तक रुको मत।'

हम देखते हैं, समस्त उपनिषदों में प्रधान बात यह अपरोक्षानुभूति ही है। इसके सम्बन्ध में मन में समय-समय पर अनेक प्रकार के प्रश्न उठेंगे; विशेषतः आधुनिक लोगों के लिए इसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होंगे एवं और भी अनेक प्रकार के सन्देह आयेंगे, पर ये प्रश्न करते समय हम पायेंगे कि हम प्रत्येक बार अपने पूर्व-संस्कारों द्वारा परिचालित होते हैं। हमारे मन पर इन पूर्व-संस्कारों का अतिशय प्रभाव है। जो बाल्यकाल से केवल सगुण ईश्वर और मन के व्यक्तित्व (the personality of the mind) की बात

सुनते हैं, उनके लिए पूर्वोक्त बातें निश्चय ही अति कर्कश मालूम पड़ेंगी, किन्तु यदि हम उन्हें सुनें और दीर्घकाल तक उन पर मनन करें, तो वे बातें हमारी नस-नस में भिद जायँगी। हम फिर इस तरह की बातें सुनकर भयभीत न होंगे। मुख्य प्रश्न है दर्शन की उपयोगिता अर्थात् व्यावहारिकता के सम्बन्ध में। उसका केवल एक ही उत्तर दिया जा सकता है। यदि उपयोगितावादियों के मत में सुख का अन्वेषण करना ही मनुष्य का कर्तव्य है, तो जिन्हें आध्यात्मिक चिन्तन में सुख मिलता है, वे क्यों न आध्यात्मिक चिन्तन में सुख का अन्वेषण करें? अनेक लोग विषय-भोग में सुख पाने के कारण विषय-सुख का अन्वेषण करते हैं, किन्तु ऐसे अनेक व्यक्ति हो सकते हैं, जो उच्चतर आनन्द का अन्वेषण करते हों। कुत्ता खाने-पीने से ही सुखी हो जाता है। वैज्ञानिक कुछ तारों की स्थिति जानने के लिए ही विषय-सुख को तिलांजलि दे, शायद किसी पर्वत के शिखर पर वास करता है। वह जिस अपूर्व सुख का आस्वाद पाता है, कुत्ता उसे नहीं समझ सकता। कुत्ता उसे देखकर शायद हँसे और उसे पागल कहे। हो सकता है, बिचारे वैज्ञानिक को विवाह भी करने का अवसर न मिला हो। हो सकता है, वह रोटी के कुछ टुकड़े और थोड़ेसे पानी के आधार पर ही पर्वत के शिखर पर रहता हो। किन्तु वैज्ञानिक कहेगा, "भाई कुत्ते! तुम्हारा सुख केवल इन्द्रियों में है; तुम उसके अतिरिक्त और कोई भी सुख नहीं जानते; पर मेरे लिए तो यही सबसे बढ़कर सुख है। और यदि तुम्हें अपने मनोनुकूल सुखान्वेषण का अधिकार है, तो मुझे भी है।" हम यही भूल करते हैं कि हम समस्त जगत् को अपने ही अनुसार चलाना चाहते हैं। हम अपने ही मन को सारे जगत्

का मापदण्ड बनाना चाहते हैं। तुम्हारी दृष्टि में इन्द्रिय-विषयों में ही सर्वापेक्षा अधिक सुख है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मुझे भी उन्हीं से सुख मिलेगा। और जब तुम अपने मत पर अड़ने लगते हो, तो मेरा तुमसे मतभेद हो जाता है। सांसारिक उपयोगितावादी (Worldly Utilitarian) के साथ धर्मवादी का यही प्रभेद है। सांसारिक हितवादी कहते हैं—"देखो, हम कितने सुखी हैं! हम तुम्हारे धर्म-तत्त्वों को लेकर मायापच्ची नहीं करते। वे तो अनुसन्धानातीत हैं। उन सबका अन्वेषण न कर हम बड़े मजे में हैं।" यह बहुत अच्छी बात है। हे हितवादियो! तुम लोग जिससे सुखी होते हो, वह ठीक है। किन्तु यह संसार बड़ा भयानक है। यदि कोई व्यक्ति अपने भाई का कोई अनिष्ट न करके सुख प्राप्त कर सके, तो ईश्वर उसकी उन्नति में सहायक हो! पर जब वह व्यक्ति आकर मुझे अपने मत के अनुसार कार्य करने का परामर्श देता है और कहता है, 'यदि तुम इस तरह नहीं करते, तो तुम मूर्ख हो,' तो मैं उससे कहता हूँ, 'तुम गलत हो, क्योंकि तुम्हारे लिए जो सुखकर है, वह मेरे लिए बिलकुल विपरीत है। यदि मुझे सोने के चन्द टुकड़ों के लिए दौड़ना पड़े, तो मैं तो मर जाऊँ!' धार्मिक व्यक्ति हितवादी को यही उत्तर देगा। सच तो यह है कि जिसने निम्नतर भोग-वासनाओं का अन्त कर लिया है, वही धर्माचरण कर सकता है। हमें ठोकरें खाकर, स्वयं अपने अनुभवों से सीखना होगा; जहाँ तक हमारी दौड़ है, वहाँ तक दौड़ लेना होगा। जब इस संसार में हम अपनी दौड़ पूरी कर लेते हैं, तभी हमारी दृष्टि के समक्ष परलोक जगता है।

इस प्रसंग में एक और समस्या हमारे मन में उठती है।

बात सुनने में है तो बड़ी कर्कश, पर वह सत्य है। यह विषय-भोग-वासना कभी-कभी एक अन्य रूप लेकर आती है, जो ऊपर से बड़ा रमणीय है, पर जिसमें खतरे की आशंका है। वह यह है :— हम बहुत प्राचीन काल से प्रत्येक धर्म में यह धारणा पाते हैं कि एक ऐसा समय आयगा, जब संसार का समस्त दुःख समाप्त हो जायगा, केवल सुख ही अवशिष्ट रह जायगा और पृथ्वी स्वर्ग में परिणत हो जायगी। पर मेरा इस बात पर विश्वास नहीं है। हमारी पृथ्वी जैसी है, वैसी ही रहेगी। यह बात कहना कठोरता तो है, किन्तु इसके अतिरिक्त मैं और कोई मार्ग नहीं देखता। यह वायु-रोग के समान है। मस्तक से उतारो तो पैर में जायगा। वहाँ से हटा देने पर दूसरे स्थान में चला जायगा। कुछ भी क्यों न करो, वह किसी तरह पूर्णरूपेण दूर नहीं हो सकता। दुःख भी इसी तरह है। अति प्राचीन काल में लोग जंगल में रहा करते थे और एक दूसरे को मारकर खाते थे। वर्तमान काल में मनुष्य एक दूसरे का मांस नहीं खाते परन्तु एक दूसरे को ठगा खूब करते हैं। छल-कपट से नगर के नगर, देश के देश ध्वंस हुए जा रहे हैं। निश्चय ही यह किसी अधिक उन्नति का परिचायक नहीं है। फिर, आप लोग जिसे उन्नति कहते हैं, उसे भी मैं उन्नति नहीं मानता— यह तो वासनाओं की लगातार वृद्धि मात्र है। यदि मुझे कोई बात स्पष्ट दिखती है, तो वह यही है कि वासना से केवल दुःख का आगमन होता है। यह तो याचक की अवस्था है, सदा ही कुछ-न-कुछ के लिए याचना करते रहना—बस चाहना, चाहना, चाहना! यदि वासना पूर्ण करने की शक्ति समान्तर-श्रेणी (Arithmetical Progression) के

नियमानुसार बढ़े, तो वासना की शक्ति समगुणितान्तर-श्रेणी (Geometrical Progression) के नियमानुसार बढ़ती है। इस संसार के सुख-दुःख की समष्टि सर्वदा समान है। समुद्र में यदि एक तरंग कहीं पर उठती है, तो निश्चय ही कहीं पर एक गर्त उत्पन्न होगा। यदि किसी मनुष्य को सुख प्राप्त हुआ है, तो निश्चय ही किसी दूसरे मनुष्य या पशु को दुःख हुआ है। मनुष्यों की संख्या बढ़ रही है, पर कुछ प्राणियों की संख्या घट रही है। हम उनका विनाश करके उनकी भूमि छीन रहे हैं, हम उनका समस्त खाद्यद्रव्य छीन रहे हैं। तब हम किस तरह कहें कि सुख लगातार बढ़ रहा है? सबल जाति दुर्बल जाति का ग्रास कर रही है, पर क्या तुम समझते हो कि सबल जाति इससे कुछ सुखी होगी? नहीं, वे फिर एक दूसरे का संहार करेंगी। मेरी तो समझ में नहीं आता कि सुख का युग किस तरह आयगा। प्रत्यक्ष बातें उसके विरुद्ध हैं। आनुमानिक विचार के द्वारा भी मैं देखता हूँ कि यह कभी सम्भव नहीं है।

पूर्णता सदैव अनन्त है। हम वस्तुतः वही अनन्तस्वरूप हैं—अपने उसी अनन्तस्वरूप को अभिव्यक्त करने की चेष्टा कर रहे हैं। यहाँ तक तो ठीक है। पर इससे कुछ जर्मन दार्शनिकों ने एक विचित्र दार्शनिक सिद्धान्त निकाला है—वह यह कि इस तरह अनन्त क्रमशः अधिकाधिक व्यक्त होता रहेगा, जब तक कि वह पूर्ण व्यक्त नहीं हो जाता, जब तक कि हम सब पूर्ण पुरुष नहीं हो जाते। पूर्ण अभिव्यक्ति का क्या अर्थ है? पूर्णता का अर्थ है अनन्त, और अभिव्यक्ति का अर्थ है सीमा। अतः इसका यह तात्पर्य हुआ कि हम असीम रूप से ससीम होंगे। पर यह स्वतः-विरुद्ध है। बाल-मति इस मत से भले ही सन्तुष्ट हो जाय,

पर यह उसके मन में मिथ्यारूपी विष के बीज बोना है, और धर्म के लिए तो यह बड़ा ही हानिकारक है। हम जानते हैं कि जगत् और मानव ईश्वर के अवनत भाव हैं; तुम्हारी बाइबिल में भी कहा है कि आदम पहले पूर्ण मानव थे, बाद में भ्रष्ट हो गए। ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो यह न कहता हो कि मनुष्य पहले की अवस्था से आज नीचे गिर गया है। हम हीन होकर पशु हो गए हैं। अब हम फिर से उन्नति के मार्ग पर चल रहे हैं, और इस बन्धन से बाहर होने का प्रयत्न कर रहे हैं, पर अनन्त को यहाँ पूरी तरह अभिव्यक्त करने में हम कभी समर्थ न होंगे। हम प्राणपण से चेष्टा कर सकते हैं, परन्तु देखेंगे कि यह असम्भव है। अन्त में एक समय आयगा, जब हम देखेंगे कि जब तक हम इन्द्रियों में आबद्ध हैं, तब तक पूर्णता की प्राप्ति असम्भव है। तब, हम जिस ओर अग्रसर हो रहे थे, उसी ओर से पीछे लौटना प्रारम्भ करेंगे।

इसी लौट आने का नाम है त्याग। तब, हम जिस जाल में पड़ गए थे, उसमें से हमें बाहर निकल आना होगा—तभी नीति और दया-धर्म का आरम्भ होगा। समस्त नैतिक अनुशासन का मूलमंत्र क्या है? 'नाहं नाहं, त्वमसि त्वमसि (मैं नहीं, मैं नहीं—तू ही, तू ही)।' हमारे पीछे जो अनन्त विद्यमान है, उसने अपने को बहिर्जगत् में व्यक्त करने के लिए इस 'अहं' का रूप धारण किया है। उसी से इस क्षुद्र 'मैं' और 'तुम' की उत्पत्ति हुई है। अभिव्यक्ति की चेष्टा में इसी 'अहं'-रूप फल की उत्पत्ति हुई है। अब इस 'मैं' को फिर पीछे लौटकर अपने अनन्त स्वरूप में मिल जाना होगा। जितनी बार तुम कहते हो 'नाहं नाहं, त्वमसि त्वमसि,' उतनी ही बार

तुम लौटने की चेष्टा करते हो, और जितनी बार तुम कहते हो 'अहं अहं, न त्वम्', उतनी बार अनन्त को यहाँ अभिव्यक्त करने का तुम्हारा मिथ्या प्रयास होता है। इसी से संसार में प्रतिद्वन्द्विता, संघर्ष और अनिष्ट की उत्पत्ति होती है। पर अन्त में त्याग—अनन्त त्याग का आरम्भ होगा ही। यह 'मैं' मर जायगा। अपने जीवन के लिए तब कौन यत्न करेगा? यहाँ रहकर इस जीवन के उपभोग करने की व्यर्थ वासना और फिर इसके बाद स्वर्ग जाकर उसी तरह रहने की वासना—अर्थात् सर्वदा इन्द्रिय और इन्द्रिय-सुखों में लिप्त रहने की वासना ही मृत्यु को लाती है।

यदि हम पशुओं की उन्नत अवस्था हैं, तो जिस विचार से यह सिद्धान्त उपलब्ध हुआ, उसी विचार से यह सिद्धान्त भी हो सकता है कि पशु मनुष्य की अवनत अवस्था है। तुमने यह कैसे जाना कि वैसा नहीं है? तुमने देखा है कि क्रमविकासवाद का प्रमाण केवल इतना है कि निम्नतम प्राणी से लेकर उच्चतम प्राणी तक सभी के शरीर परस्पर-सदृश हैं; किन्तु उससे तुमने यह किस प्रकार सिद्धान्त निकाला कि निम्नतम प्राणी से क्रमशः उच्चतम प्राणी जन्मा है, न कि उच्चतम से क्रमशः निम्नतम? दोनों ही ओर समान युक्ति है, और मेरा तो विश्वास है कि एक बार नीचे से ऊपर, फिर ऊपर से नीचे गति होती है—अर्थात् लगातार इस देह-श्रेणी का आवर्तन हो रहा है। क्रम-संकोचवाद स्वीकार किए बिना क्रमविकासवाद किस तरह सत्य हो सकता है? जो हो, मैं जो कह रहा था कि मनुष्य की लगातार अनन्त उन्नति नहीं हो सकती, यह इससे अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है।

यदि मुझे कोई समझा सके कि 'अनन्त' इस जगत् में अभिव्यक्त हो सकता है, तो मैं समझने को प्रस्तुत हूँ, पर इस पर तो मेरा बिलकुल विश्वास नहीं कि हम लगातार एक सरल रेखा में उन्नति करते जा रहे हैं। ऐसा कहना कोरा पागलपन है। सरल रेखा में किसी प्रकार की गति नहीं हो सकती। यदि तुम अपने सामने एक पत्थर फेंको, तो एक समय ऐसा आयगा, जब वह गोलाकार में घूमकर तुम्हारे निकट फिर आ जायगा। तुम लोगों ने क्या गणित के इस सिद्धान्त को नहीं पढ़ा है कि सरल रेखा अनन्त रूप से बढ़ा दी जाने पर वर्तुल का आकार धारण कर लेती है? अवश्य यह ऐसा ही होगा, परन्तु सम्भव है, मार्ग पर अग्रसर होते-होते कुछ इधर-उधर हो जाय। मैं सर्वदा प्राचीन धर्मों का मत अपनाता हूँ। क्या ईसा, क्या बुद्ध, क्या वेदान्त, क्या बाइबिल—सभी कहते हैं कि इस अपूर्ण जगत् को त्यागने पर ही हम समय आने पर पूर्णता प्राप्त कर लेंगे। यह जगत् कुछ भी नहीं है—अधिक-से-अधिक, उस सत्य की एक वीभत्स छाया मात्र है। अज्ञानी मनुष्य इन इन्द्रिय-सुखों के पीछे दौड़ते फिरते हैं।

इन्द्रियों में आसक्त होना अत्यन्त सहज है। और भी सहज है अपने प्राचीन अभ्यास के वशीभूत हो केवल आहार-पान में मत्त होकर रहना। हमारे आधुनिक दार्शनिक उपदेश देते हैं कि इन सभी विषय-भोगों को अपनाओ, हाँ, केवल उन पर धर्म की छाप लगा दो। पर यह उपदेश भयानक है—वह सत्य नहीं है। इन्द्रियों की मृत्यु निश्चित है—और हमें तो मृत्यु से अतीत होना है। मृत्यु कभी भी सत्य नहीं है। त्याग ही हमें सत्य में पहुँचायगा। नीति का अर्थ ही त्याग है। हमारे प्रकृत जीवन का

प्रत्येक अंश त्याग है। हम वास्तव में जीवन के उन्हीं क्षणों में साधुता से युक्त होते हैं और प्रकृत जीवन का सम्भोग करते हैं, जब हम 'मैं' की चिन्ता से विरत होते हैं। 'मैं' का जब नाश हो जाता है, जब हमारे अन्तर के 'प्राचीन मनुष्य' (Old man) की मृत्यु हो जाती है, तभी हम सत्य में पहुँचते हैं। वेदान्त कहता है—यह सत्य ही ईश्वर है, यही हमारा प्रकृत स्वरूप है—यह सर्वदा तुम्हारे साथ रहता है, यही नहीं, यह तुममें ही रहता है। उसी में सर्वदा वास करो। यद्यपि यह बहुत कठिन प्रतीत होता है, तथापि क्रमशः यह सहज हो जायगा। तब तुम देखोगे, उसमें रहना ही एकमात्र आनन्दपूर्ण अवस्था है और अन्य सभी अवस्थाएँ मृत्यु हैं। आत्म-भाव में पूर्ण होना ही जीवन है—अन्य सभी भाव मृत्यु हैं। हमारे वर्तमान जीवन को शिक्षा के लिए एक विश्वविद्यालय कहा जा सकता है। प्रकृत जीवन की प्राप्ति के लिए हमें इसके बाहर जाना होगा।

आत्मा का मुक्त-स्वभाव

(५ नवम्बर, १८९६ को लन्दन में दिया गया भाषण)

हमने पहले जिस कठोपनिषद् की चर्चा की है, वह छान्दोग्योपनिषद् के, जिसकी हम अब चर्चा करेंगे, बहुत समय बाद रचा गया था। कठोपनिषद् की भाषा अपेक्षाकृत आधुनिक है, उसकी चिन्तन-शैली भी सबसे अधिक प्रणालीबद्ध है। प्राचीनतर उपनिषदों की भाषा कुछ अन्य प्रकार की है। वह अति प्राचीन एवं बहुत-कुछ वेद के संहिता-भाग की तरह है, और कभी-कभी तो सार मत में पहुँचने के लिए बहुतसी अनावश्यक बातों में से होकर जाना पड़ता है। इस प्राचीन उपनिषद् पर वेद के कर्मकाण्ड का काफ़ी प्रभाव पड़ा है। इसी लिए इसका अधिकांश अब भी कर्मकाण्डात्मक है। तो भी अति प्राचीन उपनिषदों के अध्ययन से एक महान् लाभ होता है। वह यह है कि उससे आध्यात्मिक भावों का ऐतिहासिक विकास जाना जा सकता है। अपेक्षाकृत आधुनिक उपनिषदों में ये आध्यात्मिक तत्त्व एकत्र संग्रहीत एवं सज्जित पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ भगवद्गीता को ही ले लीजिए। श्रीमद्भगवद्गीता को अन्तिम उपनिषद् कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें कर्मकाण्ड का लेशमात्र भी नहीं है। गीता का प्रत्येक श्लोक किसी-न-किसी उपनिषद् से संग्रहीत है, मानो अनेक पुष्पों के संचयन से एक सुन्दर गुच्छ निर्मित हुआ हो। किन्तु उसमें इन सब तत्त्वों का क्रम-विकास देखने में नहीं आता। आध्यात्मिक तत्त्वों के इस क्रम-विकास को जानने के लिए हमें वेदों का अध्ययन करना होगा। वेदों को लोग इतनी पवित्रता की दृष्टि से देखते हैं कि संसार के अन्यान्य

धर्म-शास्त्रों में जिस तरह नाना प्रकार की मिलावट हुई है, उनमें वैसी नहीं होने पाई। उनमें अति उच्च और निम्नतम दोनों प्रकार के विचारों को वैसे-का-वैसा ही रखा गया है—सार-असार, अति उन्नत विचार और साथ ही सामान्य छोटी-छोटी बातें, दोनों ही उनमें सुरक्षित हैं। किसी ने उनमें परिवर्तन या परिवर्धन करने का साहस नहीं किया। फिर टीकाकार आए और वे व्याख्या के बल से उन प्राचीन विषयों में से अद्भुत-अद्भुत नए भाव निकालने लगे। अत्यन्त साधारण बातों में भी वे आध्यात्मिक तत्त्व देखने लगे। किन्तु मूल जैसे-का-तैसा ही रहा। और इसी लिए वे ऐतिहासिक अध्ययन के लिए अनुपम विषय हैं। हम सभी जानते हैं कि प्रत्येक धर्म के शास्त्रों में परवर्ती बढ़ते हुए आध्यात्मिक भाव के अनुरूप परिवर्तन किए गए—यहां एक शब्द बदल दिया, वहां एक जोड़ दिया और कहीं एक-आध बात निकाल भी दी! पर वैदिक साहित्य में सम्भवतः ऐसा नहीं किया गया है। और यदि हुआ भी हो, तो उसका पता ही नहीं चलता। हमें इससे यह लाभ है कि हम विचार के मूल उत्पत्ति-स्थान में पहुंच सकते हैं और देख सकते हैं कि किस प्रकार क्रमशः उच्च से उच्चतर विचारों का—स्थूल आधिभौतिक धारणाओं से सूक्ष्मतर आध्यात्मिक धारणाओं का—विकास हुआ है और अन्त में किस प्रकार वेदान्त में उन सबों की चरम परिणति हुई है। वैदिक साहित्य में अनेक प्राचीन आचार-व्यवहारों का भी आभास पाया जाता है। पर उपनिषदों में [illegible] अधिक वर्णन नहीं है। वे एक ऐसी भाषा में लिखे गए हैं, [illegible] संक्षिप्त है और सरलता से याद रखी जा सकती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इन उपनिषदों के लेखक मानो ऐसी कुछ घटनाओं को स्मरण रखने के लिए ही इनको लिख रहे हैं, जिन्हें वे समझते हैं कि सभी जानते हैं। इससे असुविधा यह होती है कि हम उपनिषदों में लिखी कथाओं का वास्तविक तात्पर्य ग्रहण नहीं कर पाते। इसका कारण यह है कि जिन लोगों के समय में ये लिखी गई थीं, वे इन घटनाओं को जानते थे, पर आज इनकी किम्वदन्ती भी वर्तमान नहीं है, और जो एक-आध है भी, वह भी अतिरंजित रूप में है। इनकी ऐसी नई-नई व्याख्याएँ की गई हैं कि जब हम पुराणों में इनके विवरण पढ़ते हैं, तो देखते हैं कि ये कल्पनात्मक काव्य बन गई हैं।

जिस प्रकार पाश्चात्य देशों में, पाश्चात्य जातियों की राजनीतिक उन्नति के सम्बन्ध में हम यह महत्त्वपूर्ण सत्य पाते हैं कि वे किसी का एकाधिपत्य सहन नहीं कर सकती, किसी एक मनुष्य के अपने ऊपर शासन करने का वे सतत विरोध कर रही हैं और प्रजातन्त्र-शासनप्रणाली एवं भौतिक स्वाधीनता की क्रमशः उच्च-उच्च धारणाओं में जा रही हैं, उसी प्रकार भारतीय दर्शन में भी, आध्यात्मिक जीवन की उन्नति में ठीक वही बात घटती है। 'अनेक-देववाद' से क्रमशः लोग 'एकेश्वरवाद' में पहुँचे, और उपनिषदों में तो इस एकेश्वरवाद के विरुद्ध भी आवाजें उठी हैं। इस जगत् के अनेक शासनकर्ता उनके भाग्य को नियन्त्रित कर रहे हैं केवल यही धारणा उन्हें असह्य नहीं हुई, बल्कि एकजन भी उनके अदृष्ट का विधाता हो—यह धारणा भी उन्हें सह्य न हो सकी। उपनिषद् की आलोचना करने पर यही सबसे पहले हमारे सामने आता है। यह धारणा धीरे-धीरे बढ़ती गई है और अन्त में उसकी चरम परिणति हुई है। प्रायः सभी

उपनिषदों में अन्त में हम यही परिणति पाते हैं और वह है—जगदीश्वर को सिंहासन-च्युत करना। ईश्वर की सगुण धारणा मिटकर निर्गुण धारणा उपस्थित होती है। तब ईश्वर जगत् का शासनकर्ता एक व्यक्ति अथवा एक अनन्तगुण-सम्पन्न मानवधर्म-वाला नहीं रह जाता, प्रत्युत वह एक भाव मात्र या एक परम-तत्त्व मात्र के रूप में ज्ञात होता है। हममें, जगत् के सभी प्राणियों में, यहाँ तक कि समस्त जगत् में वही तत्त्व ओत-प्रोत भाव से विराजमान है। और यह निश्चित है कि जब ईश्वर की सगुण धारणा निर्गुण धारणा में पहुँच गई, तब मनुष्य भी सगुण नहीं रह सकता। अतएव मनुष्य का सगुणत्व भी उड़ गया—मनुष्य भी एक तत्त्व मात्र हुआ। सगुण व्यक्ति बाह्य प्रदेश में है और प्रकृत तत्त्व उसके अन्तर्देश में। इस तरह दोनों ओर से क्रमशः सगुणत्व चला जाता है और निर्गुणत्व का आविर्भाव होता रहता है। सगुण ईश्वर की क्रमशः निर्गुण धारणा होती जाती है और सगुण मनुष्य का भी निर्गुण भाव आता रहता है। तब इन दो दिशाओं में विभिन्न रूप से प्रवाहित इन दो धाराओं का विभिन्न वर्णन पाया जाता है। ये दो धाराएँ जिस क्रम से आगे होकर मिल जाती हैं, उसके वर्णन से उपनिषद् पूर्ण हैं एवं प्रत्येक उपनिषद् की अन्तिम बात है—'तत्त्वमसि'। केवल एकमात्र नित्य-आनन्दमय तत्त्व है, और वही परम-तत्त्व इस जगत्-रूप में अनेक प्रकार से प्रकाशित हुआ है।

अब दार्शनिक आए। उपनिषदों का कार्य यहीं पर समाप्त हुआ प्रतीत होता है। दार्शनिकों ने उसके बाद अन्यान्य प्रश्नों पर विचार आरम्भ किया। उपनिषदों से मुख्य बातें प्राप्त हुईं और उनकी विस्तारपूर्वक व्याख्या करना, विचार

करना दार्शनिकों के लिए रह गया। यह स्वाभाविक है कि पूर्वोक्त सिद्धान्त से अनेक प्रश्न उठें। यदि यह स्वीकार किया जाय कि एक निर्गुण-तत्त्व ही परिदृश्यमान नाना रूपों से प्रकाशित होता है, तो यह जिज्ञासा होती है कि एक क्यों अनेक हुआ? यह वही प्राचीन प्रश्न है, जो मनुष्य की अमार्जित बुद्धि में स्थूल भाव से उत्पन्न होता है, जो पूछता है—जगत् में दुःख और अशुभ क्यों है? उस प्रश्न ने स्थूल भाव त्यागकर सूक्ष्म रूप धारण कर लिया है। अब हमारी बाह्य अथवा स्थूल दृष्टि से वह प्रश्न नहीं पूछा जा रहा है, बल्कि भीतर से, दार्शनिक दृष्टि से इस प्रश्न का विचार हो रहा है। क्यों वह एक तत्त्व अनेक हुआ? इसका उत्तर—सर्वोत्तम उत्तर—भारतवर्ष में मिला। वह है मायावाद, जो कहता है कि वास्तव में वह अनेक नहीं हुआ, वास्तव मे उसके प्रकृत स्वरूप की लेशमात्र भी हानि नहीं हुई, यह अनेकत्व केवल ऊपर से प्रतीत होता है। मनुष्य केवल ऊपरी दृष्टि से व्यक्ति के रूप में प्रतीत हो रहा है, किन्तु वास्तव में वह निर्गुण है। ईश्वर भी आपाततः ही सगुण या व्यक्ति के रूप में प्रतीत हो रहा है, वह तो वास्तव में इस विश्व-ब्रह्माण्ड में अवस्थित निर्गुण पुरुष है।

यह उत्तर भी एकदम से प्राप्त नही हो गया। उसके लिए भी विभिन्न सोपानों में से जाना पड़ा, दार्शनिकों में मत-भेद हुए। मायावाद भारत के सभी दार्शनिकों को मान्य नहीं था। सम्भवतः उनमें से अधिकांश दार्शनिकों ने इस मत को स्वीकार नही किया। कुछ तो द्वैतवादी हैं—उनका मत द्वैतवाद है। निश्चय ही उनका यह मत विशेष उन्नत और मार्जित

नहीं है। वे इस प्रश्न को उठने ही नहीं देते। इस प्रश्न के उदय होते ही वे इसे दबा देते हैं। वे कहते हैं, "तुमको ऐसा प्रश्न करने का अधिकार नहीं है। 'क्यों इस तरह हुआ', इसकी व्याख्या पूछने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं। यह तो बस ईश्वर की इच्छा है और हमें शान्त भाव से उसे सिर-आँखों पर लेना होगा। जीवात्मा को कुछ भी स्वाधीनता नहीं है। सब कुछ पहले से ही निर्दिष्ट है। हम क्या-क्या करेंगे, हमें क्या-क्या अधिकार हैं, हम क्या-क्या सुख-दुःख भोगेंगे—सब कुछ पहले से ही निर्दिष्ट है। जब दुःख आए, तो धैर्य से उन सबका भोग करते जाना ही हमारा कर्तव्य है। यदि हम ऐसा न करें, तो और भी अधिक कष्ट पायेंगे। हमने यह कैसे जाना?—क्योंकि वेद ऐसा कहते हैं।" वे भी वेद के श्लोक उद्धृत करते हैं। उनके मत के अनुकूल भी वेदों में श्लोक हैं और वे इनको प्रमाण कहकर सब लोगों को इन्हें मानने एवं तदनुसार चलने का उपदेश देते हैं।

फिर ऐसे भी दार्शनिक हैं, जो मायावाद स्वीकार नहीं करते, पर जिनका मत मायावाद और द्वैतवाद के बीच का है। वे हैं परिणामवादी। वे कहते हैं, जीवात्मा की उन्नति और अवनति—विभिन्न परिणाम ही—जगत् की यथार्थ व्याख्या है। वे रूपक-भाव से वर्णन करते हैं कि सभी आत्माएँ एक बार संकोच को और फिर विकास को प्राप्त होती हैं। सारा जगत् मानो भगवान का शरीर है। ईश्वर समस्त प्रकृति एवं सकल आत्माओं की आत्मा है। सृष्टि का अर्थ है ईश्वर के स्वरूप का विकास। कुछ समय तक यह विकास चलता है, फिर संकोच होने लगता है। प्रत्येक जीवात्मा के इस संकोच का कारण है

उसके असत्-कर्म। असत्-कर्म करने से मनुष्य की आत्मा की शक्ति क्रमशः संकुचित होने लगती है—जब तक कि वह फिर से सत्कर्म आरम्भ नहीं करता। तब पुनः उसका विकास होने लगता है। इन सारे भारतीय मतों में, और मेरे विचार में तो, संसार के सभी मतों में एक सर्व-साधारण भाव दिखाई देता है, चाहे वे उसे जानते हों या न जानते हों। इस सर्व-साधारण भाव को मैं 'मनुष्य का देवत्व' या ईश्वरत्व कहना चाहता हूँ। संसार में ऐसा कोई मत नहीं है, यथार्थ धर्म नाम के योग्य ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो किसी-न-किसी तरह, चाहे पौराणिक या रूपक भाव से हो अथवा दर्शनों की परिमार्जित स्पष्ट भाषा में, यह भाव प्रकाशित न करता हो कि जीवात्मा चाहे जो हो, ईश्वर के साथ उसका चाहे जो सम्बन्ध हो, पर स्वरूपतः वह शुद्धस्वभाव एवं पूर्ण है। पूर्णानन्द और ऐश्वर्य ही उसका स्वभाव है, दुःख या अनैश्वर्य नहीं। यह दुःख किसी तरह उसमें आ गया है। अमार्जित मतों में इस अशुभ के व्यक्तित्व (Personified Evil) की कल्पना कर, शैतान या अहिरमान को इन अशुभों का सृष्टिकर्ता कहकर अशुभों के अस्तित्व की व्याख्या की जाती है। दूसरे मतों के अनुसार एक ही आधार में ईश्वर और शैतान दोनों का भाव आरोपित किया जाता है, और किसी प्रकार की युक्ति दिए बिना ही वे कहते हैं कि वह चाहे जिसे सुखी या दुःखी करता है। फिर, कुछ अधिक चिन्तन-शील व्यक्ति मायावाद आदि के द्वारा अशुभ की व्याख्या करने की चेष्टा करते हैं। किन्तु एक बात सभी मतों में अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रकाशित है और वह है हमारा प्रस्तावित विषय—आत्मा का मुक्त-स्वभाव। ये सारे दार्शनिक मत और

प्रणालियाँ केवल मन के व्यायाम और बुद्धि की कसरत हैं। एक महान् उज्ज्वल धारणा है, जो मुझे प्रत्येक देश और प्रत्येक धर्म के कुसंस्कारों के बीच स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ रही है, और वह यह है कि मनुष्य देव-स्वभाव है—हम ब्रह्म-स्वरूप हैं।

वेदान्त कहता है, अन्य जो कुछ है, वह उस ब्रह्म की उपाधि मात्र है। कुछ मानो उसके ऊपर आरोपित हुआ है, पर उसके देव-स्वभाव का कभी भी नाश नहीं होता। वह जिस प्रकार अतिशय साधु-प्रकृति व्यक्ति में है, वैसे ही एक अत्यन्त पतित व्यक्ति में भी है। इस देव-स्वभाव को जगाना पड़ेगा, तभी उसका कार्य होगा। हमें उसका आह्वान करना होगा, तभी वह प्रकाशित होगा। पहले के लोग जानते थे कि चकमक पत्थर में आग रहती है, पर उस आग को बाहर निकालने के लिए घर्षण आवश्यक था। इसी प्रकार यह स्वाभाविक मुक्तभाव और पवित्रता रूपी अग्नि प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है, आत्मा का गुण नहीं, क्योंकि गुण तो उपार्जित किया जा सकता है, इसलिए वह नष्ट भी हो सकता है। मुक्ति या मुक्त-स्वभाव कहने से जो समझा जाता है, आत्मा कहने से भी उसी का बोध होता है। इसी प्रकार, सत्ता या अस्तित्व एवं ज्ञान भी आत्मा का स्वरूप है—आत्मा के साथ अभिन्न है। यह सत्-चित्-आनन्द आत्मा का स्वभाव है, आत्मा का जन्मसिद्ध अधिकार है। हम जो इन सब अभिव्यक्तियों को देखते हैं, वे आत्मा के विभिन्न रूप मात्र हैं—यह कहीं पर अपने को मृदु भाव से और कहीं पर उज्ज्वल भाव से प्रकाशित करती है। यहाँ तक कि, मृत्यु अथवा विनाश भी उस सत्ता का एक रूप है। जन्म-मृत्यु, क्षय-वृद्धि, उन्नति-अवनति,

सब कुछ उस एक अखण्ड सत्ता की ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। इसी प्रकार, हमारा साधारण ज्ञान भी, वह चाहे विद्या अथवा अविद्या किसी भी रूप से प्रकाशित क्यों न हो, उसी चित् का, उसी ज्ञानस्वरूप का प्रकाश है; विभिन्नता प्रकारगत नहीं है, अपितु परिमाणगत है। नीचे धरती पर रेंगनेवाला क्षुद्र कीड़ा और स्वर्ग का श्रेष्ठतम देवता इन दोनों के ज्ञान का भेद प्रकारगत नहीं, परिमाणगत है। इसी कारण वेदान्ती मनीषी निर्भय होकर कहते हैं कि हमारे जीवन के सारे सुखोपभोग, यहाँ तक कि, अति घृणित आनन्द भी उसी आनन्दस्वरूप आत्मा का प्रकाश है।

यही वेदान्त का सर्वप्रधान भाव ज्ञात होता है, और जैसा मैंने पहले कहा है, मुझे मालूम होता है कि सभी धर्मों का यही मत है। मैं ऐसा कोई धर्म नहीं जानता, जिसके मूल में यह मत न हो। सभी धर्मों में यह सार्वभौमिक भाव विद्यमान है। उदाहरण के तौर पर बाइबिल ही को ले लीजिए। उसमें यह रूपक है कि आदि-मानव आदम अत्यन्त पवित्र स्वभाव का था, अन्त में उसके असत्कार्यों से उसकी पवित्रता नष्ट हो गई। इस रूपक से यह प्रमाणित होता है कि इस ग्रन्थ के लेखक विश्वास करते थे कि आदिम मानव पूर्णस्वभाव का था। हमें जो तरह-तरह की दुर्बलताएँ और अपवित्रता दिखाई देती है, वह सब उस पूर्णस्वभाव पर आरोपित आवरण या उपाधि मात्र है। फिर, ईसाई धर्म का परवर्ती इतिहास यह भी बतलाता है कि उसके अनुयायी उस पूर्व-अवस्था की पुनः-प्राप्ति की केवल सम्भावना में ही नहीं, वरन् उसकी निश्चितता में भी विश्वास करते हैं। यही समस्त बाइबिल का—प्राचीन तथा नवीन टेस्टामेण्ट का—इतिहास है।

मुसलमानों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। वे भी आदम तथा उसकी जन्मजात पवित्रता पर विश्वास करते हैं। और उनकी यह धारणा है कि हजरत मुहम्मद के आगमन से उस लुप्त पवित्रता के पुनरुद्धार का उपाय प्राप्त हो गया है।

बौद्धों के विषय में भी यही है। वे भी निर्वाण नामक अवस्थाविशेष में विश्वास रखते हैं। यह अवस्था द्वैत-जगत् से अतीत की अवस्था है। वेदान्ती लोग जिसे ब्रह्म कहते हैं, वह निर्वाण-अवस्था भी ठीक वही है। और बौद्ध-धर्म के सारे उपदेशों का यही मर्म है कि उस विनष्ट निर्वाण-अवस्था को फिर से प्राप्त करना होगा।

इस तरह हम देखते हैं कि सभी धर्मों में यह एक तत्त्व पाया जाता है कि जो तुम्हारा नहीं है, उसे तुम कभी नहीं पा सकते। इस विश्व-ब्रह्माण्ड में तुम किसी के भी निकट ऋणी नहीं हो। तुम्हें अपने जन्मसिद्ध अधिकार का ही दावा करना है। यह भाव एक प्रसिद्ध वेदान्ताचार्य ने अपने किसी ग्रन्थ के नाम में ही बड़े सुन्दर भाव से प्रकट किया है। ग्रन्थ का नाम है 'स्वाराज्यसिद्धि' अर्थात् हमारे अपने खोए हुए राज्य की पुनः-प्राप्ति। वह राज्य हमारा है, हमने उसे खो दिया है, फिर से हमें उसे प्राप्त करना होगा। पर मायावादी कहते हैं—राज्य का यह खोना केवल भ्रम था, तुमने कभी उसे खोया नहीं। बस यही अन्तर है।

यद्यपि इस विषय में सभी धर्म-प्रणालियाँ एकमत हैं कि हमारा जो राज्य था, उसे हमने खो दिया है, पर वे उसे फिर से पाने के विभिन्न उपाय बतलाती हैं। कोई कहती है—कुछ विशिष्ट क्रिया-कलाप एवं प्रतिमा आदि की पूजा-अर्चना करने से और

स्वयं कुछ विशेष नियमानुसार जीवन यापन करने से वह राज्य मिल सकता है। अन्य कोई कहती है—यदि तुम प्रकृति से अतीत पुरुष के सम्मुख अपने को नत कर रोते-रोते उससे क्षमा चाहो, तो तुम पुनः उस राज्य को प्राप्त कर लोगे। दूसरी कोई कहती है—यदि तुम इस पुरुष से पूरे हृदय से प्रेम कर सको, तो तुम फिर से इस राज्य को प्राप्त कर लोगे। उपनिषदों में ये सभी उपदेश पाए जाते हैं। क्रमशः हम यह देखेंगे। किन्तु अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ उपदेश तो यह है कि तुम्हें रोने की कोई आवश्यकता नहीं। तुम्हें इन सब क्रिया-कलापों और बाह्य अनुष्ठानों की किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं। क्या-क्या करने से राज्य की पुनः प्राप्ति होगी, इस सोच विचार की तुम्हें कोई जरूरत नहीं, क्योंकि तुमने राज्य कभी खोया ही नहीं। जिसे तुमने कभी खोया नहीं, उसे पाने के लिए इस प्रकार की चेष्टा की आवश्यकता ही क्या? तुम स्वभावतः मुक्त हो, तुम स्वभावतः शुद्धस्वभाव हो। यदि तुम अपने को मुक्त समझ सको, तो तुम इसी मुहूर्त मुक्त हो जाओगे, और यदि तुम अपने को बद्ध समझो, तो तुम बद्ध ही रहोगे। यह बड़ी निर्भीक उक्ति है, और जैसा मैंने आपसे पहले कहा ही है कि मुझे आपसे बड़ी निर्भीक वाणी कहनी होगी। वह अभी आपको शायद भयभीत कर दे, पर आप जब इस पर चिन्तन करेंगे और अपने हृदय में इसे अनुभव करेंगे, तब आप देखेंगे कि मेरी बात सत्य है। कारण, यदि मुक्त-भाव आपका स्वभाव-सिद्ध न हो, तब तो किसी भी प्रकार आप मुक्त न हो सकेंगे। यदि आप मुक्त थे और इस समय किसी कारण से उस मुक्त-स्वभाव को खोकर बद्ध हो गए हैं, तो इससे प्रमाणित होता है कि आप पहले भी मुक्त नहीं थे। यदि

मुक्त थे, तो किसने आपको बद्ध किया? जो स्वतन्त्र है, वह कभी भी परतन्त्र नहीं हो सकता; और यदि हो सकता है, तो फिर वह कभी भी स्वतन्त्र नहीं था—वह स्वातन्त्र्य-प्रतीति भ्रम मात्र थी।

अब तुम इन दो पक्षों में से कौनसा पक्ष ग्रहण करोगे? दोनों पक्षों की युक्ति-परम्परा को स्पष्ट करने पर हमें निम्नलिखित बातें दिखाई देती हैं। यदि कहो कि आत्मा स्वभावतः शुद्धस्वरूप एवं मुक्त है, तो अवश्यमेव यह सिद्धान्त स्थिर करना होगा कि जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो उसे बाँध सके। किन्तु जगत् में यदि इस प्रकार की कोई वस्तु हो, जिससे उसे बद्ध किया जा सके, तो फिर निश्चय ही आत्मा मुक्त-स्वभाव नहीं थी, और तुम जो उसे मुक्त-स्वभाव कह रहे हो, वह तुम्हारा भ्रम मात्र है। अतः यदि हमारी मुक्ति सम्भव हो, तो फिर यह स्वीकार करना ही होगा कि आत्मा स्वभाव से ही मुक्त है, इसके विपरीत हो ही नहीं सकती। मुक्त-स्वभाव का अर्थ है—किसी बाह्य वस्तु के अधीन न होना, अर्थात् उस पर किसी दूसरी वस्तु का कार्य न होना। आत्मा कार्य-कारण-सम्बन्ध से अतीत है, और इसी से आत्मा के सम्बन्ध में हमारी ये उच्च-उच्च धारणाएँ उत्पन्न होती हैं। यदि यह अस्वीकार किया जाय कि आत्मा स्वभावतः मुक्त है अर्थात् बाहर की कोई भी वस्तु उस पर कार्य नहीं कर सकती, तो आत्मा के अमरत्व की कोई धारणा प्रस्थापित नहीं की जा सकती; क्योंकि, मृत्यु हमारे बाहर की किसी वस्तु के द्वारा किया हुआ कार्य है। इससे ज्ञात होता है कि हमारे शरीर पर बाहरी कोई दूसरा पदार्थ कार्य कर सकता है। मान लो, मैंने विष खाया और मेरी मृत्यु हो गई—

तो इससे प्रमाणित होता है कि हमारे शरीर पर विष नामक एक वाहरी पदार्थ कार्य कर सकता है। यदि आत्मा के सम्बन्ध में यह सत्य हो, तो आत्मा भी वद्ध है। पर यदि यह सत्य है कि आत्मा मुक्त-स्वभाव है, तो यह भी स्वभावतः ज्ञात होता है कि बाहरी कोई भी पदार्थ उस पर कार्य नहीं कर सकता। अतः आत्मा कभी मर नहीं सकती। आत्मा का मुक्त-स्वभाव, उसका अमरत्व एवं उसका आनन्द-स्वभाव, सभी इस बात पर निर्भर है कि आत्मा कार्य-कारण-सम्बन्ध अर्थात् इस माया से अतीत है। यदि कहो कि आत्मा का स्वभाव पहले पूर्ण मुक्त था, इस समय वह बद्ध हो गई है, तो इससे यही जाना जाता है कि वस्तुतः वह मुक्त-स्वभाव थी ही नहीं। तुम जो कहते हो कि वह मुक्त-स्वभाव थी, वह असत्य है। पर दूसरी ओर हम देखते हैं कि हम वास्तव में मुक्त-स्वभाव हैं; यह जो हम बद्ध-से प्रतीत होते हैं, यह हमारी केवल भ्रान्ति है। अब इन दो पक्षों में से कौनसा पक्ष लोगे? या तो आत्मा के मुक्त-स्वभाव को भ्रान्ति कहो या फिर उसके बद्ध-भाव को भ्रान्ति कहकर स्वीकार करो। मैं तो निश्चय ही उसके बद्ध-भाव को भ्रान्ति कहूँगा। यही मेरे समुदय भाव और अनुभूति के साथ मेल खाता है। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि मैं स्वभावतः मुक्त हूँ। मैं यह कभी नहीं मान सकता कि यह बद्ध-भाव सत्य है और मेरा मुक्त-भाव मिथ्या।

सभी दर्शनों में किसी-न-किसी रूप से यह विचार चल रहा है, यहाँ तक कि, बिलकुल आधुनिक दर्शनों में भी उसने स्थान पा लिया है। दो दल हैं। एक दल कहता है कि आत्मा नामक कोई वस्तु नहीं है, वह केवल भ्रान्ति है। इस भ्रान्ति का कारण है जड़कणों का वारम्बार स्थान-परिवर्तन, जिससे यह

समवाय, जिसे तुम शरीर, मस्तिष्क आदि नामों से पुकारते हो, उत्पन्न होता है। इन जड़कणों के ही स्पन्दन से, उनकी गति-विशेष और उनके लगातार स्थान-परिवर्तन से यह मुक्त-स्वभाव की धारणा आती है। कुछ बौद्ध सम्प्रदाय भी इसका अनुमोदन करते थे, वे उदाहरण देते थे कि एक जलती मशाल लो, और उसे जोर से गोल-गोल घुमाओ, तो एक वर्तुलाकार प्रकाश दिखाई पड़ेगा। वस्तुतः प्रकाश के इस गोले का कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि यह मशाल प्रत्येक क्षण स्थान-परिवर्तन कर रही है। उसी तरह हम भी छोटे-छोटे परमाणुओं की समष्टि मात्र हैं, उन परमाणुओं के जोर से घूमने से यह 'अहं'-भ्रान्ति उत्पन्न होती है। अतएव एक मत यह हुआ कि शरीर सत्य है, आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। दूसरा दल कहता है कि विचारशक्ति के द्रुत स्पन्दन से जड़-रूप भ्रान्ति की उत्पत्ति होती है, वस्तुतः जड़ का कोई अस्तित्व नहीं है। यह तर्क आज तक चल रहा है— एक दल कहता है, आत्मा भ्रम है और दूसरा जड़ को भ्रम कहता है। तुम कौनसा मत अपनाओगे ?

हम तो निश्चय ही आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार कर जड़ को भ्रमात्मक कहेंगे। युक्ति, दोनों ओर बराबर है। केवल आत्मा के निरपेक्ष अस्तित्व को प्रमाणित करनेवाली युक्ति अपेक्षाकृत प्रबल है; क्योंकि जड़ क्या है यह किसी ने कभी देखा नहीं। हम केवल स्वयं को अनुभव कर सकते हैं। मैंने ऐसा मनुष्य नहीं देखा, जिसने स्वयं के बाहर जाकर जड़ का अनुभव किया हो। अभी तक कोई भी कूदकर अपनी आत्मा के बाहर नहीं जा सका। अतएव आत्मा के पक्ष में युक्ति कुछ दृढ़तर हुई। द्वितीयतः, आत्मवाद जगत् की सुन्दर व्याख्या कर

सकता है, पर जड़वाद नहीं। अतएव जड़वाद के द्वारा जगत् की व्याख्या अयौक्तिक है। पहले आत्मा के स्वाभाविक मुक्त और बद्ध भाव सम्बन्धी जो विचार का प्रसंग उठा था, जड़वाद और आत्मवाद का तर्क उसी का स्थूल रूप है। दर्शनों का सूक्ष्म रूप से विश्लेषण करने पर आप देखेंगे कि उनमे भी इन दो मतों का संघर्ष चला है। नितान्त आधुनिक दर्शनों में भी हम एक अन्य रूप में उसी प्राचीन विचार को देखते हैं। एक दल कहता है कि मनुष्य का तथाकथित पवित्र और मुक्त-स्वभाव भ्रम है, और दूसरा बद्ध-भाव को भ्रमात्मक मानता है। यहाँ भी हम दूसरे दल से सहमत हैं--हमारा बद्ध-भाव ही भ्रमात्मक है।

अतएव वेदान्त का सिद्धान्त यह है कि हम बद्ध नहीं वरन् नित्यमुक्त हैं। यही नहीं, बल्कि अपने को बद्ध सोचना भी अनिष्टकर है; वह तो भ्रम है--अपने आपको मोह से अभिभूत कर लेना है। ज्योंही तुमने कहा कि मैं बद्ध हूँ, दुर्बल हूँ, असहाय हूँ, त्योंही तुम्हारा दुर्भाग्य आरम्भ हो गया, तुमने अपने पैरों में और एक बेड़ी डाल ली। इसलिए ऐसी बात कभी न कहना और न इस प्रकार कभी सोचना ही। मैंने एक व्यक्ति की बात सुनी है; वे वन में रहते थे और उनके अधरों पर दिन-रात 'शिवोऽहं, शिवोऽहं' की वाणी रहा करती थी। एक दिन एक बाघ ने उन पर आक्रमण किया और उन्हें पकड़कर ले चला। नदी के दूसरे तट पर कुछ लोग यह दृश्य देख रहे थे और उनके मुख से लगातार निकलती हुई 'शिवोऽहं, शिवोऽहं' की ध्वनि सुन रहे थे। जब तक उनमें बोलने की शक्ति रही, बाघ के मुँह में पड़कर भी वे 'शिवोऽहं, शिवोऽहं' कहते रहे। इसी प्रकार और भी अनेक व्यक्तियों की बात सुनी गई है। कुछ ऐसे

व्यथित हो गए, जिनके शत्रुओं ने उनके टुकड़े-टुकड़े कर डाले, पर वे उन्हें आशीर्वाद ही देते रहे। "सोऽहं सोऽहं, मैं ही वह हूँ, मैं ही वह हूँ, और तुम भी वही हो। मैं पूर्णस्वरूप हूँ, और मेरे शत्रु भी पूर्णस्वरूप हैं। तुम भी वही हो, और मैं भी वही हूँ।" यही वीर की शान है।

फिर भी, द्वैतवादियों के धर्म में अनेक उत्तम-उत्तम भाव हैं। प्रकृति से पृथक् हमारे एक उपास्य और प्रेमास्पद ईश्वर हैं—ऐसा सगुण ईश्वरवाद अपूर्व है। इससे प्राणों में शीतलता आती है, पर वेदान्त कहता है, प्राणों की यह शीतलता अफीम खानेवालों के नशे के समान अस्वाभाविक है। इससे दुर्बलता आती है, और आज संसार में बल-संचार की जितनी आवश्यकता है, उतनी और कभी नहीं थी। वेदान्त कहता है—दुर्बलता ही संसार में समस्त दुःख का कारण है, इसी से सारे दुःख-कष्ट पैदा होते हैं। हम दुर्बल हैं, इसी लिए इतना दुःख भोगते हैं। हम दुर्बलता के कारण ही चोरी-डकैती, झूठ-ठगी तथा इसी प्रकार के अनेकानेक दुष्कर्म करते हैं। दुर्बल होने के कारण ही हम मृत्यु के मुख में गिरते हैं। जहाँ हमें दुर्बल बनानेवाला कोई नहीं है, वहाँ न मृत्यु है, न दुःख। हम लोग केवल भ्रान्तिवश दुःख भोगते हैं। इस भ्रान्ति को दूर कर दो, सभी दुःख चले जायँगे। यह तो बहुत सरल बात है। इन सब दार्शनिक विचारों और कठोर मानसिक व्यायाम में से होकर अब हम संसार के सबसे सहज और सरल आध्यात्मिक सिद्धान्त पर आए।

अद्वैत-वेदान्त ही आध्यात्मिक सत्य का सबसे सहज और सरल रूप है। भारत और अन्य सभी स्थानों में इस सम्बन्ध में एक बड़ा भ्रम उत्पन्न हुआ था। वेदान्त के आचार्यों ने स्थिर

किया था कि यह शिक्षा सार्वजनीन नहीं बनाई जा सकती, क्योंकि वे जिन सिद्धान्तों पर पहुँचे थे, उन्हें लक्ष्य न कर उन्होंने उस प्रणाली पर ही अधिक ध्यान दिया, जिसके द्वारा वे इन सब सिद्धान्तों तक पहुँचे थे। और वह प्रणाली सचमुच बड़ी जटिल थी। उन भयानक दार्शनिक एवं नैयायिक प्रक्रियाओं को देखकर उन्हें भय होता था। वे सर्वदा सोचते थे कि इन सबकी शिक्षा प्रतिदिन के जीवन में सम्भव नहीं है। उनका यह भी डर था कि इस प्रकार के दर्शन की आड़ में लोग बड़े अधर्मपरायण हो जायँगे।

पर मैं तो यह बिलकुल विश्वास नहीं करता कि संसार में अद्वैत-तत्त्व के प्रचार से दुर्नीति या दुर्बलता बढ़ेगी। बल्कि मुझे इस बात पर अधिक विश्वास है कि दुर्नीति और दुर्बलता के निवारण की यही एकमात्र औषधि है। यही यदि सत्य है, तो लोगों को गँदला पानी क्यों पीने दिया जाय, जब पास ही में अमृत-स्रोत बह रहा है? यदि यही सत्य है कि सभी शुद्धस्वरूप हैं, तो इसी क्षण सारे संसार को इसकी शिक्षा क्यों नहीं देते? साधु-असाधु, स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका, छोटे-बड़े, सिंहासनासीन राजा और रास्ते में झाड़ू लगानेवाले भंगी— सभी को डंके की चोट पर यह शिक्षा क्यों नहीं देते?

अब, यह एक बहुत कठिन कार्य मालूम पड़ता है, बहुतों के लिए तो यह बड़ा विस्मयजनक है, पर यह सब कुसंस्कार के ही कारण है, इसका और दूसरा कोई कारण नहीं। सभी प्रकार के कुखाद्य और दुष्पाच्य अन्न खाकर अथवा निरन्तर उपवास करके हमने अपने को सुखाद्य के अनुपयुक्त बना रखा है। हमने बचपन से ही दुर्बलता की बातें सुनी हैं। यह ठीक भूत-भय के समान है। लोग कहते हैं कि मैं भूत-फूत नहीं मानता, पर ऐसे

बहुत कम लोग मिलेंगे, जिनका शरीर अँधेरे में थोड़ा सिहर न उठे। यह केवल कुसंस्कार है। इसी प्रकार सभी धार्मिक कुसंस्कारों के सम्बन्ध में है। लोग कहा करते हैं कि हम इसे नहीं मानते, उसे नहीं मानते, इत्यादि—पर समय आने पर, अवस्थाविशेष में अनेक व्यक्ति मन-ही-मन कहने लगते हैं, 'यदि कोई देवता या ईश्वर हो, तो मेरी रक्षा करे!' इस देश (इंगलैण्ड) में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जिनसे मैं यदि कहूँ कि 'शैतान' नामक कुछ भी नहीं है, तो वे समझेंगे कि धर्म का सत्यानाश हो गया! मुझसे कई लोगों ने कहा है, 'शैतान के न रहने से धर्म किस तरह कायम रह सकता है?' हम पर अंकुश लगानेवाला कोई न रहे, तो धर्म कैसा? बिना किसी के द्वारा शासित हुए हम कैसे रह सकते हैं? सच बात तो यह है कि हम इसके अभ्यस्त हो गए हैं। हमें जब तक यह अनुभव नहीं होता कि कोई हम पर रोज हुकूमत चला रहा है, हमें चैन नहीं पड़ता। वही अन्ध-विश्वास है! वही कुसंस्कार है! पर इस समय यह कितना भी भीषण क्यों न प्रतीत होता हो, एक समय ऐसा अवश्य आयगा, जब हममें से प्रत्येक अतीत की ओर नजर डालेगा और उन कुसंस्कारों पर हँसेगा, जो शुद्ध और नित्य आत्मा को ढाँके हुए थे, एवं मुदित-मन से, सत्यता और दृढ़ता के साथ वारम्वार कहेगा, "मैं 'वही' हूँ, चिरकाल 'वही' था और सदैव 'वही' रहूँगा।" यह अद्वैत-भाव हमें वेदान्त से मिलेगा और यही एक भाव है, जो रहने के योग्य है। शास्त्र-ग्रन्थ चाहे तो कल ही नष्ट हो जा सकते हैं, यह तत्त्व सबसे पहले चाहे हिब्रुओं के मस्तिष्क में उदय हुआ हो, चाहे उत्तर-मेरुवासियों के मस्तिष्क में, पर इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। कारण, यही सत्य है और जो सत्य है

वह सनातन है, तथा सत्य ही यह शिक्षा देता है कि वह किसी व्यक्तिविशेष की सम्पत्ति नहीं है। मनुष्य, पशु, देवता, सभी इस सत्य के अधिकारी हैं। उन्हें यही सिखाओ। जीवन को दुःखमय बनाने की क्या आवश्यकता? लोगों को अनेक प्रकार के कुसंस्कारों में क्यों पड़ने दो? केवल यहीं (इंगलैण्ड में) नहीं, वरन् इस तत्त्व की जन्मभूमि में भी यदि तुम इस तत्त्व का उपदेश करो, तो वहाँ के लोग भी भयभीत हो उठेंगे। कहेंगे— 'ये बातें तो संन्यासियों के लिए हैं, जो संसार को त्यागकर जंगल में रहते हैं। पर हम लोग तो सामान्य गृहस्थ हैं; धर्म-कार्य के लिए हमें किसी-न-किसी प्रकार के भय या क्रियाकाण्ड की आवश्यकता रहती ही है,' इत्यादि।

द्वैतवाद ने संसार पर बहुत दिनों तक शासन किया है, और यह उसी का फल है। तो आज हम एक नई परीक्षा क्यों न करें? सम्भव है, सभी मनुष्यों को इस अद्वैत-तत्त्व की धारणा करने में लाखों वर्ष लग जायँ, पर इसी समय से क्यों न आरम्भ कर दें? यदि हम अपने जीवन में बीस मनुष्यों को भी यह बात बतला सके, तो समझो कि हमने बहुत बड़ा काम किया।

इसके विरुद्ध जो एक बात उठाई जाती है, वह यह है, "'मैं शुद्ध हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ', इस प्रकार मौखिक कहना तो ठीक है, पर जीवन में तो मैं इसे सर्वदा नहीं दिखला सकता।" हम इस बात को स्वीकार करते हैं। आदर्श सदैव अत्यन्त कठिन होता है। प्रत्येक बालक आकाश को अपने सिर से बहुत ऊँचाई पर देखता है, पर इस कारण क्या हम आकाश की ओर देखने की चेष्टा भी न करें? कुसंस्कार की ओर जाने से ही क्या सब अच्छा हो जायगा? यदि हम अमृत न पा सकें, तो क्या विष-पान

करने से ही कल्याण होगा ? हम यदि अभी सत्य का अनुभव न कर सकते हों, तो क्या अन्धकार, दुर्बलता और कुसंस्कार की ओर जाने से ही कल्याण होगा ?

द्वैतवाद के कई प्रकारों के सम्बन्ध में मुझे कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु जो कोई उपदेश दुर्बलता की शिक्षा देता है, उस पर मुझे विशेष आपत्ति है। स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका जिस समय दैहिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक शिक्षा पाते हैं, उस समय में उनसे यही एक प्रश्न करता हूँ—" क्या तुम्हें इससे बल प्राप्त होता है ? " क्योंकि मैं जानता हूँ, एकमात्र सत्य ही बल प्रदान करता है। मैं जानता हूँ, एकमात्र सत्य ही प्राणप्रद है। सत्य की ओर गए बिना हम अन्य किसी भी उपाय से वीर्यवान नहीं हो सकते, और वीर्यवान हुए बिना हम सत्य के समीप नहीं पहुँच सकते। इसी लिए जो कोई मत, जो कोई शिक्षाप्रणाली मन और मस्तिष्क को दुर्बल कर दे और मनुष्य को कुसंस्कार से भर दे, जिससे वह अन्धकार में टटोलता रहे, खयाली पुलाव पकाता रहे और सब प्रकार की अजीबोगरीब व अन्धविश्वासपूर्ण बातों की तह छानता रहे, उस मत या प्रणाली को मैं पसन्द नहीं करता, क्योंकि मनुष्य पर उसका परिणाम बड़ा भयानक होता है। ऐसी प्रणालियों से कभी कोई उपकार नहीं होता; प्रत्युत वे तो मन में जड़ता ला देती हैं, उसे दुर्बल बना देती हैं—इतना दुर्बल कि कालान्तर में मन सत्य को ग्रहण करने और उसके अनुसार जीवन-गठन करने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है। अतः बल ही एक आवश्यक बात है। बल ही भव-रोग की दवा है। धनिकों द्वारा रौंदे जानेवाले निर्धनों के लिए बल ही एकमात्र दवा है। विद्वानों द्वारा दबाए जानेवाले अशिक्षितों के लिए बल

ही एकमात्र दवा है, और अन्य पापियों द्वारा सताए जानेवाले पापियों के लिए भी वही एकमात्र दवा है। और अद्वैतवाद हमें जैसा बल देता है, वैसा और कोई नहीं देता। अद्वैतवाद हमें जिस प्रकार नीति-परायण बनाता है, वैसा और कोई भी नहीं बनाता। जब सारा दायित्व हमारे अपने कन्धों पर डाल दिया जाता है, उस समय हम जितनी अच्छी तरह से कार्य करते हैं, उतनी और किसी भी अवस्था में नहीं करते। मैं आप लोगों से पूछता हूँ, यदि एक नन्हें बच्चे को आपके हाथ सौंप दूँ, तो आप उसके प्रति कैसा व्यवहार करेंगे? उस क्षण के लिए आपका सारा जीवन बदल जायगा। आपका स्वभाव कैसा भी क्यों न हो, कम-से-कम उन क्षणों के लिए आप सम्पूर्णतः निःस्वार्थी बन जायँगे। यदि आप पर उत्तरदायित्व डाल दिया जाय, तो आपकी सारी पाप-प्रवृत्तियाँ दूर हो जायँगी, आपके चरित्र में परिवर्तन हो जायगा। इसी प्रकार, जब सारे उत्तरदायित्व का बोझ हम पर डाल दिया जाता है, तब हम अपने सर्वोच्च भाव में आरोहण करते हैं। जब हमारे सारे दोष और किसी के मत्थे नहीं मढ़े जाते, जब शैतान या भगवान किसी को भी हम अपने दोषों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराते, तभी हम सर्वोच्च भाव में पहुँचते हैं। अपने भाग्य के लिए मैं स्वयं उत्तरदायी हूँ। मैं स्वयं अपने शुभाशुभ दोनों का कर्ता हूँ। पर मेरा स्वरूप शुद्ध और आनन्द मात्र है।

न मृत्युर्न शंका न मे जातिभेदः
पिता नैव मे नैव माता न जन्म।
न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्य-
श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखम्
न मन्त्रं न तीर्थं न वेदानं यज्ञाः।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥

वेदान्त कहता है कि हमें इसी स्तव का अवलम्बन करना चाहिए। उस अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचने का यही एकमात्र उपाय है :— अपने से और सबसे यही कहना कि हम ब्रह्मस्वरूप हैं। हम ज्यों-ज्यों इसकी आवृत्ति करते हैं, त्यों-त्यों हममें बल आता जाता है। 'शिवोऽहं' रूपी यह अभय वाणी क्रमशः अधिकाधिक गम्भीर हो हमारे हृदय में, हमारे सभी भावों में भिदती जाती है और अन्त में हमारी नस-नस में, हमारे शरीर के प्रत्येक भाग में समा जाती है। ज्ञान-सूर्य की किरणें जितनी उज्ज्वल होने लगती हैं, मोह उतना ही दूर भागता जाता है, अज्ञानराशि ध्वंस होती जाती है, और अन्त में एक समय आता है, जब सारा अज्ञान बिलकुल लुप्त हो जाता है और केवल ज्ञान-सूर्य ही अवशिष्ट रह जाता है।

हमारे अन्य प्रकाशन

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखम्
न मन्त्रं न तीर्थं न वेदाः न यज्ञाः।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥

वेदान्त कहता है कि हमें इसी स्तव का अवलम्बन क
चाहिए। उस अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचने का यही एकमात्र उ
है :— अपने से और सबसे यही कहना कि हम ब्रह्मस्वरूप
हम ज्यों-ज्यों इसकी आवृत्ति करते हैं, त्यों-त्यों हममें बल अ
जाता है। 'शिवोऽहं' रूपी यह अभय वाणी क्रमशः अधिकाधि
गम्भीर हो हमारे हृदय में, हमारे सभी भावों में भिदती जाती
और अन्त में हमारी नस-नस में, हमारे शरीर के प्रत्येक भा
में समा जाती है। ज्ञान-सूर्य की किरणें जितनी उज्ज्वल हो
लगती हैं, मोह उतना ही दूर भागता जाता है, अज्ञानराशि ध्वं
होती जाती है, और अन्त में एक समय आता है, जब सारा
अज्ञान बिलकुल लुप्त हो जाता है और केवल ज्ञान-सूर्य ही
अवशिष्ट रह जाता है।

हमारे अन्य प्रकाशन

१-३. श्रीरामकृष्णवचनामृत — तीन भागों में—अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', प्रथम भाग (तृतीय संस्करण) — मूल्य ६); द्वितीय भाग (द्वि. सं.)—मूल्य ६); तृतीय भाग (द्वि.सं.)—मूल्य ७)

४-५. श्रीरामकृष्णलीलामृत — (विस्तृत जीवनी) — (तृतीय संस्करण) — दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ५)

६. विवेकानन्द-चरित — (विस्तृत जीवनी) — (द्वितीय संस्करण) — सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६)

७-८. धर्म-प्रसंग में स्वामी शिवानन्द — दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य २॥।)

९. परमार्थ-प्रसंग — स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई) कपड़े की जिल्द, मूल्य ३॥।)
कार्डबोर्ड की जिल्द, " ३।)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

१०. विवेकानन्दजी के संग में (वार्तालाप) — शिष्य शरच्चन्द्र, द्वि. सं., ५।)

११. राजयोग (पातंजल-योगसूत्र, सूत्रार्थ और व्याख्या सहित) द्वि. सं., २॥)

१२. भारत में विवेकानन्द—भारतीय व्याख्यान—(द्वि.सं.) ५)
१३. पत्रावली (प्रथम भाग) २=)
१४. पत्रावली (द्वितीय भाग) २=)
१५. देववाणी २=)
१६. धर्मविज्ञान (द्वि. सं.) १॥=)
१७. हिन्दू धर्म (द्वि. सं.) १॥)
१८. कर्मयोग (तृ. सं.) १।=)
१९. प्रेमयोग (तृ. सं.) १।=)
२०. भक्तियोग (च. सं.) १।=)
२१. स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप १।=)
२२. आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग (च. सं.) १)
२३. परिव्राजक (च. सं.) १)
२४. प्राच्य और पाश्चात्य (च. सं.) १)
२५. महापुरुषों की जीवनगाथायें (च. सं.) १)
२६. विविध प्रसंग १=)

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखम्
न मन्त्रं न तीर्थं न वेदाः न यज्ञाः।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥

वेदान्त कहता है कि हमें इसी स्तव का अवलम्बन
चाहिए। उस अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचने का यही एकमात्र
है :— अपने से और सबसे यही कहना कि हम ब्रह्मस्वरू
हम ज्यों-ज्यों इसकी आवृत्ति करते हैं, त्यों-त्यों हममें बल
जाता है। 'शिवोऽहं' रूपी यह अभय वाणी क्रमशः अधिक
गम्भीर हो हमारे हृदय में, हमारे सभी भावों में भिदती जा
और अन्त में हमारी नस-नस में, हमारे शरीर के प्रत्येक
में समा जाती है। ज्ञान-सूर्य की किरणें जितनी उज्ज्वल
लगती हैं, मोह उतना ही दूर भागता जाता है, अज्ञानराशि
होती जाती है, और अन्त में एक समय आता है, जब
अज्ञान बिलकुल लुप्त हो जाता है और केवल ज्ञान-सूर्य
अवशिष्ट रह जाता है।

हमारे अन्य प्रकाशन

१-३. श्रीरामकृष्णवचनामृत—तीन भागों में—अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', प्रथम भाग (तृतीय संस्करण)—मूल्य ६); द्वितीय भाग (द्वि.सं.)—मूल्य ६); तृतीय भाग (द्वि.सं.)—मूल्य ७)

४-५. श्रीरामकृष्णलीलामृत—(विस्तृत जीवनी)—(तृतीय संस्करण)—दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ५)

६. विवेकानन्द-चरित—(विस्तृत जीवनी)—(द्वितीय संस्करण)—सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६)

७-८. धर्म-प्रसंग में स्वामी शिवानन्द—दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य २॥।)

९. परमार्थ-प्रसंग—स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई) कपड़े की जिल्द, मूल्य ३॥।)
काडँबोर्ड की जिल्द, " ३।)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

१०. विवेकानन्दजी के संग में (वार्तालाप)—शिष्य शरच्चन्द्र, द्वि. सं., ५।)

११. राजयोग (पातंजल-योगसूत्र, सूत्रार्थ और व्याख्या सहित) द्वि. सं., २॥)

१२. भारत में विवेकानन्द—भारतीय व्याख्यान—(द्वि.सं.) ५)
१३. पत्रावली (प्रथम भाग) २=)
१४. पत्रावली (द्वितीय भाग) २=)
१५. देववाणी २=)
१६. धर्मविज्ञान (द्वि.सं.) १॥=)
१७. हिन्दू धर्म (द्वि. सं.) १॥)
१८. कर्मयोग (तृ. सं.) १।=)
१९. प्रेमयोग (सं.) १।=)
२०. [illegible] १।=)
२१. स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप १।=)
२२. आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग (च. सं.) १।)
२३. परिव्राजक (च. सं.) १।)
२४. प्राच्य और पाश्चात्य (च. सं.) १।)
२५. महापुरुषों की जीवनगाथायें (च. सं.) १।)
२६. विविध प्रसंग १=)

२७. व्यावहारिक जीवन में वेदान्त ।=)
२८. चिन्तनीय बातें १)
२९. धर्मरहस्य (द्वि. सं.) १)
३०. जाति, संस्कृति और समाजवाद १)
३१. स्वाधीन भारत ! जय हो ! (द्वि. सं.) १)
३२. भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ (द्वि. सं.) ।।।=)
३३. भारतीय नारी (तृ. सं.) ।।।)
३४. कवितावली (द्वि. सं.) ।।=)
३५. शिक्षा (द्वि. सं.) ।।=)
३६. शिकागो-वक्तृता (प.सं.) ।।=)
३७. हिन्दू धर्म के पक्ष में (द्वि. सं.) ।।=)
३८. मेरे गुरुदेव (पं. सं.) ।।=)
३९. शक्तिदायी विचार (तृ. सं.) ।।=)
४०. मेरी समरनीति (द्वि सं.) ।।=)
४१. विवेकानन्दजी के उद्गार ।।=)
४२. हमारा भारत ।।)
४३. वर्तमान भारत (च.सं.) ।।)
४४. मेरा जीवन तथा ध्येय (द्वि. सं.) ।।)
४५. पवहारी बाबा (द्वि.सं.) ।।)
४६. मरणोत्तर जीवन (द्वि. सं.) ।।)
४७. सरल राजयोग ।।)
४८. मन की शक्तियाँ तथा जीवन-गठन की साधनाएँ (द्वि. सं.) ।
४९. ईशदूत ईसा ।
५०. विवेकानन्दजी की कथायें (द्वि. सं.) १

---

५१. श्रीरामकृष्ण-उपदेश (द्वि. सं.) ।।।
५२. वेदान्त—सिद्धान्त और व्यवहार—स्वामी सारदानन्द, ।=)
५३. गीतातत्त्व—स्वामी सारदानन्द, २।=)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर—१, म. प्र.

श्रीरामकृष्णवचनामृत

(तीन भागों में)

संसार की प्रायः सभी भाषाओं में प्रकाशित

श्री 'म'-संकलित, अनुवादक—पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सचित्र, सजिल्द, जैकेट सहित,

प्रथम भाग (तृतीय संस्करण), मूल्य ६);
द्वितीय भाग (द्वितीय संस्करण), मूल्य ६);
तृतीय भाग (द्वितीय संस्करण), मूल्य ७।।)

'योग' पर अन्य ग्रन्थ

स्वामी विवेकानन्द कृत

कर्मयोग	१।=)	भक्तियोग	१।=)
प्रेमयोग	१।=)	सरल राजयोग	।।)

राजयोग—आकर्षक गेट अप, पृ. सं. २८८+१२, मू. २।।)

"इसमें 'राजयोग' पर स्वामीजी के संसार-प्रसिद्ध भाषणों के साथ 'पातंजल-योगसूत्र', सूत्रों के अर्थ एवं उन पर स्वामीजी की अधिकृत टीका भी सम्मिलित है।"

विवेकानन्दजी के उद्‌गार

आर्ट पेपर के सचित्र, सुन्दर जैकेट सहित, ।।=)

स्वामी विवेकानन्दजी की स्फूर्तिप्रद एवं उद्‌बोधक सूक्तियों का सुन्दर संकलन। इसमें के कुछ अध्याय ये हैं—'बल', 'सेवा', 'आत्म-संयम', 'त्याग', 'भारत को [illegible] में उपदेश'।